(शची–पौलोमी का अनुवाद)

लेखक

रमणलाल व. देसाई, एम. ए.

अनुवादक

श्यामलाल भै. मेढ़, एम. ए., एलएल. बी.

वोरा एण्ड कंपनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,

३, राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई–२

प्रथम संस्करण
१९५८

●

मूल्य : ६ रु.

●

प्रकाशक :
एम. के. वोरा,
वोरा एण्ड कं०,
पब्लिशर्स (प्राइवेट) लिमिटेड,
३, राउण्ड बिल्डिंग,
कालबादेवी रोड,
बम्बई–२

●

मुद्रक :
मुहम्मद शाकिर
सहयोगी प्रेस,
१४१ मुट्ठीगंज
इलाहाबाद।

प्रस्तावना

शची इन्द्राणी पुलोमा नाम के असुर की पुत्री थी, जिसका विवाह आर्यों के देव, और देवों के भी राजा इन्द्र से हुआ था। इन दोनों के जीवन-वृत्तान्त को जानने की, और उस असुर-कन्या का विवाह देवेश्वर के साथ कैसे हुआ, इस बात के रहस्य को खोज निकालने की अभिलाषा मेरे मन में बहुत दिनों से थी। प्राचीन युग की इस कथा को, उसकी प्राचीनता जहाँ तक हो सके बचाते हुए, वर्तमान युग के पाठकों को प्रिय लगे, ऐसी शैली में उपस्थित करने का यह कार्य सरल नहीं।

इन्द्र के विषय में भिन्न-भिन्न वृत्तान्त मिलते हैं पुराणों में, वैदिक साहित्य के अभ्यासग्रन्थों में और चरित्र-कोषों में! प्रत्येक मन्वन्तर में इन्द्र के विषय की कल्पना और कथा बदली हुई नज़र आती है। एक ही उपन्यास में इन सब कथाओं का समन्वय करना कठिन प्रतीत हुआ। ऐसा करने से इन्द्र और उपन्यास दोनों के साथ अन्याय होता। अतः वृत्र का वध करने वाले इन्द के वृत्तान्त को अलग निकाल कर उसके चारों ओर कथा-प्रसंगों का गुंफन करना शुरू किया। नाट्यकला का महान आश्रयदाता आर्यनृपति नहुष इन्द्र का मित्र था, इस वृत्तान्त का भी यहाँ उपयोग किया गया है। स्वर्ग के देव कौन? आर्यों के भारत में आने के पहिले जो आद्य आर्य-जातियाँ—आर्यों के पूजनीय पूर्वज मेरु और हिमगिरि पर आकर बस गये, वे ही देव कहलाये, और उनके अधीनस्थ देश को स्वर्ग का नाम दिया गया, यह कल्पना इस उपन्यास के कथानक के लिए उपयुक्त मालूम हुई। और देव तथा देवों की कक्षा–वर्ग–श्रेणी के विषय में अति प्राचीन काल से जिन अस्पष्ट संभावनाओं का उल्लेख मिलता है, उनसे भी इस उपन्यास की कल्पना को पुष्टि मिलती है।

असुर पुलोमा और उसकी पुत्री शची के विषय में कथा-वस्तु बहुत कम मिलती है। शची असुर पुलोमा की पुत्री थी; इन्द्र से उसने विवाह किया; नहुष ने शची पर कुदृष्टि डाली, जिसके परिणामस्वरूप अगस्त्य ने शाप देकर उसको सर्प बना दिया; शची ने कुछ वेदसूक्तों की रचना की है; इन बातों के अतिरिक्त और कोई बात न तो पुस्तकों में मिली, और न विद्वानों के पास से। कांगड़ी गुरुकुल के श्री शंकर देव विद्यालंकार तथा बड़ौदा के

संस्कृत विद्यालय के प्रधान प्राध्यापक श्री हरिप्रसाद मेहता ने मुझको शची सूक्तों का सूचन करने की और समझाने की कृपा की।

असुर और आर्यसंस्कृति का जो घर्षण हुआ, उसके अवशेष खोजने पर वेद-पुराणों में अवश्य मिलेंगे। मोहन-जो-दड़ो और हड़पा के सिन्धुतटीय संस्कृति के विषय में जो अनुसंधान हुए हैं, वे इस घर्षण का समर्थन करते हैं, और असुर-आर्य समन्वय की बहुत-सी बातों पर प्रकाश डालते हैं। असीरिया—असुर प्रदेश में श्री मोहन-जो-दड़ो जैसी खड़ी मुद्राएँ मिली हैं, और बोग्ज़े-कोही के लेख में तो इन्द्र, नासत्य, और वरुण का उल्लेख भी दीख पड़ता है। वेद में जिस हरिमुपीय नगर का वर्णन मिलता है, उसको हड़प्पा के साथ सन्नद्ध करने का भी प्रयास हुआ है। और यह बात तो सर्वविदित है कि यद्यपि सुर, असुर और आर्यो के बीच बराबर घर्षण होता रहा, तथापि उनकी संस्कृतियों के समन्वय साधने के प्रयत्न भी समय-समय पर होते ही रहे। वृत्र यद्यपि स्वयं ब्राह्मण का पुत्र था, तथापि वह असुरकुमार की भाँति पालपोस कर बड़ा किया गया, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है।

इस प्रकार अस्पष्ट कहीं-कहीं अग्राह्य, ऐसी हवा में से इन्द्र तथा असुरकन्या शची के लग्न की सर्वमान्य कथा को आधारभूत बना कर यह उपन्यास Romance लिखा गया है। इसको इतिहास नहीं कह सकते। मैंने तो अपनी शक्ति के अनुसार इतिहास में छिपे हुए सुर-असुर-भेद और सुर-असुर-समन्वय द्वारा जो संस्कृति का मिश्रण हुआ उसकी थोड़ी झाँखी वार्ता-रूपेण कराने का नम्र प्रयास किया है। मेरे मन्तव्य सत्य, अर्ध-सत्य अथवा कल्पित, इन सब का आधार मेरा वांचन रहा है, यह बात कथा पढ़नेवालों को अपने-आप मालूम हो जाएगी।

इसी प्रकार वेदकाल ने एक संगमस्थान को समझने की प्रवृत्ति में से 'शची पौलीमी' उपन्यास का सर्जन हो रहा है। मतभेदों के लिए इसमें काफ़ी स्थान है। सहानुभूति अथवा कृपा माँगने से मिलती नहीं, यह भी मुझे मालूम है—वह यदि मिलती है, तो बिना माँगे ही। पाठकों को इस उपन्यास में थोड़ा रस मिले, यही मेरे लिए पर्याप्त होगा।

रमणलाल व. देसाई

अनुवादक की ओर से

अनुवाद के विषय में इतना ही लिखूँगा कि यह मूल लेखक की विशेषताओं को क़ायम रखते हुए किया गया है। स्व. देसाई जी की अपनी एक विशेष शैली रही है, जिसके द्वारा वे साहित्य का सर्जन करते रहे।

देसाई जी को पठन-पाठन का व्यसन-सा था। स्कूल और कॉलिज में अपनी पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त वे और भी पुस्तकें पढ़ा करते थे। नौकरी के समय भी पढ़ने का यह क्रम जारी रहा। निवृत्त होने पर तो वह और भी बढ़ गया। लिखना, पढ़ना और पढ़े हुए लोगों से मिल कर नया ज्ञान प्राप्त करना, यही उनका मुख्य कर्तव्य बन गया। किसी भी विषय को वे जब उठाते, तब उस पर पूरा मनन करते, और उस विषय पर उपलब्ध सभी पुस्तकों का अध्ययन करते। पूरा चिन्तन किये बिना उनकी लेखनी उठती नहीं। इसी चिन्तन, वांचन और ज्ञानोपार्जन ने समय-समय पर उनकी भिन्न-भिन्न कृतियों का रूप लिया।

'शची पौलोमी' का विषय उनको बहुत समय से उद्वेलित कर रहा था। हमारे प्राचीन इतिहास-पुराणों में कही हुई कथाओं के तथ्य को ढूंढ निकालने की प्रवृत्ति उनमें युवावस्था से ही थी। ये कथाएँ अर्थहीन हैं, ऐसा वे कभी मानते न थे। सुर, असुर और आर्यों के विषय ने उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया, और वर्षों तक वे इस विषय पर चिन्तन करते रहे। इस विषय पर मैंने भी उनके साथ काफ़ी विचार-विनिमय किया है। लम्बे समय के मनन के बाद इस विषय ने 'शची-पौलोमी' का रूप ग्रहण किया। इस अभ्यास में व्यक्त किये हुए उनके विचारों से पाठक सहमत हों, या न हों; इतना तो निर्विवाद है कि उन्होंने पाठकों के सामने—विचारकों के सामने एक पुरानी जटिल उलझन को सहजगम्य शैली में सुलझा कर रख दिया। तत्वचिन्तन के मार्ग में यह एक बहुत बड़ा क़दम है।

उनकी बहुत-सी ऐसी कृतियाँ हैं, जो इस बात को भी प्रमाणित करती हैं। स्त्री पुरुष का प्रेम, स्वदेश का प्रेम, ईश्वर के प्रति मनुष्य का प्रेम, ये सब गम्भीर विषय हैं। देसाई जी ने इन्हीं विषयों को लिया, और उनके रहस्य

को लोक-गम्य मधुर शैली में समझाने का प्रयत्न किया। समझाने का साहित्य-माध्यम प्रश्न की गम्भीरता को ढँक नहीं सकता।

अपनी सभी साहित्य-रचना वे साधारण आदमी की समझ में आ सके, ऐसी शैली में करते। साधारण वर्ग Common man के लिए उनको अनहद प्रेम था, और उन्हीं को लक्ष्य में रख कर उन्होंने अपने उपन्यास लिखे। उनके जीवन को निकट से देखने वालों को मालूम था कि उनके नित्य व्यवहार में साधारण आदमी के प्रति उनको कितना प्रेम और सत्कार था। 'शची पौलोमी' में शची की सखियों का यात्रालेखन और शची का उनके प्रति का व्यवहार, इस मनोवृत्ति का द्योतक है। इतना ही नहीं, साधारण जन वर्ग की बुद्धि में—समझ में उनको पूरा विश्वास था। यही मनोवृत्ति उनकी लोकप्रियता का आधार बन गई।

मुझे 'शची पौलोमी' उपन्यास बहुत पसन्द आया। अतः जब उसके अनुवाद करने की सूचना मिली, तब मैंने उस कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया। गुजरात ने इस उपन्यास का आदर किया है। बम्बई सरकार की ओर से इस कृति को सन् १९५६ ई० का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास घोषित करके पारितोषिक दिया गया है। ऐसी कृति का अनुवाद हिन्दी भाषा भाषियों को भी प्रिय लगेगा, यह मेरा विश्वास है।

श्यामलाल भै. मेढ़

अनुक्रमणिका

परिचय

[१]

प्रभात का समय था। बस्ती से दूर स्थित भगवान पशुपति के मन्दिर में असुर महाराज पुलोमा पूजन के लिए पधारे थे। पूजन-विधि के पश्चात् मन्दिर में प्रचण्ड घंटानाद होने लगा। इस नाद ने मन्दिर की सीढ़ियों के नीचे से ही प्रारम्भ होनेवाले विशाल मैदान में व्यूह-बद्ध खड़े हुए सशस्त्र सेनानायकों को सावधान कर दिया। शिवालय में से बाहर निकलते ही इन सैनिकों ने महाराज पुलोमा को सैनिक सलामी दी, और महाराज-द्वारा उसका योग्य उत्तर मिलने पर जय-घोष करते हुए वे अपने-अपने स्थान पर लौट गये।

महाराज धीरे-धीरे शिवालय की सीढ़ियाँ उतरने लगे। उनके दोनों ओर थोड़ा पीछे रहकर राज्य के दो अमात्य भी उतर रहे थे। इन अमात्यों के शरीर भी महाराज पुलोमा-जैसे ही ऊँचे और बलिष्ठ थे। महाराज और उनके अमात्यों में से कोई बोला नहीं। वे लौटती हुई वाहिनी को बराबर देखते रहे, और चुपचाप शिवालय की सीढ़ियाँ उतर गये। अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचे तब मैदान में एक भी सैनिक नहीं रह गया था।

ये तीनों आगे बढ़े। इस मैदान के किनारे-किनारे मन्दिर से सटे हुए नगर के सुदृढ़ दुर्ग की प्राचीरें फैली हुई थीं। मन्दिर भी इस दुर्ग का एक भाग ही प्रतीत होता था। आगे बढ़ते हुए महाराज और उनके अमात्यों ने दुर्ग के कुछ विशेष भागों को ध्यान से देखा। इतने में दुर्ग का एक छोटा द्वार आया, जिसमें होकर ये राज-भवन के मैदान में पहुँचे। द्वार के रक्षकों ने उनको

सलामी दी। महल के उपवन में पहुँचकर महाराज पुलोमा ने अपना मौन तोड़ा।

"क्रतु ! आर्यों के संस्थान धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं, ऐसे समाचार हमको मिले हैं।" महाराज ने कहा।

"ये समाचार सत्य हैं, महाराज !" साथ में चलनेवाले अमात्य-द्वय में से एक ने उत्तर दिया।

"आर्य-संस्थानों के इस प्रकार बढ़ने से देश की शान्ति के लिए क्या भय उत्पन्न न होगा ?" पुलोमा ने बात को आगे बढ़ाया।

"परिणाम तो ऐसा ही होगा प्रभु !" क्रतु ने उत्तर दिया।

"आर्य बस्तियाँ तुमको अच्छी नहीं लगतीं ?" पुलोमा ने प्रश्न किया।

"देश को आबादकर, वहाँ के निवासियों को सुखी बनाने के आर्यों के प्रयत्नों के प्रति मुझे कोई विरोध नहीं, परन्तु...." क्रतु ने अपनी बात पूरी न की।

"साफ-साफ कहो न कि तुमको आर्यों के संस्थान अच्छे लगते हैं, किन्तु आर्य अच्छे नहीं लगते।" पुलोमा ने कहा।

"हाँ, महाराज ! आपकी धारणा सत्य है। आर्य हमको अच्छे नहीं लगते।" क्रतु ने अपने विचारों को स्पष्ट किया।

"तो आर्यों को यहाँ रहने दिया जाये या निकाल बाहर किया जाये ?" पुलोमा ने प्रश्न किया।

"उनको पीछे हटाना अब सरल नहीं है। आज तक असुर प्रजा सोती रही। आर्य-विस्तार किस प्रकार होता रहा है, इस बात का उसको जरा भी खयाल नहीं। प्रतिवर्ष हमारे व्यूह को जहाँ-तहाँ से तोड़कर वे आगे बढ़ते आ रहे हैं। हिमालय की अलंघ्य दीवार भी उनके प्रवाह को रोकने में असमर्थ रही है।....त्रिविष्टप, सुमेरु और गन्धमादन पहाड़ पर बसनेवाली शक्तिशाली देव-जाति को उन्होंने मित्र ही नहीं बना लिया समय-समय पर उनकी सक्रिय सहायता भी वे प्राप्त करते रहे हैं। इतना होने पर भी उनको रोकने का कोई योजना-बद्ध प्रयास हमारी ओर से नहीं हुआ। अब आर्य-प्रवाह कैसे रुक सकता है ?" क्रतु ने उत्तेजित होकर उत्तर दिया।

असुरश्रेष्ठ पुलोमा के ओठों पर स्मित की रेखाएँ दीख पड़ीं। उन्होंने घूमकर दूसरे अमात्य से पूछा—"स्वधा ! इस विषय में तुम्हारी क्या राय है ?"

"महाराज ! आर्यों को रोकने की योजना बनाने का काम क्रतु का है। मेरा काम तो उस योजना को कार्यान्वित करने का है।" स्वधा ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

"आर्यों के प्रति तिरस्कार का कारण ?" क्रतु की ओर देखकर पुलोमा ने पूछा।

"कारण पूछते हैं, महाराज ? आर्य अपने-आपको असुरों से अधिक सुन्दर मानते हैं।" क्रतु ने उत्तर दिया।

"और हम असुरों को चपटे नाकवाले और कुरूप कहकर घृणा करते हैं।" स्वधा ने भी अपना रोष व्यक्त किया।

"बात इतने तक ही रहती, तो हम सह लेते, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि नये आदमियों को पुराने आदमी पसन्द न आयें और पुराने को भी नये अच्छे न लगें। परन्तु ये आर्य तो अपनी सभ्यता के अहंकार में इतने डूबे हुए हैं कि तिल-मात्र उतरना नहीं चाहते। वे हम असुरों को अपने से निम्नकोटि का समझते और हमारा तिरस्कार करते हैं।" क्रतु के शब्दों में आवेश था।

"इस तिरस्कार में से कब अग्नि की ज्वाला प्रकट हो जायेगी कहा नहीं जा सकता।" स्वधा ने अपनी आशंका प्रदर्शित की।

"यदि वैर की ऐसी अग्नि-ज्वाला प्रकट हो गयी तो क्या हम उसे बुझा नहीं सकेंगे ?" पुलोमा ने पूछा।

"अच्छा तो यह हो, महाराज, कि हम ऐसी आग को जलने ही न दें। पहले भी तो कई बार ऐसी ज्वालाएँ भड़क उठी हैं....और उनसे हानि ही हुई है।" क्रतु ने कहा।

"हम भी यही सोच रहे हैं। हम चाहते हैं कि आर्य हमको और हमारी सभ्यता और संस्कृति को समझें, और हम असुर-वृन्द भी उनकी सभ्यता और संस्कृति से परिचय प्राप्त करें।" पुलोमा ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया।

"यह असम्भव है राजन् !....इस समय तो हमें सभा-मंडप में चलना है।

वहाँ कुछ आर्य-संस्थानों को देखकर लौटे हुए हमारे प्रतिनिधि आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप उनका निवेदन सुन लें। आर्य-प्रजा यदि समझ से काम ले तो ठीक ही है, नहीं तो अभी उनके भय से मुक्ति पाने के पर्याप्त साधन हमारे पास हैं।" स्वधा ने आवश्यक राज्य-कर्म का स्मरण कराया।

महाराज पुलोमा और उनके अमात्य जल्दी-जल्दी सभा-मंडप की ओर चले। जिस प्रकार शिवालय दुर्ग का ही एक भाग था, और राजमहल से सम्बद्ध था, उसी प्रकार सभा-भवन भी राजमहल से मिला हुआ था, और दुर्ग का एक विभाग ही मालूम पड़ता था। शिव-मन्दिर, राजमहल और सभा-भवन पर पृथक्-पृथक् ध्वजा लहरा रही थी। इन तीनों आलयों के बीच में सुन्दर बगीचे बने हुए थे। उनमें स्थान-स्थान पर वृक्षों के कुंज थे, जिनके बीच से जलवाहिनी निरन्तर बहा करती थी। कहीं-कहीं बड़े पर्वतों के प्रतीक-रूप छोटे-छोटे पत्थर के नमूने तैयार किये गये थे। निर्दिष्ट स्थानों पर रास्ते बनाये गये थे। इनमें से एक सुनसान रास्ते पर महाराज पुलोमा अपने दोनों अमात्यों के साथ सभा-भवन की ओर जा रहे थे।

इतने में सामने से सुन्दरियों का एक समूह आता हुआ दिखायी पड़ा। महाराज पुलोमा को देखकर हँसती-अठखेलियाँ करती वे सुन्दरियाँ चुप हो गयीं, और रुक गयीं।

"चुप क्यों हो गयीं? क्या हम से डर गयीं?" पुलोमा ने पूछा।

"नहीं, पिताजी! डर काहे का? आप देखेंगे कि थोड़ी ही देर में सब लड़कियाँ जोर से हँस रही हैं।" राजकुमारी शची ने उत्तर दिया।

"यह टोली कहाँ जा रही है?" पुलोमा ने प्रश्न किया।

"कुमारी के स्नानागार की ओर।" एक युवती ने उत्तर दिया।

"स्नान करने के कितने वैदिक मन्त्र सीखे?" पुलोमा ने एक और प्रश्न पूछा।

"शिक्षक ही भाग गया, तब मन्त्र सीखें किससे?" एक दूसरी युवती ने जवाब दिया।

पुलोमा हँसते हुए आगे बढ़े। वह युवती-वृन्द भी पास ही में स्थित सुन्दर

स्नानागार की ओर घूम गया।

सभा-भवन के निकट पहुँचते ही निर्दिष्ट स्थान से अंगरक्षक महाराज के आगे चलने लगे। यह स्थान विशाल था। सारे सभा-मंडप पर कारु-कार्यवाले सुन्दर स्तम्भों के सहारे एक छत्र बना हुआ था, जो ताप और वर्षा से सभासदों की रक्षा करता था। सभासदों के बैठने के लिए उपयुक्त स्थान बने हुए थे।

महाराज पुलोमा के आने के पहले से ही सभासद एकत्रित हो गये थे। स्थान-स्थान पर रक्षक भी खड़े थे। महाराज के सभागृह में प्रवेश करते ही सब लोग खड़े हो गये, और उन्होंने पुलोमा को सादर नमस्कार किया। राजदंड-धारी प्रतिहार महाराज के आगे-आगे चल रहा था। उसने महाराज के आने की घोषणा की। सभासदों का सम्मान स्वीकार करते हुए महाराज पुलोमा अपने सिंहासन पर जाकर बैठ गये। सिंहासन के ऊपर एक सुन्दर छत्र था, जो स्वर्ण का ज्ञात होता था। महाराज के आसीन होते ही सभा-मंडप में संगीत और नृत्य का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। राज-नर्तकियों के नृत्य और वाद्यकारों के वादन-चातुर्य ने नयी सृष्टि का सृजन किया। श्रोता और दर्शक मुग्ध हो गये।

नृत्य और संगीत का कार्यक्रम पूरा होने पर प्रधान-अमात्य क्रतु ने महा-राज की ओर देखा, और उनकी अनुमति पाकर इस बात की घोषणा की कि राज्य की ओर से आर्यक्षेत्र में जो असुर प्रतिनिधि-मंडल भेजा गया था, वह अपना कार्य पूरा करके लौट आया है, और महाराज के सामने अपना वक्तव्य निवेदित करने की अनुमति माँगता है। पुलोमा के हस्तमुद्रा-द्वारा सम्मति प्रदान करने पर क्रतु अपने आसन पर बैठ गया, और सभा-मंडप के अपने निर्दिष्ट स्थान से उठकर आठ-दस आदमियों का प्रतिनिधि-मंडल आगे आया। मंडल के सदस्यों ने महाराज को प्रणाम किया, और वे एक ओर चुपचाप खड़े हो गये। वृत्र उनका अग्रणी था। पुलोमा बहुत समय से आर्य विद्वानों से मिलना चाहते थे। आर्य संस्कृति और सभ्यता के रहस्य को निकट से समझने की उनकी आकांक्षा थी। उनकी पुत्री राजकुमारी शची को भी आर्यों के मन्त्र और संगीत सीखने की बड़ी तीव्र इच्छा थी। इन कारणों से अपने विशेष प्रतिनिधि-द्वारा

महाराज पुलोमा ने आर्य विद्वानों को अपनी राजधानी में आने का निमन्त्रण भेजा था। वृत्र के नेतृत्व में यह मंडल आर्यों के भार्गव संस्थान में पहुँचा, और वहाँ के ब्रह्मर्षियों को समझा-बुझाकर असुर महाराज के पास ले चलने का प्रयत्न करने लगा। इस मंडल के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी कोई विद्वान असुर-राज के पास जाने को तैयार न हुआ। पुलोमा के आमन्त्रण को सबने ठुकरा दिया। आर्यों के अहंकार ने असुरराज का अपमान किया। इन बातों को निवेदन करते हुए वृत्र का मुख कठोर हो गया, और उसकी आँखों में लालिमा छा गयी। महाराज के निमन्त्रण की अस्वीकृति को सभासदों ने असुर-प्रजा का अपमान समझा और देखते-ही-देखते सभा-गृह में उग्रता का वातावरण व्याप्त हो गया। यद्यपि कोई कुछ बोला नहीं, तथापि सबके मुख पर रोष साफ-साफ झलक रहा था।

पुलोमा सभासदों की इस भावना को समझ गये। विषय भी महत्वपूर्ण था। उसकी उपेक्षा करना भी उचित न था। अतः महाराज ने इस विषय पर विस्तृत चर्चा आमन्त्रित की। एक सभासद ने यह सुझाव रखा कि आगे बढ़े हुए आर्य-संस्थानों पर एक साथ आक्रमण करके उनको नष्ट कर देना चाहिए। दूसरे ने सलाह दी कि नये आर्य-समूहों को हिमालय पार करके नीचे आने ही न देना चाहिए। पर्वतों पर ही उनको रोक रखा जाये, जिसमें वे पहले से आकर यहाँ बसे हुए आर्यों की सहायता न कर सकें। तीसरे ने यह सुझाया कि आर्यों के यज्ञ-कार्य में बराबर विघ्न डालते रहना चाहिए और उनके यज्ञों को कभी पूरा होने ही न देना चाहिए। इस तरह उद्विग्न होकर वे कहीं और चले जायेंगे। क्रोध के आवेश से भरे हुए एक सभासद ने यह प्रस्ताव रखा कि असुरों को आज्ञा दी जाये कि वे आर्य स्त्रियों का हरणकर उन्हें अपने अन्तःपुर में बन्दीवान बनायें। एक सभासद ने जो कि गुप्तचर का भी कार्य करता था, यह खबर दी कि ये आर्य त्रिविष्टप में रहनेवाली देव नाम की आर्य-जाति के बल पर भरोसा रखते हैं। अतः देवों के विरुद्ध तुरन्त युद्ध की घोषणा करके आर्यों के मुख्य बल-स्रोत को ही अवरुद्ध कर देना चाहिए।

इस प्रकार एकत्रित सभासदों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये। मत के समर्थन में प्रचुर प्रमाण भी दिये गये। प्रत्येक को बोलने का पूरा समय दिया गया। विषय महत्वपूर्ण था, अतः चर्चा भी महत्वपूर्ण ढंग से हुई। और उससे इतनी बात स्पष्ट हो गयी कि असुरों को आर्यों का संस्कृति-गर्व पसन्द नहीं; साथ ही उनको इस बात का भी विश्वास हो गया था कि अपने जीवन—अपनी प्रिय संस्कृति—की रक्षा के लिए उन्हें आर्यों से लोहा लेना ही होगा।

सभासदों के निवेदन समाप्त होने पर क्रतु ने महाराज की ओर से सबका अभिनन्दन किया। उन्होंने यह भी विश्वास दिलाया कि सभा में उपस्थित की गयी सभी सूचनाओं पर अमात्य-मण्डल पूर्णरूपेण विचार करेगा, और अपना मन्तव्य महाराज के समक्ष निवेदित कर असुरराज की जो आज्ञा होगी, उसको असुर-प्रजा के अनुमोदनार्थ पुनः सभा में उपस्थित करेगा।

[२]

पुनः नृत्य-गीत होने के बाद सभा विसर्जित हुई। ललित कला के प्रभाव से वहाँ का वातावरण कुछ कोमल अवश्य हुआ, परन्तु आर्यों के औद्धत्य का शूल सभासदों के मन से गया नहीं। सर्व प्रथम महाराज पुलोमा उठे और सिंहासन के नीचे आये। उनके पीछे अमात्य-मण्डल के सदस्य चले। महाराज तथा अमात्य-मण्डल के सभा-भवन से चले जाने के बाद अन्य सभासद अनुशासित ढंग में निर्दिष्ट मार्गों द्वारा अपने-अपने स्थान को गये। अमात्य-मण्डल में से केवल दो अमात्य, क्रतु और स्वधा, महाराज के साथ राजमहल में गये।

"स्वधा! वृत्र से मिलना आवश्यक है। उसे यहीं बुला लो।" पुलोमा ने आज्ञा दी। वृत्र आर्य-संस्थान में गये हुए असुर प्रतिनिधि-मण्डल का नेता था।

जब वृत्र आया, तो महाराज और क्रतु मन्त्रणा-गृह में बैठे हुए थे। स्वधा

को वहाँ उपस्थित रहने की आज्ञा न थी। अतः वह राजमहल और उसके उद्यान में टहलता रहा। वृत्र को अलंकार का बड़ा शौक था। शरीर का बलिष्ठ और असाधारण साहसी यह असुर युवक राजनीति के क्षेत्र में जल्दी-जल्दी प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त कर रहा था। उसने आकर पुलोमा और क्रतु को नमस्कार किया।

"महाराज ने मुझे याद किया है?" वृत्र ने नम्रतापूर्वक पूछा।

"हाँ, वृत्र! हमने बुलाया। प्रतिनिधि-मण्डल की ओर से जो निवेदन तुमने किया उसको हमने ध्यान से सुना। आर्यों के विरुद्ध अब युद्ध छेड़ने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है ऐसी सभा की भावना को भी समझा। अब तुम अपना व्यक्तिगत अभिप्राय बताओ।" पुलोमा ने कहा।

"महाराज! प्रतिनिधि-मण्डल और सभा का जो अभिप्राय है वही मेरा भी अभिप्राय है।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"सभा के प्रति तुम्हारी निष्ठा प्रशंसनीय है। परन्तु तुम तो आर्य-क्षेत्र में रहकर आये हो। तुमने वहाँ की स्थिति देखी है। कोई दूसरा मार्ग बता सकते हो?" पुलोमा ने पूछा।

"महाराज! मेरी नम्र मति के अनुसार दो मार्ग और हैं।" वृत्र ने कहा।

"वे क्या हैं, बताओ।"

"एक मार्ग यह है, महाराज, कि कोई असुर आर्य बनकर उनकी बस्ती में जाकर रहे, और कुछ समय बाद लौटकर वहाँ की वास्तविक परिस्थिति से हमें परिचित कराये। इससे हमें आगे की नीति निर्धारित करने में सहायता मिलेगी।" वृत्र ने एक रास्ता बताया।

"परन्तु इस कार्य में यदि वह पकड़ गया?" पुलोमा ने प्रश्न किया।

"इस बात का भय तो रहेगा ही....और पकड़े जाने के बाद जो दशा होगी....एक दूसरा मार्ग भी दीख पड़ता है। परन्तु वह भी भय से मुक्त नहीं। दो-एक अच्छे ऋषि-कुटुम्बों का अपहरणकर उनको अपने पास रखा जा सकता है।" वृत्र ने दूसरा मार्ग बताया।

"यह काम अपने सिर कौन लेगा?" पुलोमा ने पूछा।

"जिसे महाराज आज्ञा दें।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"तुम इस काम को कर सकोगे, वृत्र?" पुलोमा ने वृत्र को ही यह काम सौंपा।

"हमारी सुविधा का सवाल ही नहीं उठता। महाराज की आज्ञा शिरोधार्य है।" वृत्र ने राजा की आज्ञा को स्वीकार किया।

"तो हमारी आज्ञा हो चुकी, वृत्र! हमारी समझ में अभी आर्यों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करना उचित नहीं!" पुलोमा ने अपनी बात कही।

वृत्र ने इस आज्ञा की स्वीकृति नमस्कार द्वारा व्यक्त की और महाराज की अनुमति पाकर वह मन्त्रणा-गृह से बाहर चला गया। जाते हुए वृत्र को देखकर पुलोमा ने कहा—"यह बालक हमको बड़ा प्रिय लगता है।"

"वह प्रेम का पात्र ही है, महाराज! सारे असुर-प्रदेश को यह बालक प्रिय है। रक्त-समुद्र पार करके जब आप असुर वेणीपाल के प्रदेश में पधारे थे, तब आपको याद होगा कि वृत्र भी हम लोगों के साथ था। वृत्र वेणीपाल का भी प्रिय-पात्र बन गया था, और उन्होंने इस बालक को अपने पास रख लेने की इच्छा प्रदर्शित की थी। मैंने इस बात को आपसे छिपा रखा, क्योंकि मुझे भय था कि आप वेणीपाल की इस इच्छा को स्वीकार कर लेंगे।" क्रतु ने पुरानी बात का स्मरण कराया।

महान असुरखंड सिन्धु और शतद्रु की सीमा से भूमध्य-सागर तक फैला हुआ था। इस प्रदेश की अपनी विशेष सभ्यता थी, विशेष शासन-प्रणाली थी। सारा देश तीन या चार राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक पर सामर्थ्यवान असुर राजा राज्य करते थे। यद्यपि ये नृपति स्वतन्त्र थे, तथापि संकट के समय सभी सिन्धु-तट पर राज्य करनेवाले महाराज पुलोमा का नेतृत्व स्वीकार करते थे।

"तुमने व्यर्थ ही यह बात हमसे छिपायी। हमको सब-कुछ मालूम है। अब भी कदाचित् वेणीपाल वृत्र को अपने पास रख लें।" पुलोमा ने अपनी सर्वज्ञता प्रकट की।

"हो सकता है। परन्तु वेणीपाल वृत्र को अपने पास रखने का इतना आग्रह क्यों करते हैं?" क्रतु ने पूछा।

"तुम कोई कारण बता सकते हो?" पुलोमा ने उत्तर देने के बदले प्रश्न

किया ।

"एक चतुर उदीयमान युवक यदि अपने पास रहे तो वह भविष्य में बड़ा उपयोगी हो सकता है । वेणीपाल का ऐसा ही विचार हो और....।"

"कह डालो, क्रतु ! रुकते क्यों हो ?" क्रतु की बात को बीच ही में काटकर पुलोमा ने कहा ।

"कहना उचित नहीं समझता ।"

"तब हमीं से सुन लो, हम ही वेणीपाल के आग्रह का उद्देश्य बता दें ।" पुलोमा ने वार्ता को आगे बढ़ाया ।

क्रतु चुप रहा ।

"कहीं हमारी पुत्री शची वृत्र की ओर आकर्षित न हो जाये ।" पुलोमा ने रहस्य समझाया ।

"वेणीपाल आपके निकट सम्पर्क में आकर सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं। परन्तु भय यह लगता है कि कहीं इस प्रकार की बातें असुरखंड को विभक्त न कर दें ।" क्रतु ने अपने मन की बात कही।

"यदि शची को स्वीकार होता, तो इस सम्बन्ध से हमें कोई विरोध न था। परन्तु न जाने क्यों वह किसी के भी साथ लग्न करने को तैयार नहीं।" पुलोमा ने अपना मत प्रदर्शित किया ।

शची आर्यों के प्रति अधिकाधिक आकर्षित होती जाती थी, यह बात सबको विदित थी ।

"आर्य-संस्थानों से आया हुआ पणि-व्यापारियों का मण्डल बाहर आपके दर्शन का आसरा देख रहा है । उनसे मिलने का समय भी हो गया है।" क्रतु ने बात बदलकर आवश्यक राज्य-कार्य की ओर महाराज का ध्यान आकृष्ट किया ।

"स्मरण है । चलो, यहाँ से सीधे मंत्रणा-गृह में ही चलो । पणि-मण्डल के नेता का नाम क्या है ?" पुलोमा ने पूछा ।

"उसे लोग वत्स या श्रीवत्स कहते हैं ।" क्रतु ने उत्तर दिया ।

"हाँ, हम उसे जानते हैं । वह हमसे एक बार मिला भी है । बड़ा साहसी

है। लम्बी-लम्बी यात्राएँ कर चुका है । मिस्र-प्रदेश तक हो आया है।" पुलोमा ने वत्स की प्रशंसा की।

"अब वह जाना चाहता है दक्षिण की ओर, समुद्र के मार्ग से।" क्रतु ने कहा।

"हमें क्या आपत्ति हो सकती है? भले ही वह आर्य हो! यदि उसके कार्यों से हमें लाभ होता हो, तो उसे हमारे समुद्र-तट का उपयोग करने की अनुमति देनी चाहिए।" पुलोमा ने अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया।

"उनके वाणिज्य से हमें लाभ तो होगा ही; परन्तु अधिक लाभ हम उठायेंगे आर्यों के विरुद्ध उनका उपयोग करके।" क्रतु ने राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया।

"किस प्रकार?" पुलोमा ने क्रतु को अपने कथन की व्याख्या करने को कहा। बात करते-करते दोनों मन्त्रणा-भवन की ओर जा रहे थे।

"पणि-जाति और अन्य आर्यों के बीच एक झगड़ा खड़ा हो गया है।" क्रतु ने बात आगे चलायी।

"किस विषय पर?" पुलोमा ने पूछा।

"लम्बी यात्राओं में जाने के कारण पणि आर्य-परम्परा के अनुसार पूर्ण-रूप से यज्ञ नहीं कर सकते, और देवों का अंश निकालने में भी उन्हें आपत्ति होती है।" क्रतु ने झगड़े का कारण बताया।

"अच्छा! झगड़े का यही कारण है? यह स्वाभाविक है कि असुर-भाग निकालकर हमको देने के बाद आर्य यदि देवांश के लिए दबाव डालें, तो वह पणियों को न रुचे!" पुलोमा ने पणि-व्यापारियों के असन्तोष का समर्थन किया।

मन्त्रणालय में पहुँचते ही दोनों चुप हो गये।

पणि-मण्डल वहाँ पहले से ही उपस्थित था। महाराज को आते देखकर मण्डल के सब सदस्य खड़े हो गये, और उन्होंने पुलोमा को नमस्कार किया। महाराज ने अपना आसन ग्रहणकर पणियों को भी बैठने का संकेत किया। क्रतु ने पुलोमा के पास स्थान लिया।

"आर्यगण! अपनी क्षेम कहो। कैसे आना हुआ?" पुलोमा ने मीठे स्वर

से पूछा।

पणि-मण्डल के नेता श्रीवत्स ने खड़े होकर नम्रतापूर्वक निवेदन किया— "राजन्! हमारी वन्दना स्वीकार हो। आप श्रीमान की कृपा से आपके राज्य में से होकर हमको मिस्र देश जाने की अनुमति मिली थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सिन्धु-तट और नील-तट के प्रदेशों के बीच का व्यापार बहुत बढ़ गया। असुर देश को इससे बहुत लाभ हुआ। अब हमारी प्रार्थना है कि सिन्धु नदी के किनारे-किनारे समुद्र तक हमको जाने की अनुमति प्रदान की जाये, जहाँ से महासागर में होते हुए हम दक्षिण की ओर जा सकें। हमारा यह प्रवास आपके लिए नये व्यापार का द्वार खोल देगा।"

"समुद्र के मार्ग से क्यों जाना चाहते हो? पर्वतों को पार करके क्यों नहीं जाते?" पुलोमा ने पूछा।

"पर्वत पार करके हम पश्चिम में पहुँच गये; अब दक्षिण की ओर जाना बाकी है।" श्रीवत्स ने कहा।

"दक्षिण और पश्चिम की ओर ही जाने का क्यों प्रयत्न करते हो? उत्तर और पूर्व की ओर जाने का विचार क्यों नहीं करते?"

"उत्तर-पूर्व में हमारे पूज्य देवगण रहते हैं। त्रिविष्टप और उसके ऊपर के भाग में जाने के लिए हमें कोई रुकावट नहीं है।"

"परन्तु हमारे लिए तो उधर का मार्ग अवरुद्ध है। आर्य और देव हम असुरों को वहाँ पैर भी नहीं रखने देते!" पुलोमा ने असुर-प्रजा के प्रति होने-वाले अन्याय की ओर संकेत किया।

"आप हमारी दक्षिण की यात्रा में सहायता दें। हम इस बात का प्रयत्न करेंगे कि असुर, आर्य और देवों के बीच आवागमन सरल हो सके।" श्रीवत्स ने आश्वासन दिया।

"तुम्हारा मण्डल आर्यों के गौत्र-पुरुषों की अनुमति लेकर आया है या नहीं?" पुलोमा ने पूछा।

"हमारे गौत्र-पुरुष हमसे बहुत प्रसन्न नहीं हैं। अतः माँगने पर भी अनुमति न मिलती।" श्रीवत्स ने उत्तर दिया।

"वे क्यों अप्रसन्न हैं? गौत्र-पुरुषों की अवकृपा का कारण क्या है?" पुलोमा ने पुनः प्रश्न किया।

"राजन्! हम आर्यों का होम-हवन के प्रति आग्रह आपको विदित ही है...."

"आग्रह? अपने धर्म-कर्म की हँसी तो नहीं उड़ाते?" बीच ही में बात काटकर पुलोमा ने कहा।

"नहीं, महाराज! हम अपने धर्म-कर्म की अवहेलना नहीं कर सकते। इतना होने पर भी आपको विदित ही है कि हमारे गुरुजन हमसे प्रसन्न नहीं रहते। उनको इस बात का विश्वास नहीं होता कि हम समुद्र-यात्रा में अपने यज्ञ विधिपूर्वक सम्पादित करते हैं।" श्रीवत्स ने गुरुजनों की अवकृपा का कारण बताया।

"तुम्हारे गुरुजनों की आशंका सच मालूम होती है। नौकाओं पर विधि-पूर्वक यज्ञ करना कठिन है। आर्य-संस्थानों में बैठकर जिस प्रकार सुचारु रूप से यज्ञ-कार्य हो सकता है, उस प्रकार हिलने-डोलनेवाली नौकाओं पर नहीं। क्योंकि नौकाओं की गति का आधार है जल और वायु!" पुलोमा ने गुरुजनों का पक्ष लिया।

पणि-मण्डल को आश्चर्य हुआ कि असुरराज आर्यों के यज्ञ की प्रशंसाकर गौत्र-पुरुषों का समर्थन क्यों कर रहे हैं!

"सच है, महाराज! सविधि यज्ञ नहीं हो सकते। परन्तु इसके प्रायश्चित-स्वरूप हम जब आर्य-प्रदेश में लौटते हैं, तब नयी-नयी भेंट लाकर रखते हैं—देवों और पितरों के चरणों में।" श्रीवत्स ने कहा।

"तुम कभी-कभी गुरुजनों को भी साथ में ले जाते हो, या नहीं?"

"हाँ, महाराज! परन्तु बड़ी कठिनाई से। बहुत से गौत्र-पुरोहितों को हमारे साथ जाने नहीं दिया जाता....बड़ी कठिनाई से हम उन्हें प्राप्त करते हैं, और ले जाते हैं, जिससे यात्रा में हमारा धर्म-कार्य न रुके।"

"तुमको हमारे कच्छ प्रदेश में से जाने की अनुमति मिल सकती है, एक शर्त पर।" अब पुलोमा मुख्य विषय पर आये।

"आपने हमको मिस्र, फिलिस्तीन तथा भूमध्य के प्रदेशों में जाने की अनुमति देते समय जो शर्तें रखी थीं, उनका हमने पूरा पालन किया था। अब दक्षिण में जाने के लिए जो भी शर्तें हमारे सामने रखी जायेंगी, हम उनका भी पालन करेंगे। केवल इतनी ही प्रार्थना है कि हमारी सामर्थ्य का ध्यान रखा जाये।"

"अपना एक पुरोहित हमको सौंपते जाओ। दक्षिण की समुद्र-यात्रा के लिए हमारी यही शर्त है।" पुलोमा ने अपनी शर्त बतायी।

"महाराज! यह तो बड़ी कड़ी शर्त है। हमको ही पुरोहित नहीं मिलते। बहुत कठिनाई से कोई पुरोहित मिल जाता है। ऐसी स्थिति में आपके लिए कहाँ से लायें? कोई अन्य शर्त रखने की कृपा करें।" श्रीवत्स ने अपनी असमर्थता प्रकट की।

"अन्य शर्तों से मुक्ति दे सकते हैं। हमको बहुमूल्य वस्तु भेंट में नहीं चाहिए। हमें तुम्हारे पुरोहित की आवश्यकता है, वही हमें दे देना। यह भेंट दिये बिना हमारे बन्दरगाहों से तुम लोग आ-जा न सकोगे।" पुलोमा अपनी शर्त पर अड़े रहे।

पणि-मण्डल के सदस्य कुछ क्षण तक एक दूसरे की ओर देखते रहे। उन सबकी आँखों में शंका और अश्रद्धा की झलक थी। श्रीवत्स ने पुलोमा से कुछ देर के लिए एकान्त में जाकर परस्पर मंत्रणा करने की अनुमति माँगी। मंत्रणा पूरी होने पर श्रीवत्स ने आकर निवेदन किया—"असुर-श्रेष्ठ! हम प्रयत्न करेंगे। निश्चित रूप से कैसे कहें? परन्तु हमको आशा है कि हम एक ऐसा पुरोहित दे सकेंगे, जो सब प्रकार से योग्य होगा, और आपको, आपके कुटुम्ब को, और आपके राज्य को सन्तुष्ट करेगा।"

"कहाँ से लाओगे?" पुलोमा ने पूछा।

"वशिष्ठ, भार्गव अथवा भरत-कुल में से कोई मिल जायेगा।"

"अच्छा! तो सुन लो हमारी आज्ञा। जिस क्षण आर्य पुरोहित हमारे सामने आयेगा, उसी क्षण तुम्हारे जहाज बन्दरगाह से निकल सकेंगे।" पुलोमा ने अन्तिम आज्ञा दी, और वे उठ खड़े हुए।

गाम्भीर्य धारणकर पणि-मण्डल भी अपने वासस्थान की ओर विदा हुआ।

"क्रतु! ये पणि हमको धोखा तो न देंगे?" पुलोमा ने पूछा

"नहीं, महाराज! ये कम-से-कम हमको धोखा न देंगे।"

"अर्थात् दूसरे को धोखा देंगे।"

"हमें भय है, महाराज, कि छल किये बिना आर्य गोत्र का कोई पुरुष हम लोगों के पास आने को तैयार न होगा।" क्रतु ने अपना संशय व्यक्त किया।

"पणि अपना काम करते रहेंगे। हमें भी अपने कर्तव्य से विमुख न रहना चाहिए।" पुलोमा ने दृढ़ता से कहा।

क्रतु ने पुलोमा की ओर से दृष्टि हटाकर पृथ्वी की ओर डाली, और विचारों में निमग्न हो गया।

[३]

असुरों की स्थापत्य कला उच्च कोटि की थी। उनकी रचनाओं में लालित्य के साथ-ही-साथ भव्यता का भी समावेश रहता था। वे दुर्भेद्य दुर्ग बनाते, सुन्दर हवेलियाँ तैयार करते, नाना प्रकार के उद्यान लगाते और जलाशय निर्मित करते थे। स्नान के वे विशेष शौकीन थे। अतः उनके स्नानागार सुविधापूर्ण होते थे।

राजकुमारी शची अपनी सहेलियों के साथ राज-भवन के स्नानागार में आयी, और अधिकांश वस्त्र उतारकर स्नानागार की सीढ़ी पर बैठ गयी। महल के उद्यान में स्थित एक विशाल बावली स्नानागार का काम देती थी। जिस प्रकार दुर्ग से मिले हुए मन्दिर और स्नानगृह थे, उसी प्रकार राजमहल भी दुर्ग का ही एक भाग मालूम पड़ता था। दुर्ग की प्राचीरों से सुरक्षित इस राजभवन के उद्यानों में यह सुन्दर बावली बनी थी। शची नहाने के लिए इसमें प्रायः ही आया करती थी। अर्धवस्त्र लपेटकर बैठी हुई राजकुमारी के पाँव, पीठ और वक्ष पर धीरे-धीरे पानी डालकर दो दासियों ने सुगन्धित द्रव्यों

का आलेपन प्रारम्भ किया। आलेपन के बाद कोमल वस्त्रों से मर्दन कर राजकुमारी के देह की उष्मा बढ़ानेवाली दोनों दासियाँ कुमारी के शरीर-सौष्ठव को भी देखती जाती थीं। स्नान और शयन के समय साथ रहनेवाली दासियाँ जल्दी ही सखी के समान हो जाती हैं।

"मन्थरा! विष्टिकार आ गये?" कुमारी पौलोमी ने पीठ पर पानी डालनेवाली दासी से पूछा।

"हाँ!" मन्थरा ने उत्तर दिया।

"परन्तु साथ में कोई पुरोहित न दीख पड़े।" पौलोमी के पाँव का मर्दन करती हुई विनता नाम की दासी ने कहा।

"आर्यों के हृदय ऐसे कोमल नहीं हैं कि वे सरलता से विष्टि स्वीकार करें। किसी यज्ञोपवीत धारण करनेवाले को तो सहसा उठाकर ही लाना पड़ेगा—जब वह एकान्त में नदी के तीर पर नहाता हो, अथवा आश्रम में ध्यान-मग्न बैठा हो।" मन्थरा ने पुरोहित को प्राप्त करने का उपाय बताया।

"स्नान-विधि बहुत चली। अब बस करो।" शची ने कहा और उठने का प्रयत्न किया।

"नहीं, थोड़ा और ठहरिए!" विनता ने पौलोमी का पाँव दबाकर उठने न दिया।

"आर्यों से शिक्षा प्राप्त करने का यह पागलपन क्यों?" मन्थरा ने धीमे स्वर में कहा।

कुछ क्षणों तक सब मौन रहीं। शची ने भी अपने देह का आरोग्य-मर्दन होने दिया। पानी डालना बन्द करके सखियों ने स्वच्छ वस्त्र से शरीर पोंछ डाला। तदुपरान्त उन्होंने राजकुमारी के शरीर में चन्दन लगाया, और कुछ देर बाद उसे भी दूसरे वस्त्र से पोंछ दिया। इसके बाद पौलोमी की कमर पर एक वस्त्र लपेटकर उस पर मोती की कटि-मेखला पहनायी।

"बोलिए, आपको आर्य-कन्या बनायें, अथवा असुर-कन्या?" मन्थरा ने हँसकर पूछा।

"ऐसा क्यों पूछती हो? हम तो असुर-कन्या हैं ही; हमको आर्य-कन्या

बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता।" ज़रा कड़े शब्दों में पौलोमी ने उत्तर दिया। रजत-किंकिणी की ध्वनि जैसे मधुर उसके शब्द उत्तेजित होने पर भी माधुर्य-पूर्ण थे।

"मैं तो यह पूछती थी कि आपको कैसी वेश-भूषा पसन्द है ? आर्य-कन्या जैसी ? अथवा असुर कन्या जैसी ?" मन्थरा ने नम्रता से पूछा।"

"कन्याओं में भेद क्या ? जैसी आर्य-कन्या, वैसी ही असुर-कन्या !" सीढ़ी चढ़ते हुए पौलोमी ने उत्तर दिया।

"जैसा आप कहें ! समय आने पर दोनों का भेद समझ में आयेगा। परन्तु राजकुमारी ! वेशभूषा में भिन्नता अवश्य है।" विनता ने कहा।

"और कुमारी को जब देखो तब आर्य पोशाक ही चाहिए।" मन्थरा ने शची की टीका की।"

"आर्य-वस्त्र में से कहीं आर्य-वर की धुन न लग जाये।" विनता ने कटाक्ष किया।

"कदाचित् आर्यों से भी ऊँचे किसी सुरवर की ओर—देव-श्रेष्ठ की ओर कुमारी की दृष्टि न लगी हो !" मन्थरा ने हँसकर बात को आगे बढ़ाया।

अपने पीछे आनेवाली सखियों की ओर हंस सदृश्य ग्रीवा घुमाकर पौलोमी ने प्रश्न किया—"मन्थरा !....विनता ! तो क्या तुम्हारी ऐसी मान्यता है कि आर्य और देवगण असुरों से ऊँचे हैं ?"

"यह तो बहिन ! कौन जाने ? वर्षों से, शताब्दियों से आपस में झगड़ा चला आता है। प्रकृति का यह नियम है कि युद्ध में जो जीते, वही श्रेष्ठ !" मन्थरा ने उत्तर दिया।

"प्रकृति की तो कौन जाने ? मानवी नियम अवश्य हो सकता है।" शची ने कहा।

"बहिन ! आर्य और देव मिलकर असुरों को युद्ध में हरायें, तो आप क्या करेंगी ?" विनता ने पूछा।

"हूँ....!" सहज तिरस्कार युक्त हास्य करके शची ने अपना मुख घुमा लिया और एक के बाद दूसरी सीढ़ी चढ़ती हुई वह शीघ्र ही स्नानागार से बाहर निकल

आयी। दोनों सखियों को ऐसा आभास हुआ मानों कोई महाशक्ति प्रकृति सौन्दर्य और गर्व को धारणकर विजय-यात्रा कर रही हो।

तीनों सखियाँ ज्योंही स्नानागार से बाहर निकलकर जाने लगीं, त्योंही आर्य-प्रदेश से लौटे हुए विष्टिकार सामने से आते हुए दीख पड़े। उनमें यौवन का प्रतीक-रूप वृत्र भी था। पौलोमी को पहचानकर उसने नमस्कार किया, जिसका शची ने गौरवपूर्वक प्रत्युत्तर दिया।

विष्टिकारों के साथ-साथ अन्य सबको यह मालूम हो गया था कि पौलोमी के हृदय में आर्य-कला, आर्य-विद्या और आर्य-विशिष्टता में प्रवीणता प्राप्त करने की लगन जागृत हो गयी है। इस इच्छा को पूरा करने के लिए एक विद्वान और कला-निपुण आर्य-गुरु की आवश्यकता थी। असुर सम्राट् पुलोमा ने आर्यों के जनपद में अपने प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर विद्वानों को आमन्त्रित भी किय था। परन्तु उनको विश्वास था कि जाति-घमण्ड से भरे हुए आर्य-संस्थान उनके निमन्त्रण को स्वीकार नहीं करेंगे। असुरों के प्रति प्रदर्शित किये गये तिरस्कार के वृत्तान्त विधिपूर्वक राजसभा में कहे गये थे, और यह समाचार राजमहल में भी पहुँच गया था। प्रतिनिधि-मण्डल कुछ आगे निकल गया, तब विनता ने पूछा—"बहिन! आर्यों का उत्तर सुना?"

"हाँ!" कहकर शची तिरस्कारपूर्वक हँसी।

"तिरस्कार में आप हँसती हैं, परन्तु....' मन्थरा ने कहा।

"कहो तो फिर से वैसा ही हँसें।" पौलोमी पुनः हँसी।

"इस दूसरे हास्य में वह तिरस्कार नहीं, जो पहले में था।" विनता ने दोनों हँसियों का अन्तर बताया।

"देखो, विनता! प्रश्न दोनों भिन्न थे, इसलिए मैं भिन्न-भिन्न प्रकार से हँसी।" पौलोमी ने हास्य के अन्तर के रहस्य को समझाया।

"यों तो, कुमारी! आप स्वयं आर्यों को कला की शिक्षा दे सकती हैं। तब उनसे कला सीखने का आग्रह क्यों? सो भी अपमान सहकर!" मन्थरा ने पूछा।

"असुरों को अपनी कला का अभिमान आर्यों से कम नहीं....और मन्थरा, यह निश्चय मानना कि हम ऐसा कोई काम न करेंगे जिससे असुरों के स्वाभिमान

को धक्का लगे।" चलते-चलते रुककर पाँव को दृढ़ता से पृथ्वी में जमाकर पौलोमी ने उत्तर दिया।

"तब आर्य-कला और ज्ञान का मोह आप छोड़ दें।" विनता ने कहा।

"यदि इस मोह को छोड़ूँ, तो मेरी हार होगी....मैं हारना नहीं चाहती.... हो सका तो मैं आर्यों पर विजय प्राप्त करूँगी।" पौलोमी के उद्गार निकले। उसके प्रत्येक शब्द में निश्चय के प्रत्याघात थे—पर्वत की दृढ़ता थी, चाहे सुनने में वे कर्णकटु ही क्यों न हों।

"हमारे सुझाव का ठीक उत्तर नहीं मिला।" विनता ने याद दिलाया।

"उत्तर तैयार हो रहा है। पिताजी से मिलने के पहले ही वह तुमको विदित हो जायेगा।" पौलोमी ने कहा।

"इस बात में पिताजी को बीच में क्यों डालती हो?" मन्थरा बोली।

"कदाचित् मेरे और पिताजी के बीच मतभेद हों।" पौलोमी ने कहा।

"अन्त में होगा वही जो आप निर्धारित करेंगी।" मन्थरा ने अपना मत प्रदर्शित किया।

"मन्थरा! पिताजी कितने उदार चित्त हैं?" पौलोमी ने कहा।

"और माताजी?" विनता ने प्रश्न किया।

"कैसी हो सखि! कभी-कभी तुम हमारे मन को दो भागों में विभक्तकर, एक दूसरे से लड़ाना चाहती हो।" पौलोमी के शब्दों में उपालम्भ था।

"ऐसी लड़ाई में आनन्द आता है। देखो! वह दूसरा सखि-मण्डल आ रहा है, आपके शरीर-सौन्दर्य को दो भागों में विभक्त कर एक दूसरे से लड़ाने के लिए।" विनता ने कहा।

तीनों हँस पड़ीं।

दूसरी दो-तीन सखियाँ उद्यान में से पुष्प चुनकर राजकुमारी को पुष्प-श्रृङ्गार से सजाने के लिए आ रही थीं। सखियों के मन में शची के देह-सौन्दर्य के दो व्यूह का विचार आया—एक पुष्पित विभाग का, और दूसरा अपुष्पित विभाग का। पौलोमी यह समझ गयी। वह हँसकर बोल उठी—"आज अपने शरीर पर कोई सौन्दर्य-संग्राम न होने दूँगी। रचा! यहाँ ला! आज हम

मन्थरा और विनता को पुष्पों से सँवारेंगी।"

"खिलवाड़ न करें, कुमारी!" विनता ने समझाया।

"मैं खिलवाड़ नहीं करती। मुझे तो यह देखना है कि मेरी सखियाँ मुझसे कितनी अधिक सुन्दर हैं।" कहकर पौलोमी ने मन्थरा और विनता को अपनी ओर खींचा। उन दोनों के विरोध करने पर भी उनका छुटकारा न हुआ। पौलोमी और अन्य सखियों ने पकड़कर दोनों को पुष्पों से सँवारना शुरू किया, पुष्प लानेवाली एक सखी ने श्रृङ्गार करते-करते पूछा—"कुमारी! पुष्प-श्रृङ्गार के बाद इनमें से एक भी यदि आपसे अधिक सुन्दर न लगी?"

"तो मानोगी रत्ना? मैं इनकी दासी होकर रहूँगी।" पौलोमी ने उत्तर दिया, और सब सखियाँ एक साथ हँस पड़ीं।

पौलोमी को इस बात का गर्व था कि वह दासियों से परिवेष्टित नहीं रहती। जो स्त्रियाँ उसके पास रहतीं, उनके साथ वह सहेलियों का-सा बर्ताव करती। बहुत बार पौलोमी अपने हाथ से सखियों को स्नान कराती, वस्त्र पहनाती और आभूषणों से सजाती।

"कुमारी! एक नृत्य में आपको दासी का रूप दिया जाये।" एक सखी ने कहा।

"उसका अभिनय हम ठीक से करेंगे।" कहती हुई शची सखियों को लेकर आगे बढ़ी।

बगीचे में अन्य लोग भी दीख पड़ते थे। आर्य-प्रदेश में होकर आये हुए असुर प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य अभी तक वहाँ विचरण करते हुए उद्यान की शोभा देख रहे थे। राजकुमारी और उसकी सखियों को दूर से देखकर वे बगीचे के अन्य भाग में चले गये। तरुणियों की टोली धीरे-धीरे एक छोटी नहर के किनारे पहुँच गयी। नहर में पानी बह रहा था, और उसके दूसरे किनारे पर जाने के लिए लकड़ी का एक पुल बना हुआ था। एकान्त पाकर उन्मत्त बनी हुई सखियों में से एक बोल उठी—"बहुत दिन हुआ लम्बी कुदान की प्रतिस्पर्धा नहीं की। चलो, आज इस नहर को फाँदा जाये।"

"यह धमाचौकड़ी अब शोभा न देगी। कूदने के योग्य तुम्हारा शरीर नहीं;

वह तो अब स्थिरता माँगता है।" मन्थरा ने सब को समझाया।

"जाओ, जाओ, मन्थरा! तुमको आज फूलों से सजाया इसलिए बहुत बड़ी हो गयी! अच्छा! तुम न कूद सको, तो मत कूदो। मैं तो अवश्य कूदूँगी।" कहती हुई रत्ना ने छलाँग मारी। उसी समय पानी का एक प्रबल प्रवाह नहर में आया। रत्ना नहर का उल्लङ्घन न कर सकी, और पानी में गिर गयी। यद्यपि वह तैरना जानती थी, तथापि जल के तीक्ष्ण प्रवाह में बहने लगी।

"अरे, अरे! देखो, इस मूर्ख ने क्या किया? आज ही नहर में पानी छोड़ा गया है। प्रवाह में पड़कर यदि किनारे न पहुँच सकी, तो बहकर उस दूसरे पुल से टकरा जायेगी।" कहकर पौलोमी भी पानी में कूद पड़ी। नहर पर अनेक पुल बने हुए थे, और पौलोमी को यह भय था कि पानी के तेज बहाव में यदि रत्ना बह गयी तो अवश्य पुल के स्तंभ से टकरा जायेगी, और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। रत्ना उसी प्रकार बह रही थी। पौलोमी जल्दी-जल्दी तैरती हुई आगे बढ़ी। स्तब्ध बनी हुई सखियों को कुछ सूझा नहीं। वे प्रवाह के साथ किनारे पर दौड़ रही थीं, और रत्ना को बचाने का उपाय सोच रही थीं। रत्ना पकड़ सके इस उद्देश्य से उन्होंने एक लम्बा वस्त्र भी पानी में फेंका। पुल पास आ गया था। क्षण-दो क्षण का अब समय था। यदि फेंका हुआ वस्त्र पानी की लहर में दूर न बह जाये, तो रत्ना उसे पकड़ सकेगी। अथवा पौलोमी ही दो लम्बे हाथ भरे, तो रत्ना उसकी पकड़ में आ जाये। भगवान न करे, पर यदि दोनों प्रयत्न निष्फल गये, तो क्या होगा? सखियाँ काँपने लगीं। रत्ना का जीवन पूर्ण संकट में था।

उसी क्षण कोई पानी में कूदा, और रत्ना को उसने पकड़ लिया। सखियों ने देखा कि वृत्र का एक हाथ रत्ना को पकड़े हुए है, और दूसरा पुल की भित्ति पर है। देखते-ही-देखते बड़ी चपलता से उसने रत्ना को किनारे पर चढ़ा दिया, और स्वयं पानी के बहाव को काटते हुए ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करने लगा। इतने में उसने शची को अपने पास तैरता पाया। उसे आश्रय देने के लिए वृत्र का हाथ आगे बढ़ा, परन्तु शची को ऐसे आश्रय की आवश्यकता न थी। वह स्वयं प्रवाह को काटकर किनारे पर आ लगी। ऊपर चढ़कर उसने कहा—

"धन्य हो, वृत्र ! हम तुम्हारे आभारी हैं। तुमने आज रक्षा को बचा लिया। यदि तुम न पहुँचते, तो आज न मालूम क्या हो जाता ! अब तुम किनारे लग जाओ।"

वृत्र प्रयत्न करके किनारे पर आ गया।

रक्षा के संकट की खबर नहर के मुख्य द्वार पर पहुँच गयी थी। इस कारण पानी का आना बिलकुल बन्द कर दिया गया था। रक्षा, वृत्र और शची भीगे हुए वस्त्र पहने एक दूसरे को देखने लगे। आसपास के बहुत से लोग दौड़ आये, परन्तु तीनों को संकट से मुक्त देखकर लौट गये। रक्षा ने एकाएक अट्टहास किया।

[४]

"क्या मूर्ख की तरह हँस रही है ? हम कुछ कहें, उसके पहले ही कूद पड़ी ? नहीं जानती कि आज नहर में पानी छोड़ा जानेवाला था ? ऐसी मुसीबत कोई मोल लेता है ?" शची ने रक्षा को फटकारा।

परन्तु रक्षा की हँसी रुकी नहीं। हँसते-हँसते उसने उत्तर दिया—"बहिन ! सच पूछो तो मुझे विश्वास था कि पानी का प्रवाह आने के पहले ही मैं कूद जाऊँगी। और मेरे साथ आप सब भी कूदकर आ जायेंगी।"

"यदि चोट खा जाती ?" शची ने पूछा।

"मैं जानती थी कि मेरा बाल भी बाँका न होगा। जिस समय मैं कूदी, उस समय वृत्र को इधर आते हुए देख लिया था और मुझे पक्का विश्वास था कि पुल से मुझे कोई टकराने न देगा।" रक्षा निश्चिन्त होकर उत्तर दे रही थी।

"नटखट लड़की ! यह सब तो कहने की बातें हैं। इसे अपनी शक्ति पर भी कम विश्वास नहीं।" मन्थरा ने कहा।

"सच है, मैं न भी पहुँचता, तो कोई डर की बात न थी। रक्षा कभी पुल

से टकराती नहीं; पैर उसने सँभालकर रखा था।" वृत्र ने मन्थरा की बात का अनुमोदन किया, और वह शीघ्र ही घूमकर जाने लगा।

"वृत्र! जरा महल में कहते जाना कि हमारे लिए शीघ्र सूखे कपड़े भेजे जायें। आज दो बार स्नान हुआ।" मन्थरा ने पुकारकर कहा।

वृत्र ने घूमकर सब को देखा, और 'अच्छा' कहकर भीगे वस्त्र पहने ही दौड़ता हुआ महल की ओर चला गया।

शची और उसकी सखियों ने अपने भीगे वस्त्र निचोड़ना शुरू किया, और देह से कुछ अलग कर उन्हें सुखाने लगीं। यौवन एकान्त पाकर मादक हो ही उठता है। यहाँ भी एकान्त था। यौवन ने भिन्न-भिन्न युवतियों में हिलोरें मारना प्रारम्भ किया। सब चुहलें करने लगीं। वस्त्र निचोड़ते समय एक-दूसरे पर छींटें डालकर, पोंछे हुए देह-भाग को भीगे हुए वस्त्रों से पुनः भिगोकर, और अधखुले शरीरों से अठखेलियाँ करती हुई सखियों ने देखा कि वृत्र सूखे हुए वस्त्र लेकर उनकी ओर आ रहा है। दो सखियों को शरारत सूझी। उन्होंने एक लम्बा वस्त्र खींचकर सबके सामने परदा कर दिया।

"वृत्र! वस्त्र रखकर पीछे चले जाओ, और बेलि-गृह में खड़े रहो। हमें तुमसे कुछ काम है।" परदे के पीछे से शची का मधुर शब्द सुनायी दिया।

परदा तो पवन में हिलता ही रहा। उसकी कोई विशेष आवश्यकता भी न थी। वस्त्र और देह-मर्यादा का सम्बन्ध असुरों की दृष्टि में कोई गूढ़ प्रश्न न था। वे तो यही मानते थे कि वस्त्र अंग के रक्षण, अथवा अंग को सुशोभित बनाने के लिए ही धारण किये जाते हैं। देह अथवा देह का कोई विशेष भाग देखनेवालों की आँख से छिपाने के लिए बनाया गया है, ऐसी भावना उनमें उग्र रूप से जागृत न हुई थी।

स्त्रियों की देह की ओर देखने की जरा भी इच्छा न कर वृत्र वहाँ से घूमा, और कुछ दूर पर स्थित उद्यान के बेलि-गृह में जाकर खड़ा हो गया। हरी-हरी लताओं से परिवेष्टित यह स्थान उसको बहुत सुहावना लगा। बहुत समय के बाद वृत्र ने कोमल भावनाओं का अनुभव किया। सर्वदा से व्यायाम और वीरता के कार्यों में रत रहनेवाले वृत्र को इस प्रकार के मनोरम स्थान में आश्रय

लेने का प्रसंग ही न आया था। इस स्थान की शोभा उसे अच्छी लगी। बेलि-गृह के अन्दर शीतलता थी, और उसके ऊपर खिले हुए पुष्पों की पंक्ति मादक सुवास बिखेर रही थी। कोमलता अच्छी है या कठोरता? दोनों में कौन अच्छा है? पर्वत अथवा पुष्प? रेती या चाँदनी? वृत्र को ऐसा आभास हुआ मानों इधर कुछ समय से उसे कोमल वस्तु की ओर अनुराग हो रहा है; इसी लिए शची का आदेश उसे न जाने क्यों बड़ा प्रिय लगा। समवयस्क शची को वह भली-भाँति जानता था; बचपन में दोनों साथ खेले थे। परन्तु जब से राज्य-कार्य का बोझ उस पर अधिक आ पड़ा, तब से उसका शची से मिलना कम हो गया था। महाराज पुलोमा का वह प्रियपात्र था। एक बार महाराज को पता लगा कि निकटस्थ नदी-तट पर बसे हुए आर्य-संस्थान में महायज्ञ होनेवाला है, जिसमें घी-दूध का अधिक अपव्यय होगा। इस अपव्यय को रोकने का काम वृत्र के सुपुर्द किया गया। काम साधारण न था। यज्ञ-कार्य में विघ्न होता देख आर्य युद्ध करने को तैयार हो गये। इस युद्ध में वृत्र के रण-कौशल के कारण आर्यों की पराजय हुई। तब से पुलोमा के दरबार में वृत्र का मान बढ़ गया, और जब कभी आर्यों के अपव्ययी उत्सव रोकने होते और आर्यों को असुर-वीरता का परिचय कराना होता तो वृत्र को ही भेजा जाता था। इस प्रकार महत्व के राज्यकार्य में व्यस्त रहनेवाले वृत्र को अपनी बालसखी शची से मिलने का अवसर ही न मिलता था। आज शची ने ही उसे बुलाया और बेलि-गृह में रुकने का आग्रह किया। यह उसके लिए असाधारण आनन्द की बात थी।

मिलने का स्थान भी बेलि-गृह! एक तो स्त्री ही शीतलता का अवतार! चन्द्र की ओर देखना और स्त्री के मुख को देखना, दोनों समान हैं। दोनों में समान शीतलता है। फिर बेलि-गृह-सा स्थान! जहाँ सुवास थी, सौन्दर्य था और स्वच्छता थी। ऐसे मनोरम स्थान में शची-जैसी सुन्दरी से मिलने की प्रतीक्षा करने में कितना आनन्द था? वृत्र एक नये सुख का अनुभव कर रहा था। थोड़े ही क्षणों में उसने देखा कि शची अपनी सहेलियों के साथ उधर आ रही है। सखियों को छोड़कर वह अकेली आती तो कितना अच्छा होता! परन्तु राजा, सामन्त अथवा श्रेष्ठी की कन्याओं को लेकर यही कठिनाई है।

सामान्य स्त्रियों की भाँति वे अकेली कभी निकल ही नहीं सकतीं। वृत्र बेचारा सोचता ही रह गया।

बेलि-गृह के निकट पहुँचते ही रक्षा ने शची से कहा—"लो, अब हम सब जाती हैं। वृत्र को बात में रोकना मत, उसे बात करना आता नहीं है।"

शची को वहाँ छोड़कर रक्षा, मन्थरा और अन्य सखियाँ एक दूसरी को मार्मिक संकेत करती हुई चली गयीं। वृत्र को उनका जाना पसन्द आया। परन्तु शिष्टाचार की दृष्टि से उसने कहा—"उनको हटाने की कोई आवश्यकता नहीं, वे भले ही यहाँ रहें!"

"नहीं, उनका जाना ही ठीक है। हमें तुमसे एकान्त में बात करनी है।" शची ने उत्तर दिया।

"किस विषय की बात है, शची?" वृत्र ने पूछा।

"अन्दर चलो, हमें कुछ बातें पूछनी हैं।" कहती हुई शची वृत्र को बेलि-गृह के अन्दर ले गयी।

दोनों बेलि-गृह के अन्दर गये। स्थान बड़ा था, और उसमें दो तीन हिंडोले पड़े थे। दो-तीन साधारण बेलों से परिवेष्टित झूले भी थे। एक झूले पर शची बैठ गयी, और उसके सामने एक स्थान पर वृत्र बैठा।

"कहो, वृत्र! आर्य-संस्थानों में जाकर क्या देखा?" शची ने पूछा।

"आर्यों का घमंड, आर्यों की अन्ध-श्रद्धा, और आर्यों का असुरों के प्रति तिरस्कार।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"वृत्र! आर्य तुमको अच्छे नहीं लगते, यह दुःख का विषय है। पिछले युद्ध में असुर अधिक संख्या में मारे गये, क्या इसी कारण?" शची ने बात का सिलसिला आगे बढ़ाया।

"यह बात नहीं है, शची! युद्ध में तो मनुष्य मृत्यु को साथ लेकर ही आगे बढ़ता है। आर्य अधिक मरे, या असुर अधिक मरे, इसका विचार नहीं। वीरता ही विजय-श्री का वरण करती है। इसलिए असुरों के अधिक आहत होने की बात और तज्जनित बैर को हम मन में रखते नहीं हैं।" वृत्र ने कहा।

"तब आर्यों का घमण्ड तुमको किस बात में दीख पड़ा?"

"महाराज पुलोमा का प्रतिनिधि-मण्डल आर्यों के क्षेत्र में जाये, और वहाँ उसके साथ अस्पृश्यों का-सा व्यवहार हो, यह आर्यों का घमण्ड नहीं तो और क्या है ?" वृत्र ने उत्तर दिया।

"असुर और आर्य एक दूसरे का बराबर स्पर्श करते रहें, इस बात का आग्रह क्यों ?"

"मेरा यह आग्रह नहीं। परन्तु जिस स्थान पर हम पाँव रखें, उसे अपवित्र माननेवाली जाति को घमण्डी न कहें तो और क्या कहा जाये ?" वृत्र ने स्थिरता से उत्तर दिया।

"हुँ....और तुमको अन्ध-श्रद्धा कहाँ दीख पड़ी ?"

"भगवान पशुपति, शंकर, जो सुर और असुर दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं, ऐसे महादेव की अवहेलना कर, इन्द्र, मरुत, वरुण और नासत्य, जिनका कभी हमने नाम भी नहीं सुना, ऐसे देवताओं का पूजन करना, और उनको यज्ञ-भाग निकालकर देना यह अन्ध-श्रद्धा नहीं तो और क्या है !"

"परन्तु इसमें असुरों का तिरस्कार कहाँ हुआ ?" शची ने पूछा।

"तुमको आर्यों के इस व्यवहार में तिरस्कार नहीं दिखायी देता, शची ! राजाधिराज पुलोमा के प्रतिनिधि-मण्डल को अस्पृश्य मानकर लौटा देनेवाले आर्यों ने मेरा ही नहीं, प्रतिनिधि-मण्डल का ही नहीं, सारी असुर-सत्ता के अग्रणी महाराज पुलोमा का भी आपमान किया है।" वृत्र के शब्दों में उत्तेजना थी।

"वृत्र ! आर्यों ने हमारी सत्ता को स्वीकार किया है न ?" शची ने शान्ति के साथ पूछा।

"हमारी सत्ता न स्वीकार करें, तो जायें कहाँ ! सिन्धु, सरस्वती, दृशद्वती, ये सब नदियाँ किस की हैं ? ये सब हमारे असुर साम्राज्य के जल-स्रोत हैं ! इनके किनारे पर रहना-जीना, और हमारी सत्ता को स्वीकार न करना, यह कहाँ का न्याय है ?" वृत्र उत्तेजित होकर ही बोल रहा था।

"इन नदियों के स्वामी कौन हैं वृत्र ? जिस प्रदेश में इनका मूल उद्गम है, वह, या मुहाना है, वह, या प्रवाह है, वह ?"

"यह सब हम नहीं जानते। हम तो इतना ही जानते हैं कि ये नदियाँ हमारी हैं, और हमारी इच्छा के विरुद्ध इन नदियों के तट पर कोई रह नहीं सकता।" वृत्र ने बात को पूरा करने का प्रयत्न किया।

"वृत्र ! हमें इच्छा होती है कि हम एक बार आर्य-संस्थानों में जायें, और यदि हो सके तो देव-भूमि को भी देख आयें।" शची ने कहा।

"तुमको वे अपनी भूमि में पैर न रखने देंगे। देव और आर्यों को युद्ध में हराकर अपना दास बनायें तभी यह संभव होगा। युद्ध के बिना कुछ हो नहीं सकता।" वृत्र ने उपाय सुझाया।

"आर्यों के साथ छोटे-मोटे युद्ध तो हुआ ही करते हैं न ? युद्ध के अतिरिक्त क्या और कोई मार्ग नहीं हो सकता ?" शची ने पूछा।

"दूसरा मार्ग तो यही हो सकता है कि हम आर्यों की विजय होने दें, और उनके दास बन जायें।"

"हम पराजित हों, यह तो असम्भव है। कहाँ हमारे चिरस्थायी विशाल राज्य और कहाँ आर्यों के छोटे-छोटे संस्थान ! इतने छोटे कि नदी में एक बार बाढ़ आने पर ही बह जायें।" शची ने कहा।

"शची ! तुम जैसा सोचती हो, आर्य-प्रजा वैसी कोमल नहीं है। और हम तो यह भी देख रहे हैं कि हिमालय के ऊपर और उसके पीछे के भाग में रहने-वाली देव जाति उनको हमारे विरुद्ध युद्ध करने का प्रोत्साहन दे रही है।" वृत्र ने एक महत्व की बात बतायी।

"देव कैसे होते हैं ?" शची ने पूछा।

"आदमी जैसे आदमी। हमारे ही जैसे ! केवल रंग में अधिक पांडुर और दीप्तिमान ! दूसरा कोई भेद नहीं।" वृत्र ने देवों का वर्णन किया।

"तुमने किसी देव को कभी देखा है ?"

"हाँ। अभी ही जब हम हमारे प्रतिनिधि-मंडल के साथ आर्य-संस्थान में गये थे, तब वहाँ देव-भाग लेने के लिए अश्विनीकुमारों का मंडल आया हुआ था। आर्यों ने उनका यथोचित सम्मान किया, और देव-भाग भी दिया। और हमारे साथ उन्होंने कैसा व्यवहार किया जानती हो ? हम तो पड़ौसी राज्य

हैं। उनके यज्ञ-कार्य में कोई बाधा नहीं डालते। फिर भी उन्होंने न तो हमारे साथ अच्छा व्यवहार किया, और न यज्ञ-भाग ही दिया।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"तुम तो किसी गुरु को आमन्त्रित कर लाने के लिए गये थे, भाग लेने नहीं!" शची ने प्रतिनिधि-मंडल भेजने का उद्देश्य बताया।

"दोनों कामों के लिए गये थे। यज्ञ-भाग लेने का हमारा अधिकार है। अधिकार न भी हो तो उसे स्थापित करना पड़ेगा। गुरु की माँग तो केवल तुम्हारे लिए थी। यद्यपि महाराज पुलोमा की भी यही इच्छा थी कि आर्यों के धर्म-कार्य, कर्म-काण्ड, और धर्म-विचारों को जानना और समझना चाहिए।"

"यदि हम किसी आर्य-बस्ती में जायें, तो क्या हो?"

"तुम अकेली जाओ, तो पकड़कर वे तुम्हें दासी बना लें, और यदि सेना लेकर जाओ, तो युद्ध हो। युद्ध भी कैसा? सर्वतोमुखी संग्राम! यदि उनका जीवन कठोर हो जाये, तो वे शत्रु को भी जीने न दें।" वृत्र ने आर्यों के युद्ध की परिपाटी बतायी।

"वृत्र! युद्ध तो ऐसा ही होना चाहिए न? परन्तु मैं तो युद्ध के बिना ही जाऊँगी।" शची ने अपना निश्चय प्रकट किया।

"पिताजी से पूछा?"

"पिताजी हमको ना न कहेंगे।"

"परन्तु तुमको अकेली भेजने का संकट वे शायद ही उठायें....। तुम वहाँ जाकर करोगी भी क्या? वहाँ क्या देखना है? कहो तो किसी संस्थान को ही उठाकर यहाँ ले आयें।" वृत्र ने अपने पुरुषार्थ की ओर संकेत किया।

"उनको बलात् पकड़ लाने से कहीं अच्छा यह होगा कि हमी लोग आर्यों के जीवित समाज में पहुँच जायें।"

"यदि तुम अकेली जाने का साहस करो, तो कदाचित् वे अपने यज्ञ में तुम्हारी बलि ही चढ़ा दें। सुनते हैं कि आर्य कभी-कभी नरमेध भी करते हैं। व्यर्थ का हठ मत करो।" वृत्र ने समझाया।

"यह डर है, तो तुम मेरे साथ आओ।" शची ने वृत्र को साथ आने का निमन्त्रण दिया।

"मैं तो जाने ही वाला हूँ। परन्तु मैं दूसरे ढंग से जाऊँगा। मैं आर्यों की बलि न बनूँगा। आर्य-बस्ती में पूरी तैयारी किये बिना जाना संकटपूर्ण है।" वृत्र ने कहा

"अच्छा, इसी बात को समझने के लिए तुमको यहाँ रोक रखा था। हम क्या करने जा रहे हैं, यह शीघ्र ही तुमको मालूम हो जायेगा। हो सकता है हम और तुम साथ ही निकलें।" कहकर शची खड़ी हो गयी। वृत्र भी उठा और दोनों लता-गृह से बाहर आये। वृत्र की ओर देखे बिना ही शची ने अपने पैर महल की ओर बढ़ाये। शक्ति का संचार करती गर्विष्ठा शची को वृत्र अनिमेष नेत्रों से देखता रहा।

इतने में वृक्ष-मंडप में से बिजली की तरह रक्षा निकल आयी, और उसने वृत्र से पूछा—"वृत्र! तुम दोनों की बातें पूरी हुई?"

"हाँ!" वृत्र ने उत्तर दिया।

"तब हमारे साथ इस ओर आओ। कोई भूला हुआ आर्य-यात्री तुमको, तुम्हारे नाम को खोज रहा है।"

"मुझे? मेरे नाम को? आर्य-यात्री? सो भी भूला हुआ? अरे, पणि-व्यापारियों में से तो कोई नहीं है?" वृत्र ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

"यह मैं क्या बताऊँ? तुम स्वयं आकर देखो; देखे बिना तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर मिलेंगे नहीं। चलो मेरे साथ।" कहती हुई रक्षा ने वृत्र का हाथ पकड़ा। लेकिन वृत्र ने धीरे से अपना हाथ छुड़ा लिया।

[५]

रक्षा और वृत्र राजमहल से बाहर आये। द्वार पर आते ही अदृश्य स्थान से निकलकर एक रक्षक ने दोनों को नमस्कार किया। बाहर के मैदान में कुछ लोगों का आना-जाना दीख पड़ता था, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम थी। एक किनारे रथ को खड़ाकर अपने थके हुए घोड़ों की गर्दन पर हाथ

फेरता हुआ एक रथी उनका रास्ता देख रहा था। उसने शस्त्र धारण किये थे, और देखने में वह साधारण कोटि का नहीं लगता था। उसकी ओर अंगुलि-निर्देश करके रक्षा ने कहा—"देखो, वही वह आर्य रथी है, जो तुमको खोज रहा है।"

"उसको यहाँ तक किसने आने दिया?" वृत्र ने पूछा।

"हमारे यहाँ आर्यों के आने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वे आते ही रहते हैं।" रक्षा ने उत्तर दिया।

"और जब भी आते हैं, तब शस्त्र बाँधकर आते हैं, मानों युद्ध करने के लिए ही आये हों! इनको बलात् हटाये बिना ये हटेंगे नहीं। कितना कहा महाराज से, परन्तु उनको तो आर्यों से कोई आशंका ही प्रतीत नहीं होती।" वृत्र बोला।

रक्षा और वृत्र द्वार की सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आये। उस आर्य रथी ने दोनों को गौरवपूर्ण ढंग से नमस्कार किया, जिसका उत्तर रक्षा और वृत्र ने नमस्कार द्वारा ही दिया।

"आप मुझे खोजते थे?" वृत्र ने पूछा।

"हाँ। वृत्र आप ही हैं?" रथी ने उत्तर दिया।

"जी। मैं ही हूँ। कभी आपके दर्शन हुए हों, ऐसा याद नहीं पड़ता।" वृत्र ने कहा।

"नहीं, मिलने का सौभाग्य तो नहीं हुआ, परन्तु आर्य-संस्थान और असुर-प्रदेश में कौन है जो वृत्र को नहीं जानता?"

"मैं तो महाराज पुलोमा का एक छोटा-सा अनुयायी हूँ। कहिए, मुझे याद करने की क्या आवश्यकता पड़ी?" वृत्र ने प्रश्न किया।

"मैंने सुना है कि आर्यों ने आपका अपमान किया है।"

"हाँ, यह बात सच है।"

"यह एक बहुत ही छोटी बात...."

"आर्यों की दृष्टि में असुरों की अवगणना भले ही छोटी बात हो...."

"नहीं-नहीं। वृत्रराज! मैं तो आर्यों की क्षुद्रता का विचार कर रहा था।

गुरुजनों को यहाँ भेजा होता, तो नुकसान ही क्या था ? आर्यों के वेद का विस्तार ही होता।"

वृत्र यह सुनकर विचार में पड़ गया। आर्य होकर यह रथी स्वयं आर्यों की निन्दा क्यों करता है, यह उसकी समझ में न आया।

"किस उद्देश्य से आना हुआ, आर्य ?" वृत्र ने सीधा प्रश्न पूछा।

"उद्देश्य बता ही दूँ। आज तीसरे पहर यहाँ होनेवाली स्पर्धा देखने की मेरी इच्छा है।"

"यही एक उद्देश्य तो न होगा।"

"नहीं। दूसरा उद्देश्य खेल हो जाने के बाद बताऊँगा।"

"आर्य ! स्पर्धा में भाग लेने की इच्छा है ?"

"जैसा प्रसंग ! जैसा रंग ! मेरी बराबरी करनेवाला कोई निकल आया, और आप सब की अनुमति मिली तो मैदान में उतर भी सकता हूँ।" आर्य ने उत्तर दिया।

"जैसी इच्छा ! मैं अमात्यवर क्रतु से आज्ञा ले लूँगा।" वृत्र ने कहा।

"मैंने तो सुना है कि इन स्पर्धाओं की सारी योजना आपके ही हाथ में है।"

"हाँ, यह सच है। परन्तु इस उत्सव में आर्यों को सम्मिलित होने की अनुमति देने या न देने के सम्बन्ध में हमें उनकी आज्ञा लेनी पड़ेगी।"

"वृत्रराज ! आज्ञा-पालन के आप बड़े पक्षपाती मालूम पड़ते हैं।"

"अवश्य। आज्ञा का उल्लंघन यहाँ हो नहीं सकता, परन्तु आपको इस बात का विश्वास देता हूँ कि आपके लिए अनुमति प्राप्त करने का मैं पूरा प्रयत्न करूँगा। हमारी असुर-संस्कृति अनुदार नहीं है।"

"यह समझकर ही तो मैं यहाँ आया हूँ।"

"तो आपके रहने-ठहरने की व्यवस्था कर दूँ ?"

"नहीं, मैं भी आर्यों के प्रतिनिधि-मण्डल के साथ आया हूँ।"

"लेकिन उनके साथ तो मैंने आपको देखा नहीं।"

"हमारे कार्यक्षेत्र भिन्न हैं। पणियों को व्यापार करना है, मुझे नहीं।"

"आपका नाम ?"

"नहुष ।"

नाम सुनकर वृत्र ने उस आर्य को ध्यान से देखा । नहुष एक शक्तिशाली आर्य-संस्थान का नृपति था । कुछ समय पहले उसी ने असुर-साम्राज्य के वैदुर्य विभाग के शासक असुर-नायक हुंडा का वध किया था । हुंडा के विरुद्ध जब नहुष ने चढ़ाई की तब हुंडा ने असुर-सम्राट् पुलोमा से सहायता की प्रार्थना की थी । महाराज की आज्ञा पाकर क्रतु एक विशालवाहिनी लेकर हुंडा की मदद के लिए गया था; परन्तु पुलोमा को जब यह मालूम हुआ कि हुंडा ने एक पर्वत-कन्या अशोकसुन्दरी का हरणकर उसे अपने पास बन्दी बनाकर रखा है, और इसी कारण आर्यों ने उसके ऊपर चढ़ाई की है, तो उन्होंने क्रतु को युद्ध करने से रोक दिया, और हुंडा को आज्ञा दी कि वह अशोकसुन्दरी को छोड़ दे, और उसे अपनी इच्छा के अनुसार लग्न करने दे । हुंडा ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया । इसलिए क्रतु की सेना दूर ही खड़ी रही, और नहुष ने आक्रमणकर भयंकर युद्ध किया । इस लड़ाई में हुंडा नहुष के हाथों मारा गया, और अशोकसुन्दरी की इच्छानुसार नहुष ने उसे कारागार से मुक्त कर दिया ।

यहाँ तक तो इस युद्ध में पुलोमा की सेना ने कोई हिस्सा नहीं लिया। परन्तु जब नहुष ने हुंडा-द्वारा शासित असुर-प्रदेश पर अपनी सत्ता जमाने का विचार किया, तब क्रतु ने अपनी सेना को आगे बढ़ने का आदेश दिया, और देखते-ही-देखते असुर वीरों ने वैदुर्य नगर और वैदुर्य-प्रदेश से नहुष को बाहर निकाल दिया । इस अवसर पर नहुष ने आर्यों के देवगण के नेता इन्द्र से सहायता माँगी । यद्यपि इन्द्र नहुष का मित्र था, तथापि देवगण ने उसको विशेष मदद नहीं दी और नहुष की पराजय हुई । वह इस बात को भूला नहीं और तब से असुरों की मैत्री प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा । वृत्र जैसे कार्यदक्ष असुर-सेनानी के ध्यान में ये सब बातें आ चुकी थीं । असुर-प्रजा भी नहुष को भली भाँति जानती थी । अतः सीधे-सादे पणियों के प्रतिनिधि-मंडल के साथ आये हुए नहुष को देखकर वृत्र को आश्चर्य हुआ ।

"नाम सुनकर आप आश्चर्य में पड़ गये ?" वृत्र की मुखाकृति को देख-

कर नहुष ने पूछा।

"आर्यों की प्रवृत्ति वास्तव में आश्चर्यजनक है।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"परन्तु आप कदाचित् न मानें फिर भी हम आर्यों की कभी-कभी यह इच्छा होती है कि आपसे कुछ सीखें। जितना आप हमारे अधिक निकट आयेंगे, उतना ही आप हमें पसन्द करेंगे।" नहुष ने शान्तिपूर्वक कहा।

"अच्छा, आर्यों के अथवा देवों के गुप्तचर के रूप में भी यदि आप यहाँ आये हों, तब भी हमारा यह धर्म है कि हम आपका सत्कार करें। कहिए आपके रहने की व्यवस्था प्रतिनिधि-मण्डल के साथ की जाये अथवा पृथक्?"

"मण्डल के साथ ही मेरा रहना ठीक है। इधर-उधर कुछ घूमने को मिल जाता है। मेरी एक मात्र प्रार्थना है कि मुझे प्रतिनिधि-मण्डल के साथ आज के उत्सव में न बुलाया जाये बल्कि पृथक् निमन्त्रण भिजवा दें।" नहुष ने कहा।

"अच्छा। आयें आप मण्डल के साथ ही, परन्तु स्थान आपका पृथक् रहेगा।" वृत्र ने कहा।

एक दूसरे को नमस्कार कर दोनों अपने-अपने स्थान को चले। जाते-जाते और बीच में भी नहुष की दृष्टि रक्षा की ओर पड़ती रही। पुरुष जहाँ भी हो, स्त्री-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता; फिर भले ही वह आर्य स्त्री का सौन्दर्य हो, अथवा अनार्य स्त्री का!

"आर्यों को इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक अपने नगरों में क्यों घूमने देते हैं?" लौटते हुए रक्षा ने वृत्र से पूछा।

"भय उनको है—हमको नहीं।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"सच पूछिए तो उनसे भय हमको है।" रक्षा ने कहा।

"क्यों? बल में हम उनसे अधिक बढ़े-चढ़े हैं।"

"परन्तु युक्ति में तो नहीं न? हमें इस बात का डर है कि युक्ति कहीं बल को पराजित न कर दे।" रक्षा ने अपना संशय व्यक्त किया।

"शची के साथ रहकर तुमको यह भय की शिक्षा कहाँ मिली?" वृत्र ने सहज हँसकर पूछा।

"मुझे अधिक भय लगता है तुम्हारे लिए।"

"कारण ?"

"आर्यों को सबसे अधिक भय तुमसे है....और...."

"क्या ? बोले जाओ। रुकी क्यों ?"

"और वे किसी-न-किसी प्रकार तुमको फँसाकर बलि चढ़ा देंगे।"

"तुम यह आशीर्वाद देती हो अथवा मेरा भविष्य बताती हो ?" वृत्र ने जरा हँसकर पूछा।

"मैं तो तुम्हारे लिए भय देख रहीहूँ।"

"शची क्या सोचती है ?"

"यह शची से ही क्यों नहीं पूछते ? उससे तुम्हारी बोल-चाल तो बन्द नहीं है !" रत्ना ने कुछ क्रुद्ध होकर कहा।

"मैं बोल-चाल कैसे बन्द कर सकता हूँ ? वह राजकुमारी है; वह चाहे तो मुझसे न बोले। मैं तो एक साधारण सैनिक हूँ।"

"इसी लिए तुमको बेलि-गृह में बुलाया था !"

"हूँ....हमें और शची को आर्य-संस्थानों में भटकने की इच्छा हुई है। सेना-पति बनाने के बदले मुझे सन्देशवाहक या गुप्तचर बनाया जाये, तो कैसा रहे !"

"तब तो तुम्हें बलि चढ़ाने के लिए तरसनेवाले आर्यों को अच्छा अवसर मिल जायेगा, ठीक है न ?"

"मुझे बलि चढ़ाने के पहले कितने ही आर्य और देव बलि चढ़ जायेंगे।"

"यह नया आया हुआ आर्य पर्यटक—नहुष—तुमको धोखा देने आया है, यह तुम जानते हो ?"

"मुझे ? मुझे धोखा देने से उसे क्या मिलेगा ?"

"देखना तुम्हारे साथ वह कैसा कपट करता है ! तुम्हें आर्य बनाने का लालच भी देगा !"

"मुझे आर्य क्यों बनना पड़े ? मेरा असुरत्व क्या बुरा है ?"

"मैं यह कब कहती हूँ कि तुम्हारा असुरत्व बुरा है ? परन्तु वृत्र ! तुम्हारी कुशलता की मुझे इतनी उत्कण्ठा क्यों रहती है, यह तुम्हारी समझ में आया ?

मैं सच कहती हूँ कि जब तुम भार्गव-संस्थान में गये थे, तब एक रात भी मैं सोयी नहीं।" रत्ना ने कहा और एक बार वृत्र को देखकर अपनी दृष्टि हटा ली।

"असुर स्त्रियाँ यदि इस प्रकार असुर पुरुषों की चिन्ता करने लगेंगी, तो वे युद्ध में कैसे जायेंगे!" वृत्र ने प्रश्न किया।

"यह तो स्त्रियाँ ही जानें। मैं तो अभी कुमारी हूँ। जब मैं स्त्री बनूँ, तब यह प्रश्न करना।" रत्ना ने उत्तर दिया।

"रत्ना, रत्ना! मुझे किस ओर ले जा रही हो?"

"इसे तुम नहीं समझ सकते।"

"भला क्यों?"

"मैं नहर के प्रवाह में क्यों गिरी, इसे तुम जानते हो?"

"तुम फाँद न सकी।"

"तुम्हारा यही खयाल है?"

"और नहीं तो क्या? हमें आश्चर्य अवश्य हुआ कि तुम पानी में गिरी कैसे? फाँदने की तुम्हारी शक्ति किसी से छिपी नहीं। इससे भी चौड़ा जल-विस्तार तुम कई बार फाँद गयी हो। तुम्हें फाँदते देखकर हम सबके जी उड़ जाते हैं।"

"मेरे लिए कभी तुम्हें चिन्ता होती है?"

"न होती तो मैं पानी में कूदता क्यों?"

"मैं बताऊँ, वृत्र! मैंने तुमको दूर से देखा था। तुम मेरी ओर दौड़ आओ, इसी लिए मैं पानी में गिर पड़ी थी।"

"और कदाचित् नहुष को भी तुम्ही मेरे पास लायी हो; बताओ?"

"हो सकता है! तुम अधिक समय तक हमारे पास रहो, ऐसी हमारी प्रबल इच्छा रहती है।"

वृत्र ने एक बार ध्यान से रत्ना को देखा, और हँसकर कहा—"अच्छा, अब जाओ। शची तुमको याद करती होगी। उसको छोड़कर आये काफी देर हुई।"

"जब देखो तब शची ही तुमको याद आती है, क्यों?"

"कारण किसी समय बताऊँगा। अब चलूँ मैदान की ओर। बहुत काम बाकी है। रत्ना, उत्सव में आओगी न?"

"आना ही पड़ेगा। देखना, कहीं वह आर्य नहुष असुरों को हरा न दे !" रक्षा ने कहा, और वहीं खड़ी रह गयी।

वहाँ से जाने के पहले वृत्र ने रक्षा को पुनः ध्यान से देखा। आज वह कुछ बदली हुई-सी लग रही थी। उसके मधुर भाषण और नैसर्गिक सरलता के पीछे गाम्भीर्य दीख पड़ता था। असुर कन्या जब गम्भीरता धारण करे, तब समझ लेना चाहिए कि उसके हृदय में प्रेम अथवा वैर के अंकुर फूट रहे हैं।

वृत्र ने अभी तक किसी युवती के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित नहीं किया था। प्रेम के लिए उसे फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी। सर्वदा राज्य-कार्य में व्यस्त रहनेवाले इस असुर-युवक को प्रेम करने के लिए समय ही कहाँ था !

परन्तु रक्षा का कहना उसे याद आया। शची का स्मरण उसे बार-बार हुआ करता था। यह बात सच थी। वृत्र ने कम्प का अनुभव किया। शची उसे वास्तव में बहुत प्रिय लगने लगी थी।

और क्या शची भी उसे चाहती थी? केलि-गृह में उसने बुलाया, और आर्य आश्रमों में अपने साथ चलने का आमन्त्रण दिया, इसका क्या अर्थ? लेकिन शची के मन के भाव को समझना इतना सरल न था।

परन्तु रक्षा तो उससे प्रेम करने लगी है, इस बात का वृत्र को विश्वास हो गया।

"अब आगे क्या होगा?" उसके मन में विचार आया।

विचारमग्न वृत्र आगे बढ़ा। मार्ग में अमात्य क्रतु से भेंट हो गयी। क्रतु के मुख पर व्यग्रता दीख पड़ती थी।

"वृत्र ! तुम हो?"

"जी हाँ !" वृत्र ने अमात्य को नमस्कार करके उत्तर दिया।

"हम जानते ही थे कि आर्यों के पीछे लगी आफत भी चली आयेगी।"

"मैं समझा नहीं?"

"अरे, वह नहुष यहाँ आया है न। वही जिसने वैदुर्यनगर को ध्वंस किया था।"

"परन्तु अकेला है, सेना-रहित। प्रतिनिधि-मण्डल के साथ आया है।

"हम विश्वास नहीं करते।"

"बुरे समाचार तो मिले नहीं हैं। सेना साथ में होती तो बात छिपी न रहती।"

"खैर, उसकी प्रवृत्तियों पर तुम स्वयं नजर रखना।"

"जैसी आज्ञा। परन्तु वह आज हमारी स्पर्धा के खेल देखना चाहता है और सो भी विशेष निमन्त्रण के साथ।" वृत्र ने कहा, और क्रतु की ओर ध्यान से देखा।

"आने दो! निमन्त्रण दे देना। परन्तु देखना, वह कोई नयी बात लेकर आया होगा।" क्रतु ने विचार करके उत्तर दिया।

"हमें आश्चर्य में डाल दे, ऐसी कौन-सी वस्तु आर्यों के पास है?" वृत्र ने पूछा।

"यह हमसे न पूछो। महाराज पुलोमा से ही पूछना। आर्यों के प्रति उनका मोह दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। परन्तु इतना कहे देता हूँ कि जब तक नहुष यहाँ है, तब तक आँखें बन्द न रखना।" क्रतु ने कहा और वृत्र को साथ लेकर राजमहल की ओर चला गया।

[६]

हरियुपीय नगर में काफी हलचल थी। आज यहाँ व्यायाम महोत्सव होने वाला है, जिसे देखने के लिए दूर-दूर से असंख्य नर-नारी आ रहे हैं। तीसरा पहर होते-होते तो सारा मैदान प्रेक्षकों से भर गया। जब-जब असुर-राज्यों की महासभा का अधिवेशन होता, तब-तब दिन में वहाँ व्यायाम की स्पर्धा हुआ करती, और रात्रि में समूह-नृत्य का आयोजन होता। आज भी वैसा ही एक प्रसंग था।

उस समय जम्बुद्वीप में सुर, असुर और आर्य-जाति के समूह भूमि की शोध में इधर-उधर घूमा करते, और अपने लिए योग्य स्थान पाकर वहीं बस जाते।

इन संस्थानों की व्यवस्था के नये-नये प्रयोग होते, जिनके परिणामस्वरूप अनेक राज्यों की स्थापना हो जाती। यहीं नये सामाजिक जीवन की नींव पड़ती। जहाँ ये जातियाँ समन्वय का मार्ग ग्रहण करतीं, वहाँ शान्ति और अभ्युदय दीख पड़ता। परन्तु जहाँ ऐसा न होता, वहाँ भयंकर युद्ध और संहार होते थे। राज-दरबारों में कूटनीति का व्यवहार होता, और समय आने पर समाधान वृत्ति का भी आश्रय लिया जाता। असुरों का महाराज्य यद्यपि भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त था, तथापि उसका विस्तार हिमालय से लेकर पश्चिम की ओर भूमध्य-समुद्र तक फैला हुआ था, और इस विशाल भूखण्ड को कुछ असुर नरेश सम्राट् पुलोमा के नेतृत्व में समृद्धिशाली बना रहे थे।

हिमालय के पूर्व और उत्तर में जो सुन्दर प्रदेश स्थित है, उसमें गौर वर्ण के आर्यों ने अपने सुव्यवस्थित संस्थान स्थापित कर लिये थे। इस भाग को वे दिव्य प्रकाशित देव-भूमि कहते थे—और अन्य जातियों से भी इस मान्यता की पुष्टि कराने का प्रयत्न करते रहते थे। यहाँ उन्होंने बड़े-बड़े नगर स्थापित किये थे, और सारे प्रदेश को देव-समूहों में विभक्त करके अपना राज्य सुचारु रूप से चलाते थे। अपने महाराज—सम्राट्—को उन्होंने इन्द्र का पद प्रदान किया था, और इस इन्द्रासन पर विराजने का अधिकार उसी युवक को होता, जो उनके समूहों में सबसे योग्य और शक्तिशाली सिद्ध होता था!

परन्तु आर्यों का विस्तार इतने से ही रुका नहीं। उत्तर, पश्चिम और पूर्व दिशा से आर्यों के यूथ के-यूथ आते ही गये, और देवभूमि उनकी आवश्यकता के लिए छोटी पड़ने लगी। धीरे-धीरे वे आगे बढ़े और जम्बुद्वीप में भटकते-भटकते भारत के सप्त-सिन्धु प्रदेश में पहुँचे। यह स्थान रमणीय था, और सुविधाओं से पूर्ण भी। आर्य-वृन्द यहाँ पहुँचकर प्रसन्न हो गये, और देव-आर्यों की सहायता से यहाँ देखते-ही-देखते आर्यों के अनेक मनोरम संस्थान स्थापित हो गये। इस भाग में असुरों की बस्ती पहले से थी, और वहाँ की व्यवस्था भी उन्हीं के राजा करते थे। नवागन्तुक आर्यों का उनसे संघर्ष होना स्वाभाविक था। अपने संस्थानों की रक्षा के लिए आर्य-जातियों को कभी-कभी असुरों से मैत्री करनी पड़ती, और कभी-कभी युद्ध में भी उतरना

पड़ता। ऐसे युद्ध में देव—देवता—उनकी सहायता करते। इस प्रकार की सहायता-रक्षा के उपलक्ष में आर्य देवताओं को देव-भाग प्रदान करते। असुर नरेशों को उनके इस कार्य के प्रति बड़ी आपत्ति थी। अपने राज्य में रहनेवाली प्रजा उनको राज-भाग न दे, और राज्य के शत्रु देवताओं को भेंट देने के लिए उत्सुक हो, यह परिस्थिति राजनीति की दृष्टि से भी असह्य थी। इसलिए जब कभी आर्यों से उनका राज-भाग न मिलता, तब असुरों का आर्य और उनके सहायक देवों से कठिन विवाद छिड़ जाता, जो कभी-कभी युद्ध के रूप में भी परिणत हो जाता था।

बीच-बीच में समाधान और सद्भावना का भी समय आया करता, जब आर्य और असुर आपस में मिलते-जुलते थे। परन्तु ऐसे प्रसंग बहुत कम आते। शान्ति के समय यद्यपि एक-दूसरे की बस्तियों में आना-जाना बहुत बढ़ जाता, तथापि शंका की छाया सर्वत्र छायी रहती। आर्य असुरों का विश्वास न करते, और असुर आर्यों से शंकित रहते। सच्चा स्नेह उनमें जाग्रत हुआ ही नहीं। आर्य, देव और असुरों के जीवन-स्रोत ने कभी त्रिवेणी का रूप धारण न किया—यद्यपि इसके लिए प्रयत्न तो सतत होते ही रहते थे। पुलोमा के राज्य-काल में देवों और असुरों के बीच अनेक युद्ध हुए, जिनमें आर्य-जातियाँ स्पष्ट रूप से देवों की सहायता करती रहीं। त्वष्टा नाम के एक महान् आर्य-स्थपति ने बीच-बचाव न किया होता तो पुलोमा का क्रोध आर्यों पर भी उतरता, और आर्य-संस्थानों में भी युद्धाग्नि भड़क उठती। त्वष्टा के प्रयत्न से पुलोमा और उनके कुटुम्बी-जनों के मन में आर्य-संस्कृति को समझने की, और हो सके तो उससे समन्वय स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई। परन्तु आर्यों को इससे सन्तोष न हुआ। क्योंकि जिन स्थानों को वे पुलोमा से चाहते थे, वे उन्हें मिल नहीं सके थे। इसलिए वे क्षुब्ध ही रहे। यह क्षोभ धीरे-धीरे इतना बढ़ गया कि उनके कार्यों में इसका असर प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगा। पुलोमा के आदेशानुसार असुरों का एक प्रतिनिधि-मण्डल वृत्र के नेतृत्व में आर्य आचार्य और गुरुजनों को सम्मानपूर्वक असुर राजधानी में ले आने के लिए जब आर्य बस्तियों में गया, तब वहाँ उसका योग्य सत्कार भी न हुआ।

असुर महासभा में इस बात का उल्लेख भी हुआ और प्रतिनिधियों के मुख पर उसकी प्रतिक्रिया भी देखी गयी। महासभा के अधिवेशन के समय जो और स्पर्धाएँ होतीं, उन्होंने धीरे-धीरे राष्ट्रीय उत्सव का रूप धारण कर लिया था। इसमें भाग लेने के लिए समस्त असुर-प्रदेश के खिलाड़ी और निष्णात आते, और गतवर्ष की शारीरिक उन्नति का लेखा उपस्थित कर नये वर्ष की प्रगति का मूल्यांकन करते। सेनानायक, राजनीतिज्ञ और विद्वान भी आते। असुर राजकुटुम्ब विशेष रूप से इस समारम्भ में उपस्थित रहते। प्रजाजन तो खेल-कूद के अद्भुत प्रयोग देखने के लिए एकत्रित होते ही थे। बीच में रंगमंच के मैदान की रचना कर उसके चारों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था की जाती थी। आमन्त्रित महत्त्वपूर्ण मेहमानों के लिए राज-कुटुम्ब के साथ बैठने का विशेष प्रबन्ध किया जाता था। प्रवेश के लिए व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को चाक मिट्टी की छोटी-छोटी मुद्रांकित पट्टियाँ दी जाती थीं*। बालकों और किशोरों के लिए यह प्रसंग मेले का स्वरूप धारण कर लेता। यहाँ चतुर कारीगर मिट्टी के खिलौने, धातु तथा लकड़ी की सुन्दर मूर्तियाँ और जानवरों की आकर्षक आकृतियाँ बनाकर ले आते, और समारम्भ पूरा होते-होते सब बेचकर चले जाते थे। अन्य देशों के कलाकार भी अपनी कला के सुन्दर नमूने लेकर आते और उनका प्रदर्शन करते थे। असुर-प्रदेश की प्रजा तो यहाँ आती ही थी। आर्य और आदिवासी भी अत्यल्प संख्या में दृष्टिगोचर होते थे। वे भी आवश्यक वस्तुएँ खरीदते और खेल-कूद का आनन्द लेते थे। असुर जातियों को छोड़कर अन्य सब जातियों के लोगों को इस उत्सव में भाग लेने के लिए राज्य से अनुमति लेनी पड़ती थी। परदेशी दर्शकों का आना विशेष करके जासूसी के लिए हुआ करता है, ऐसी मान्यता असुर-प्रदेशों में व्याप्त थी, इसलिए उनके साथ केवल औपचारिक व्यवहार होता था।

तीसरा पहर होते-होते रंगमंच के आस-पास के स्थान ठसाठस भर गये। खेल-कूद के मैदान में असुर व्यवस्थापक व्यवस्था-कार्य में व्यस्त दिखायी

---

*हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में जो मुद्रांकित पट्टियाँ मिली हैं, उनके आधार पर यह कल्पना की गयी है।

पड़ते थे। राजसभा के सभासद भी धीरे-धीरे आ रहे थे, और अपने सम्मानित स्थानों पर बैठ रहे थे। अलंकारों से सजे हुए असुर-नरेश और अन्य राजपुरुष भी आकर अपने पूर्व निश्चित स्थानों पर आसीन हो रहे थे। जनता अपने महान पुरुषों को पहचानने का प्रयत्न करती, और कभी-कभी किसी महत्व के व्यक्ति को आते देख हर्षनाद से उसका स्वागत करती। आज की क्रीड़ाओं के विषय में नाना प्रकार की कल्पनाएँ हो रही थीं। कसरत में रस लेनेवाले नवयुवक और युवतियों के वृन्द इनसे नयी चेतना प्राप्त करते थे। उनमें से बहुतों के मन में रंगमंच पर जाकर अपने कौशल दिखाने की महत्वाकांक्षा जाग्रत होती थी। इतने ही में दर्शकों के कोलाहल को शान्त करने के लिए प्रचण्ड घंटानाद किया गया—एक बार, दो बार और तीसरी बार। तृतीय घंटानाद होने के साथ-ही-साथ लोगों ने देखा कि असुर-सम्राट् पुलोमा, उनकी पत्नी शामकेशी, और उनकी एकमात्र सन्तान राजकुमारी शची पौलोमी राजसिंहासन के सामने आकर खड़े हो गये, और अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। सारे दर्शक-समूह ने उठकर हर्षनाद के साथ राजकुटुम्ब को नमस्कार किया। महाराज पुलोमा के सन्निकट शची के साथ सम्मानपूर्वक बिठाये गये एक युवक को किसी ने पहचाना नहीं! आर्यों की-सी उसकी वेश-भूषा थी। इस अज्ञात व्यक्ति के विषय में सर्वत्र तर्क-वितर्क होने लगा।

प्रचंड देहवाला वृत्र मैदान में आकर खड़ा हो गया, और उसने पुलोमा को नमस्कार किया। पुनः घंटानाद हुआ जो कार्यक्रम के प्रारम्भ का सूचक था। सब दर्शकों की दृष्टि वृत्र और मैदान की ओर लग गयी। हजारों दर्शकों की भीड़ का कोलाहल शान्त हो गया और सर्वत्र शान्ति व्याप्त हो गयी। असुर मल्लों की जोड़ियों ने कुश्ती की करामातें दिखाना प्रारम्भ कीं। असुर-प्रदेश के विविध विभागों से आये हुए विख्यात व्यायाम-वीरों ने अपनी-अपनी शारीरिक शक्ति और चपलता के विस्मयकारी प्रयोग दिखाये, और जनता को जय-पराजय की विचित्रता का अनुभव कराया।

इसके बाद बलिष्ठ वृषभों का द्वन्द्व-युद्ध शुरू हुआ। विशाल देह, वज्र जैसे शृंग और लटकती हुई कंठ-झूल धारण करनेवाले वृषभों के बल को देख-

कर प्रेक्षक अवाक् रह गये। वृषभ सामर्थ्य का अवतार माना जाता था; और जब एक सामर्थ्य दूसरे सामर्थ्य से युद्ध करे, तब दृश्य विस्मयकारी हो, यह स्वाभाविक ही है। गर्जना करते हुए वृषभों के शृंगों की कड़कड़ाहट, मस्तकों की टक्कर, और एक दूसरे को पीछे ठेलने के प्रबल प्रयत्नों को देखकर दर्शकगण चकित रह गये।

इसके बाद शस्त्र-विद्या के अद्भुत कौशल उपस्थित किये गये। कई तरह के गदा-युद्ध हुए। बाण चलाने के आश्चर्यजनक प्रयोग दिखाये गये। भाला, तलवार और लाठी की पटेबाजियाँ हुईं। देखनेवालों को यह सब बड़ा ही आकर्षक लगा। वीरत्व के खोजियों को इन स्पर्धाओं में वीरता के अनुकरणीय प्रयोग देखने को मिले।

गैंड़ों को चिढ़ाकर उनके आक्रमण से कुशलतापूर्वक बचनेवाले एक खिलाड़ी पर यकायक गैंड़े टूट पड़े। क्रुद्ध गैंड़ों का यह आक्रमण भयंकर था। निकलने का मार्ग न होने से खिलाड़ी फँस गया, और दर्शकों को यह विश्वास हो गया कि ये क्रूर प्राणी उसको क्षण-भर में चीर डालेंगे। एक विशिष्ट स्थान पर खड़े होकर सब स्पर्धाओं का नियमन करनेवाले वृत्र ने स्थिति की गम्भीरता देखी, और वह बिजली की त्वरा से गर्जन करता हुआ खिलाड़ी और गैंड़ों के बीच में पहुँच गया। वृत्र ने अपने अतिमानुषी बल से गैंड़ों को परे ठेल दिया, और उस खिलाड़ी को बचा लिया। समस्त प्रेक्षक-समुदाय ने हर्षनाद किया। राजकुटुम्ब ने भी इस कार्य में सहयोग दिया।

हर्षनाद के शान्त होते ही दो हाथियों का द्वन्द्व शुरू हुआ।

इस द्वन्द्व के पूर्ण होने पर वृत्र ने ऊँची आवाज में इस विषय की घोषणा की कि आर्य-नृपति नहुष अपने अश्वों की कुछ क्रीड़ाएँ दर्शकों के सामने उपस्थित करेंगे। प्रेक्षकों की दृष्टि एक साथ राजकुटुम्ब की ओर गयी। वहाँ बैठा हुआ अज्ञात व्यक्ति आर्य-नरेश नहुष है, यह बात उनको अब मालूम हुई। नहुष अपने स्थान से उठा और अदृश्य हो गया। थोड़ी ही देर में वह अपने रथ के साथ मैदान में आया। अश्वों द्वारा उसने रथ के चित्र-विचित्र आवर्तन किये। रथ चलाने की कला में आर्यों का कौशल बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। असुर

प्रजा नहुष के इस अश्व-कौशल को देखकर विस्मय-विमुग्ध रह गयी।

इसके बाद अश्वों के ऊपर हाथी, वृषभ और गैंड़ों के आक्रमणों का आयोजन हुआ। रथ और अश्व की गति पर अद्‌भुत नियन्त्रण होने के कारण नहुष ने इन आक्रमणों को व्यर्थ कर दिया। उसकी यह अश्व-कला देखकर असुर-प्रेक्षक विस्मित हो गये। हाथी जैसे समझदार, वृषभ जैसे बलवान, और गैंड़े जैसे वज्रदेही प्राणी को थकाकर निष्क्रिय बनानेवाले चपल घोड़े और रथ जिस सरलता से अपने को बचा लेते थे, वह आश्चर्य का ही विषय था। अभी तक असुर-प्रजा अश्व और रथ का प्रयोग कम करती थी। इधर कुछ समय से यद्यपि आर्यों के अश्व तथा रथ के चमत्कार से प्रभावित होकर असुरवाहिनी में भी अश्व-सेना और रथ-सेना की कुछ टुकड़ियाँ रखी गयीं थीं, तथापि यह निर्विवाद था कि असुर अभी तक अश्व-विद्या में आर्यों की बराबरी नहीं कर सकते। प्रेक्षकों को आश्चर्यचकित देखकर नहुष के आर्य-हृदय में गर्व जागृत हुआ, घोड़ों की गति को रोककर वह रथ में खड़ा हो गया, और एक बार चारों ओर दृष्टि घुमाकर उसने घोषणा की—"मेरे अश्वों को वश में रखकर मेरे दिखाये हुए खेलों में से एक भी खेल कोई करके दिखा दे, तो मैं उसे अपना यह हीरे का हार भेंट में दूँगा।"

आर्य नहुष को इस बात का अभिमान था कि उसके सिवा अन्य कोई भी व्यक्ति उसके तेजस्वी अश्वों को वश में नहीं रख सकता। और यदि अश्व पर ही नियन्त्रण न रहे, तो रथ की एक भी क्रीड़ा दिखाना असम्भव था। उसने पुनः गर्व से प्रेक्षकों की ओर देखा। सामान्य प्रेक्षक-वर्ग में शान्ति छा गयी। इतने ही में महाराज पुलोमा के पास बैठी हुई राजकुमारी शची खड़ी हो गयी, और उसने नहुष के आह्वान को स्वीकार करते हुए उत्तर दिया—"यह चुनौती मुझे स्वीकार है, हीरों के हार के प्रलोभन के बिना।"

नहुष के आश्चर्य की सीमा न रही। प्रेक्षकों को भी आश्चर्य हुआ। पवन-वेग से उड़नेवाले इन अश्वों को राजकुमारी शची अपने नियन्त्रण में रख सकेगी? सब के मन में यही प्रश्न उठा।

"राजकुमारी को कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। मैं तो बराबर खड़ा

ही रहा हूँ। इसका अर्थ यही है कि इस मैदान में होनेवाली प्रत्येक क्रिया को मैं कर सकता हूँ। अश्वों को मैं अपने हाथ में लेता हूँ।" दूर खड़े हुए वृत्र ने आगे आकर कहा।

प्रेक्षकों का आश्चर्य बढ़ गया।

"दुराग्रह से घोड़े हाथ में रहेंगे नहीं, वृत्र !" नहुष ने कहा।

"जिस क्षण मुझे ऐसा प्रतीत होगा, उसी क्षण मैं अपना सेनापति पद छोड़ दूँगा और सर्वदा के लिए इस व्यायाम-स्थल की व्यवस्था दूसरे को सौंप दूँगा।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"परन्तु चुनौती को पहले मैंने स्वीकार किया है; मुझे ही इस काम को करने का अवसर दिया जाये।" शची ने आग्रह किया।

शची से आर्य-गर्व का मुँह-तोड़ उत्तर सुनकर असुर-प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हुई। यदि यह काम कोमलांगी शची से न हुआ तो? वृत्र को ही यह काम सौंपना उचित था। वह अद्वितीय वीर था। आर्य-अश्वों को वही हाथ में ले, यही सब की इच्छा थी।

परन्तु शची ने अपना आग्रह न छोड़ा। असुर-युवतियाँ असुर-युवकों से किसी बात में कम न थीं—बल में और आयुध-निपुणता में, ऐसा भाव व्यक्त करती हुई शची दृढ़ता से खड़ी थी, और अपने पिता की अनुमति की प्रतीक्षा कर रही थी। महाराज पुलोमा ने वृत्र की ओर देखा, और फिर शची की ओर भी दृष्टि डाली।

"आह्वान को पहले शची ने स्वीकार किया है। उसी को मैदान में उतरने की हम आज्ञा देते हैं।" महाराज ने अपना निर्णय सुनाया।

वीरांगना वीर-छटा से मैदान में उतर आयी। प्रेक्षकों के हृदय भय तथा शंका से भर गये। अग्नि समान प्रज्वलित अश्वों को शची के कोमल हाथ कैसे नियन्त्रण में रख सकेंगे! शची की छटा ने नहुष के चित्त को भी आकर्षित किया।

"कुमारी! आपके आगमन-मात्र से मेरी चुनौती पूरी हुई। मेरा हार आपकी भेंट है।" नहुष ने नम्रता से कहा।

"नहीं, मैंने भेंट के लोभ से चुनौती स्वीकार नहीं की है। चुनौती पहले है, भेंट बाद में। यदि भेंट स्वीकार करनी ही होगी तो प्रतिज्ञा पूर्ण करने के बाद ही करूँगी। अपना रथ मुझे सौंपिए।" शची ने उत्तर दिया।

"इन अश्वों को कोई भी हाथ में रख नहीं सकता।"

"आप तो रख सकते हैं न?"

"हाँ! एक मैं, और दूसरे इन्द्रदेव!"

"तीसरी मैं!"

"कुमारी! इस काम में भय है।"

"किसको? अश्वों को, या हमको?" शची के गर्वयुक्त उत्तर ने प्रेक्षकों के बीच हँसी की एक लहर दौड़ा दी। नहुष का दर्प जरा मन्द पड़ा।

"अश्वों को? ये तो इन्द्रदेव के तैयार किये हुए अश्व हैं, इनको क्या भय हो सकता है?" नहुष ने कहा।

"तब हमको देखने दीजिए कि इस कार्य में हमारे लिए भय कहाँ है? यदि भय न मिला, तो अपने इन्द्रदेव से जाकर हमारा यह सन्देश कह देना कि इन अश्वों की शिक्षा अभी अधूरी है।" शची ने उत्तर दिया। नहुष क्षण-दो क्षण तक शची की ओर देखता रहा। पौलोमी का गर्व उसे अच्छा न लगा। अभी तक उसके आकर्षण में तन्मय नहुष को एक आघात-सा लगा। उसने रथ और घोड़े शची को सौंप दिये, और इस जिद्दी युवती के अनिश्चित भविष्य का विचार करते हुए वृत्र के पास जाकर वह खड़ा हो गया।

अश्वों की लगाम हाथ में आते ही शची रथ पर चढ़ गयी। प्रतिक्षण थिरकनेवाले अश्वों के कान सतत हिल रहे थे। कदाचित् उनको ऐसा आभास हो रहा था कि उनकी लगाम किसी अनजान के हाथ में आ गयी है। परिचित हाथ के सिवा अन्य किसी का कहा न माननेवाले अश्व शची के रथ पर चढ़ते ही पवन वेग से चल पड़े। लोगों ने अपने कलेजे थाम लिये। शची ने भी इस बात का अनुभव किया कि नहुष के हाथ में रहने पर घोड़ों का जो वेग था, उससे कहीं अधिक वेग उसके हाथ में आने पर हो गया है। दर्शकों को यह भय होने लगा कि ये अश्व रथ को कहीं टकरा न दें, अथवा अपने

प्रबल वेग से उसे उलट न दें। परन्तु हवा में उड़ती हुई परी सदृश्य चली जानेवाली शची के मुख अथवा आँख पर व्यग्रता का कोई चिन्ह न दीख पड़ा, और धीरे-धीरे आश्चर्य के बीच सब ने देखा कि रथ की गति अश्वों के काबू में न होकर शची के हाथ में आ गयी है। न रथ ही उलटकर गिरा, और न शची ही रथ-च्युत हुई; बल्कि शची ने ही अश्वों को अपने नियन्त्रण में रखा और उनसे इच्छित आवर्तन कराने लगी। नहुष की दिखायी हुई सब क्रीड़ाओं को शची ने पहले से भी कम समय में कर दिखाया, और अन्त में नहुष और वृत्र जहाँ खड़े थे, वहाँ पहुँचकर घोड़ों को रोक दिया। अश्वो की भी समझ में आ गया कि उनको चलानेवाले हाथ और चाबुक किसी अनभिज्ञ के नहीं हैं।

शची ने वृत्र को सूचित किया कि जो हाथी, वृषभ और गैंड़े नहुष के सामने छोड़े गये थे, वे उसके सामने भी छोड़े जायें। वृत्र संकोच में पड़ गया। नहुष ने भी उससे विनती की कि राजकुमारी को जान-बूझकर संकट में अपने को नहीं डालना चाहिए। परन्तु शची अपनी माँग पर दृढ़ थी। वृषभ, गैंड़े और हाथी लाये गये। शची ने वृषभों के शृंग के बीच से रथ को सकुशल बाहर निकाला, गैंड़ों के भयंकर आक्रमण से अश्वों को बचाया, और घूमते-फिरते दुर्ग-जैसे हाथी के गंडस्थल पर अश्वों के पैर स्थापित कर दिये। प्रेक्षकगण वीरता के इन कार्यों को देखकर गद्‌गद हो गये। वृषभों ने नम्र बनकर मस्तक नीचे कर लिये, गैंड़ों ने शान्त हाकर इधर-उधर देखना शुरू किया, और अपमानित गजराज ने पैरों को पीछे कर सूँड़ को नीचे गिरा दिया।

शची रथ के ऊपर से नीचे उतर आयी। लगाम उसने रख दी। लम्बी-लम्बी साँस लेनेवाले अश्वों की सुन्दर पीठ को उसने सहलाना शुरू किया और उनकी कमानदार गरदनों पर थपकियाँ देने लगी। अश्वों को शची का स्पर्श अच्छा लगा। वे इस बात का स्पष्ट अनुभव करने लगे कि शची उनके गुणों की सराहना कर रही है।

जनता के हर्षनाद में नहुष ने भी अपना सहयोग दिया। सामूहिक हर्ष और सामूहिक शोक कभी-कभी पागलपन का रूप धारण कर लेते हैं। प्रेक्षक-वर्ग हर्ष

से पागल हो उठा। लगातार हर्षनाद होता चला गया। थोड़ी देर बाद जब उत्साह का वेग कुछ शान्त हुआ तो नहुष वृत्र के पास से हटकर शची के पास आया, और अपने कंठ से हीरे का हार निकालकर दोनों हाथों से उठाते हुए कहने लगा—"राजकुमारी! आपने मेरी शर्त पूरी की है।"

"सच? हमको यह देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ कि आप जो माँगें वह सब असुर-प्रदेश दे सकता है।" शची ने शिष्टाचार का निर्वाह किया।

"और अब उस शर्त को पूरा करने के उपहार में यह हार आप स्वीकार करें।" हार को उठाकर नहुष ने कहा।

"नहीं, राजन्! विजय-भेंट हम कभी स्वीकार नहीं करते। ये हीरे आप अपने ही पास रखें।" शची ने हार स्वीकार नहीं किया।

"परन्तु हमने इस बात की घोषणा की थी, हमारी बात चली जायेगी।"

"आप यही मान लें कि आपकी बात रह गयी। असुर राजकुटुम्ब भेंट नहीं लेता, उन्हें तो उनका राज भाग चाहिए। आर्यों से जब वह मिलेगा, तब हम उसे स्वीकार कर लेंगे—देवों की भाँति।"

शची के ये शब्द दर्शकों ने सुने, और उन्होंने तुमुल हर्षनाद किया। नहुष का कुछ मान-भंग-सा हुआ। शची ने न केवल उसकी अश्व-कला को करके दिखा दिया, बल्कि उसकी उदारता का भी अनादर किया! यकायक उसके नेत्रों में किसी निश्चय की चमक दिखायी पड़ी, जिसे छिपाते हुए उसने कहा—"कुमारी! मेरा बढ़ा हुआ हाथ लौट रहा है।"

"आपके ब्राह्मणों ने हाथ बढ़ाने की आदत डाल दी है, न!" सहज स्मित करते हुए शची ने आर्यों की दान-व्यवस्था पर व्यंग किया।

"नहीं, नहीं। ब्राह्मण तो पहले पुण्य अर्पण करते हैं। बाद में हमारी भेंट स्वीकार करते हैं।"

"तो आप इस हार को अपने पास रख छोड़ें। हम भी आपके ब्राह्मणों की भाँति जब आपको पुण्य प्रदान करेंगे, तब यह भेंट माँग लेंगे।"

"आप सच कहती हैं?"

"इस समय मैं उपहास नहीं कर रही हूँ।"

"तो मैं उस अवसर की प्रतीक्षा करूँ ?"

"आर्य जिस समय असुरों के दिये पुण्य को स्वीकार करेंगे, उस समय वह अवसर आप ही आकर खड़ा हो जायेगा।" शची ने उत्तर दिया, और मुँह घुमाकर हँसती हुई दर्प के साथ अपने स्थान की ओर चली गयी।

नहुष उसको देखता ही रह गया। उसके चले जाने पर भी नहुष को ऐसा आभास होता रहा मानो वह उसकी आँखों के सामने ही है। समारम्भ के अन्त में महाराज पुलोमा ने पुरस्कार वितरित किये, और अद्‌भुत अश्व-कला के प्रदर्शन के लिए आर्य-नृपति नहुष को धन्यवाद दिया। प्रेक्षकों की भीड़ मैदान से जाने लगी। महाराज पुलोमा ने नहुष को उसके रथ के साथ सम्मान-सहित पहुँचाने की आज्ञा वृत्र को दी। यह सब स्वप्न में हो रहा हो, ऐसा अनुभव करने-वाले नहुष को अपने सामने शची के अतिरिक्त और कोई वस्तु दिखायी ही नहीं पड़ रही थी।

"वृत्र! शची ने यह अश्व-विद्या कहाँ सीखी ?"

"शैशवावस्था में, एक मुनि से।"

"मुनि ! आर्य-मुनि ?"

"हाँ!"

"उनका नाम ?"

"बताने की आज्ञा नहीं है।"

"अच्छा ! परन्तु वृत्र, क्या तुम भी इस अश्व-विद्या को जानते हो ?"

"हाँ! आपने कैसे जाना ?"

"तुमने भी हमारी चुनौती को स्वीकार किया था न ! अच्छा, तुमने किससे सीखा ?"

"उन्हीं आर्य-मुनि से। बड़े शालिहोत्री...."

"वे इस समय कहाँ हैं ?"

"अपने आर्य-निवास में चले गये, कभी के।"

"हँ....तब तुम और शची साथ-ही-साथ बड़े हुए !"

"मेरा उनका क्या साथ ! वह एक राजकुमारी हैं और मैं एक सामान्य

आदमी ! हाँ, परन्तु मेरी और उनकी शिक्षा काफी समय तक साथ-साथ होती रही है।"

"शची से तुम मिला करते हो ?"

"बिना कारण नहीं।"

"मैं यदि मिलना चाहूँ ?"

"इसका उत्तर तो शची ही दे सकती हैं। अच्छा, अब हम लोग आपके निवास-स्थान पर पहुँच गये।" वृत्र ने उत्तर दिया।

नहुष की आँखों में शची का नशा चढ़ रहा था। वृत्र ने इस बात का अनुभव किया। स्वयं उसके नेत्रों के सामने भी शची की ही मूर्ति विराजमान रहती थी ! वृत्र भी इस समय शचीमय हो रहा था। और यदि यह कहा जाये कि समस्त असुर-समुदाय शचीमय हो गया था, तो अतिशयोक्ति न होगी।

[७]

नहुष पणियों के साथ हरियुपीय क्यों आया ? आर्य सभ्यता के विषय में उसके विचार अन्य आर्यों से भिन्न थे। वह अनार्यों से दूर न भागता था। शबर, पुलिन्द और नाग-जैसी असंस्कृत जातियों में वह बराबर आया-जाया करता था, और उनसे मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न भी करता था। आर्य-परम्परा के अनुरूप युद्ध करके उनका विनाश करने के पक्ष में वह न था। नहुष की इस नीति से आर्य-जातियों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिलती थीं, जिनके कारण उनके आश्रम और जन-पद शीघ्रता से उन्नति कर सम्पन्न हो जाते थे। परन्तु इस प्रकार की प्रगति संघर्ष को भी जन्म देती थी। कोई ऋषि-कुमार नाग अथवा शबर-कन्या के प्रेम में पड़कर अनार्य-जाति में मिल जाता था। अथवा अपनी रूपवती और बलवती प्रेमिका का अपहरण कर अपने आश्रम में ले आता, और उसके अशुद्ध उच्चारण पर की जानेवाली टीकाओं की तनिक भी परवाह न करता था।

कभी-कभी अनार्यों को प्रत्यक्ष रूप से आर्य-प्रभाव-क्षेत्रों में भी स्थान मिल जाता था, परन्तु व्रात्यस्तोम जैसे कठिन यज्ञ, तपश्चर्या और पुरश्चरण विधि सम्पन्न करने के पश्चात् ही! ये कार्य भी आसान न थे। ऐसे यज्ञों के लिए ऋत्विजों का मिलना कठिन था। कोई जल्दी तैयार ही न होता था। और सब-कुछ करने के बाद यदि किसी अनार्य-कन्या को आर्य-क्षेत्र में स्थान मिल भी जाता, तब भी लोग उसे हेय दृष्टि से देखते, और उसकी निन्दा करते थे। इतना ही नहीं, उसके गौत्र, कुल और शाखा को शुद्ध आर्य-कुटुम्ब नीचा समझते, और वैसा ही व्यवहार करते, जिसके परिणामस्वरूप अनेक झगड़े खड़े हो जाते थे।

एक ओर यह सब था। परन्तु दूसरी ओर यदि कभी कोई आर्य-कन्या किसी असुर अथवा शबर-युवक पर मोहित होकर उसे अपना पति बना लेती, तो आर्य-प्रजा क्षुब्ध हो जाती थी। ऐसे कार्य में उन्हें आर्यत्व का अपमान दीख पड़ता था। असुर तो इतने प्रबल थे कि यदि कोई आर्य-कन्या, अरे कोई आर्य-गृहिणी भी, पसन्द आ जाती, तो उसको उठा ले जाते थे। ऐसे समय वेद-सम्पन्न आर्यों को बड़ा ही दुःख होता, और वे युद्ध करने पर उतारु हो जाते थे। नहुष ने एक बार युद्ध करके अशोकसुन्दरी को असुरों के हाथ से छुड़ाया था। आर्यों के लिए इससे भी भयावह स्थिति तब उत्पन्न होती, जब आर्य-असुर-संसर्ग से उत्पन्न प्रजा अपने को अर्ध-आर्य कहकर वैसी मान्यता प्राप्त कराने का प्रयत्न करती थी। कभी-कभी ऐसे लोग चोरी से अथवा प्रलोभन देकर आर्य-मुनियों द्वारा वेद-पाठ और भजन करके आर्य-कुटुम्बों की बराबरी भी करते थे। ऐसे प्रसंगों से आर्य-जाति का अस्तित्व ही भय में पड़ जाता था।

और जब देव-राजवंशों की भाँति शक्तिशाली असुर-राजवंश यज्ञ-भाग का दावा करते, तब तो आर्यों को ऐसा जान पड़ता मानों उनका विनाश निश्चित ही हो। परिस्थितिवश यदि कोई आर्य छिपकर, अथवा प्रत्यक्ष रूप से असुरों को यज्ञ-भाग देने को तैयार हो जाता तो चाहे वह महान् तपस्वी ही क्यों न हो इन्द्रदेव को उसका संहार करना पड़ता था।

"क्या इन्द्र को इस बात का पता है कि पुलोमा के शची नाम की कन्या

है ?" आर्य-असुर-सम्बन्ध की विषमता पर विचार करते-करते नहुष को पुनः शची का स्मरण हो आया। बड़ी कठिनाई से कुछ देर के लिए वह शची को भूलकर अन्य विषयों के बारे में सोच रहा था। इतने में शची फिर उसके कल्पना-प्रदेश में आ गयी। उसकी नींद उड़ गयी, और असुर-राजकुमारी के विचार उसको पुनः व्यथित करने लगे।

'इस समय शची भी सोयी होगी!' नहुष को शची के ही विचार आये जा रहे थे। वह बेचारा यह भी न सोच सका कि रात में सभी सोते हैं, तो भला शची क्यों न सोये!

'वह किस लिए जागती होगी? आखिर क्यों?' नहुष को अपनी मनः-स्थिति का खयाल आया। वह महापराक्रमी आर्य था, और उसने सुन भी रखा था कि शची को आर्यत्व प्रिय है। वह स्वयं देखने में सुन्दर भी था। तो फिर शची उसी का विचार करती हुई क्यों न जाग रही होगी?

नहुष पलंग पर सो न सका। वह उठकर बैठ गया, और कुछ देर के बाद बाहर के झरोखे में आकर खड़ा हो गया। अन्धकार में राजभवन की उभरती हुई आकृति पर उसकी दृष्टि स्थिर हो गयी। शची का यही निवास-स्थान था! न जाने वह किस खंड में सोयी होगी! संभवतः अपने पास के खंड में ही सोयी हो और यदि उसकी तरह उसे भी नींद न आती हो, तो वह भी किसी झरोखे में खड़ी झाँक रही होगी!

परन्तु राजमहल में एक ही झरोखा तो होता नहीं! तब नहुष ने महल के एक-एक झरोखे को खोजना शुरू किया। उसे एक झरोखे में शची दीख पड़ी, और दूसरे में भी दिखायी दी। जितने झरोखे उसने देखे, सब में शची को विद्यमान पाया। उसे इन झरोखों में किसी के हिलने-डुलने का आभास भी हुआ। इस अनुभूति के कारण उसका हृदय धड़कने लगा।

शची किसी असुर से प्रेम तो नहीं करती हो?

यदि ऐसा होता, तो अब तक यह बात छिपी न रहती। कितने ही पराक्रमी असुर-नृपति पुलोमा के छत्र के नीचे राज्य करते हैं! परन्तु वे सब हैं तो पुलोमा के अधीन ही! अपने से निम्न कोटि के राजवंश में जाना शची क्यों

पसन्द करने लगी ? फिर किसी सामन्त या सामन्त-पुत्र की तो बात ही क्या ? वृत्र की कीर्ति नहुष के भी कानों तक पहुँची थी। उसने उसे आज देख भी लिया था। आर्य नहुष से उसे सुन्दर तो नहीं ही कहा जा सकता—असुरों के-से रंग और देहवाले उस वृत्र को ! असुर भले ही सुन्दर कहें, आर्य उसे कभी सुन्दर नहीं कह सकते।

राजमहल की अट्टालिका में यह किसका मुख दीख पड़ा ? शची का तो नहीं ? हाँ, उसी का ! अरे नहीं, ये तो दो तारे चमककर मानव आकृति की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे हैं !

परन्तु क्या नहुष में शची का प्रेम जीतने की योग्यता है ? जितना अश्व-कौशल नहुष ने दिखाया, उतना ही शची ने भी। स्त्री का हृदय अपने पति में—प्रेमी में—एक विशेष प्रकार की श्रेष्ठता देखना चाहता है ! नहुष में वह श्रेष्ठता है ? असुर-नगरी की स्पर्धाओं में वह अधिक कर ही क्या सकता था ? अन्य क्षेत्र में एक-से-एक बढ़कर पराक्रम के कार्य कर सकता है। उसका यौवन अभी गया नहीं है। शची को जीतने के लिए बड़े-से-बड़ा पराक्रम करने की क्षमता उसमें है।

कुछ भी हो, शची उसे चाहिए। शची के लिए वह अपनी आर्य श्रेष्ठता का परित्याग भी कर सकता है। और आखिर आर्यत्व है क्या ? असुर भी तो अपने को कश्यप मुनि के वंशज मानते हैं न ?

तभी नहुष के प्रकोष्ठ का द्वार खड़का !

कहीं शची ही तो नहीं आयी हो ? असम्भव को सम्भव बनानेवाली आशा ने नहुष के हृदय में हलचल पैदा कर दी।

"कौन है ? अन्दर आओ ! हम जाग रहे हैं।" नहुष ने झरोखे में से प्रकोष्ठ के अन्दर आते हुए कहा।

द्वार खुला, परन्तु उसमें से न शची, न शची का मित्र, मंत्री अथवा वृत्र आया, बल्कि पणि-श्रेष्ठ श्रीवत्स ने प्रवेश किया।

"आइए श्रीवत्स ! इस समय कैसे आना हुआ ? धनी व्यापारियों का यह रात्रि-जागरण कैसा ?" नहुष ने पणि-नेता का स्वागत करते हुए कहा। फिर उसे

आसन पर बिठाकर स्वयं उसके पास जा बैठा ।

"महाराज ! असुरों की शक्ति को आपने देखा ?" श्रीवत्स ने पूछा ।

"आर्यों की शक्ति भी असुरों से छिपी हुई नहीं है । एक ओर गंगा-यमुना, और दूसरी ओर नर्मदा तक फैले हुए विशाल प्रदेश में हमारे संस्थान स्थापित हो चुके हैं ।" नहुष ने आर्यों की सामर्थ्य का दिग्दर्शन कराया ।

"राजन् ! यह यथार्थ है । परन्तु हम यह न भूल जायें कि समुद्र भूमि से अधिक विस्तृत है । और अभी आर्य समुद्र-विजय नहीं कर सके हैं ।"

"पणियों ने तो इस विजय-यात्रा का प्रारम्भ कर ही दिया है ।"

"किन-किन कठिनाइयों से ? और बदले में आर्यों से हमें क्या मिला ?.... बहिष्कार !"

"इन महापंडितों की चले, तो वे मेरा भी बहिष्कार कर दें ।"

"इस भरोसे न रहिए कि आपके विरुद्ध कोई कार्यवाही होगी ही नहीं ।"

"अन्तिम निर्णय आज नहीं तो कल कर ही लेना होगा । मेरी धारणा है कि हमारे पक्षवालों की संख्या कम न होगी ।"

"ऋत्विजों के बन्धन से प्रजा उकता गयी है । यज्ञ के लिए अमुक स्थान ही चाहिए, अमुक होता ही रहे, अमुक उद्गाता ही आये, इतनी ही गायें और इतना ही सोना दिया जाये, कम देने से काम न चलेगा, आदि-आदि । राजा-महाराजा यह सब जुटा सकते हैं, परन्तु हमारे-जैसे सामान्य मनुष्य यह-सब कहाँ से लायें ?"

"पणिश्रेष्ठ ! पणियों को सामान्य मनुष्य कौन कहेगा ?"

"समुद्र पार करके हम धन कमा लाते हैं, जिससे आर्य-संस्थानों का अभ्युदय होता है । यदि आश्रमों में पड़े रहते तो हम भी यज्ञ के उच्छिष्ट भोजन के भोक्ता बन गये होते । राजन् ! कुछ करें, शीघ्रता से करें ।"

"पुलोमा ने तुम्हारे प्रतिनिधि-मण्डल को क्या उत्तर दिया ?"

"यही कहने आया हूँ । दिन-भर आप हमसे दूर रहे, इसलिए कह न सका । पुलोमा ने साफ कह दिया है कि जब तक हम किसी आर्य-पुरोहित को लाकर न देंगे, हमारे जहाजों को लंगर उठाने की अनुमति न मिलेगी ।"

"तो एक पुरोहित ले आओ।"

"आप जानते ही हैं कि यह काम कितना कठिन है ! कौन-सा ऋषिकुल अथवा गुरुकुल किसी विद्वान को यहाँ आने की अनुमति देगा ?"

"पुरोहित का मिलना असम्भव है, यह मैं नहीं मानता। हाँ, कठिनाई अवश्य है। त्वष्टा ने साहस का कार्य किया था। पता नहीं आज वह कहाँ है ? उसके पुत्र विश्वरूप ने तो स्पष्टरूप से दानवों का भाग निश्चित किया था। इसी लिए इन्द्र ने क्रुद्ध होकर उसका शिरच्छेद कर दिया।"

"पुरानी पीढ़ी को इस कथा को रहने दें। इस समय इन्द्रासन पर जो देवश्रेष्ठ विराजमान हैं, वे बहुत उदार हैं। आप मेरे इस कथन पर विश्वास कर सकते हैं।"

"होगा, परन्तु इन्द्र असुर-प्रदेश में किसी पुरोहित को क्यों भेजने लगे ?"

"यह भी सच है। तो मैं और भी सरल उपाय बताता हूँ। एक पुरोहित को तो मैं ला दूँगा।"

"राजन्, आपका कल्याण हो ! परन्तु आप किसको भेजेंगे ?"

"यह प्रश्न हमारे ऊपर छोड़ दो। जाकर पुलोमा से कहो कि इस कार्य का भार नृपति नहुष ने अपने ऊपर ले लिया है। वे एक पुरोहित आपको देंगे। कार्य कैसे होगा, यह हमसे मत पूछो। मैंने अपनी योजना निश्चित कर ली है।"

श्रीवत्स बड़ा प्रसन्न हुआ। नहुष को नमस्कार कर वह जाने लगा। चलते-चलते रुककर उसने कहा—"महाराज ! आपके आश्वासन को स्वीकार कर यदि पुलोमा ने हमारे जहाजों को समुद्र में जाने की अनुमति दे दी तो अपनी कृतज्ञतास्वरूप हम आपको एक स्वर्ण देव-प्रतिमा अर्पित करेंगे।"

"यदि मूर्ति ही बनाने की इच्छा हो, तो देवता की नहीं, देवी की मूर्ति बनवाना।"

"जैसी आज्ञा ! पृथ्वी की मूर्ति निर्मित करवायी जाये अथवा ऊषा की ?"

"जी चाहे वह नाम रख लेना, परन्तु आकृति ठीक शची-जैसी होनी चाहिए।"

"शची ? पुलोमा की पुत्री ?"

"हाँ। कलाकार को ऐसी मूर्ति बनाने में कोई कठिनाई न होगी।"

"कदाचित् पुलोमा को यह बात अप्रिय लगे ?"

"असुर-नरेश को तो वह मूर्ति दोगे नहीं। दोगे तो हमीं को। हमारी सलाह मानो और आज रात में ही उस मूर्ति को तैयार करवा डालो।"

श्रीवत्स ने एक बार ध्यान से नहुष के मुख को देखा। उस व्यापार-कुशल श्रेष्ठी की आँखों ने तथ्य को पहचान लिया। उसके मुख पर स्मित की रेखाएँ झलक उठीं, और उसे इस बात का विश्वास हो गया कि अब उसके जहाज़ रोके न जायेंगे। श्रीवत्स के जाने के बाद नहुष ने पुनः झरोखे में आकर राजमहल को देखना शुरू किया। उसने सब झरोखों पर नजर डाली, परन्तु शची कहीं दीख न पड़ी। नहुष को इतना सन्तोष अवश्य हो गया कि जिन झरोखों में शची के सुन्दर पैर घूमा करते हैं, उनके दर्शन का सौभाग्य तो हुआ।

वह आकर पलंग पर लेट गया। आँखें बन्द करते ही शची की मूर्ति पुनः आकर खड़ी हो गयी।

नहुष जानता था कि वास्तव में वह शची न थी—शची की प्रतिमूर्ति थी। परन्तु अपनी कल्पना की शची को देखकर भी उसे आनन्द ही हुआ।

जिस प्रकार मैं शची के बारे में सोच रहा हूँ उसी प्रकार यदि वह भी मेरे बारे में सोचती हो तो मजा आ जाये। और अपनी इन्हीं कल्पनाओं में मग्न उसे नींद आ गयी। वह शची के ही सपने देखने लगा। नहुष को प्राप्त करने के लिए शची ने क्या-क्या किया, कैसे-कैसे कष्ट सहे, इन सब प्रसंगों को स्वप्न में देखता हुआ नहुष पुलकित होता रहा। ये स्वप्न उसे बड़े ही प्रिय लगे। सोकर जब जाग्रत हुआ, तब भी प्रसन्न था। उठने पर वृत्र के आने की सूचना उसे मिली। उठते ही स्नान-ध्यान करना आर्यों का धर्म था—फिर चाहे वह नृपति ही क्यों न हो! इन आवश्यक कार्यों से छुट्टी पाकर वृत्र के साथ वह शिव-मन्दिर में गया, जहाँ महाराज पुलोमा ने उसे मिलने के लिए बुलाया था। शिव का पूजन और सेना की सलामी लेना, असुर-सम्राट् पुलोमा का दैनन्दिन प्रातः कार्य था। नहुष ने मन्दिर में जाकर शंकर को

प्रणाम और पुलोमा का अभिवादन किया। सामान्यतः पुलोमा के साथ राज-कार्य में शची उपस्थित नहीं रहती थी, परन्तु आज अमात्यों के साथ शची भी वहाँ आयी हुई थी। नहुष को ऐसा आभास हुआ कि मानों मन्दिर इन्द्रधनुष के रङ्गीन तोरणों से सजाया गया हो। सेना की सलामी लेने के लिए सब लोग मन्दिर से बाहर आये। सेना ने सलामी दी, जयघोष किया, और व्यवस्थित पद्धति से मैदान को खाली कर दिया। पुलोमा और नहुष बातें करते हुए सब से आगे धीरे-धीरे मन्दिर की सीढ़ियाँ उतरने लगे। उनसे एक सीढ़ी पीछे शची उतर रही थी, और उससे भी एक सीढ़ी पीछे मंत्रि-मण्डल और वृत्र आ रहे थे।

"राजन्! बिना पूर्व-सूचना दिये आपका यहाँ एकाएक आना उचित न था। इसी कारण हम आपका योग्य स्वागत न कर सके।" पुलोमा ने कहा।

"हम आर्य तो अभी भटक ही रहे हैं।....अभी हमारे संस्थान पूर्णरूप से स्थिर कहाँ हो पाये हैं।....और आपको यह तो विदित है ही कि मैं शबर, पुलिन्द, नाग, पिशाच आदि जातियों में भ्रमण करता हुआ सब की मैत्री चाहता हूँ।....मैंने जब सुना कि यहाँ आपका वार्षिकोत्सव होनेवाला है तो उसे देखने की इच्छा हुई और मैं चला आया।"

नहुष के कथन को सुनकर क्रतु और स्वधा ने एक दूसरे की ओर देखा। वृत्र के मुख पर भी मुस्कराहट फैल गयी। मंत्रि-मण्डल को इस बात का समाचार पहले ही मिल गया था कि नहुष के आने के एक-आध सप्ताह पहले से कई आर्य यहाँ आ गये थे, और यहाँ की राई-रत्ती खबर उसे पहुँचा रहे थे।

"आपको हमारा उत्सव पसन्द आया?" पुलोमा ने पूछा।

"उत्सव दर्शनीय था; परन्तु सब से अधिक आकर्षक था शचीकुमारी का अश्व-कौशल! मैंने तो कल साधारण खेल दिखाये, परन्तु राजकुमारी की निपुणता देखकर मुझे विश्वास हो गया कि यदि वह छह मास भी किसी आर्य-ऋषि से शिक्षा प्राप्त कर लें तो रथ चलाने में हमारे रुद्र और मरुतों की बराबरी कर सकती हैं।" नहुष ने उत्तर दिया।

शची ने अपना मुँह घुमा लिया।

"आपके आर्य एक पुरोहित तक तो मुझे देते नहीं, कुशल रथी देने की भली चलायी ? पुलोमा ने कहा।

"हाँ मैंने भी यह सुना है। यहाँ आने के मेरे दो हेतु हैं—एक तो इस बात का स्पष्टीकरण कि आपके प्रतिनिधि-मण्डल को आर्यगण पूरा-पूरा समझ न सके...."

"अब स्पष्टीकरण कैसा ? इस अपमान से सारा असुर-मण्डल विक्षुब्ध होकर युद्ध की माँग कर रहा है, और मैंने बड़ी कठिनाई से उसे रोक रखा है।" पुलोमा ने कहा।

"यह आपने बहुत अच्छा किया। आर्य और असुर तथा देव और असुर आपस में खूब लड़ चुके ! अब तो शान्ति स्थापित हो, और ये तीनों एक दूसरे के निकट आयें, यही मेरी अभिलाषा है।" नहुष ने शान्ति चर्चा को आगे बढ़ाया।

पुलोमा और उसके मंत्रिगण इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यदि युद्ध की घोषणा हुई होती, तो यहाँ छिपे हुए आर्य जासूस का काम करते, और पणियों के प्रतिनिधि-मण्डल के साथ आया हुआ नहुष आर्यों की ओर से युद्ध का नेतृत्व सँभालता। आसपास के नगरों में, दुर्गों में और जङ्गलों में छिपे हुए आर्य आज्ञा मिलते ही शस्त्र सहित बड़ी संख्या में प्रकट हो जाते।

"अन्य आर्य नेताओं से आप अधिक उदार हैं, यह भली भाँति जानता हूँ। अच्छा, एक उद्देश्य तो समझ में आया। अब दूसरा उद्देश्य भी बताइए।" पुलोमा ने पूछा। उसके नेत्रों से यह ज्ञात होता था कि पहला उद्देश्य वह समझ गया है।

"दूसरा उद्देश्य यह कि आप पणियों को समुद्र-यात्रा की अनुमति प्रदान करें। ये पणि-आर्य सभी का अभ्युदय चाहनेवाले हैं।"

"मुझे ज्ञात है। परन्तु मैंने उनके सामने एक शर्त रखी है। उस शर्त को जिस क्षण वे पूरा कर देंगे, उसी क्षण उनके जहाजों को समुद्र में जाने की आज्ञा मिल जायेगी।"

"उस शर्त की पूर्ति आप मेरे ऊपर छोड़ दें। पणियों का एक-एक-क्षण

मूल्यवान है। इस समय उनके जहाजों के लिए पवन अनुकूल है, उन्हें जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि उनकी शर्त को मैं पूरा करूँगा।"

"शर्त आप जानते हैं ?"

"जी हाँ। शर्त यही है कि आपके दरबार के लिए मुझे एक आर्य-पुरोहित—गुरु—ला देना होगा।"

"आपका आश्वासन काफी है। क्रतु ! पणियों के जहाजों को समुद्र में जाने दो।"

"असुरश्रेष्ठ आपकी कृपा के लिए आभार-प्रदर्शन के साथ ही मेरी यह प्रार्थना है कि जब इतनी उदारता दिखायी है, तो मेरी दो माँगें भी स्वीकार करने की कृपा करें।"

"कहें ! असुर देने में अनुदार सिद्ध न होंगे।"

"तो मैं माँगता हूँ। अपनी उदारता के लिए हम आर्यों की एक भेंट स्वीकार करें।"

"अच्छी बात है; यदि आप चाहें तो उस भेंट को हम सबके सामने स्वीकार करेंगे।"

"आपकी इतनी कृपा है तो अपनी दूसरी माँग भी उसी समय सबके सामने रखूँगा।"

"मैंने आपको वचन दिया है, इसलिए आपकी दोनों माँगें अवश्य स्वीकार होंगी। शर्त इतनी ही है कि हम अपने राज्याधिकार का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे।"

तीसरे पहर असुर-प्रजा और कर्मचारियों की एक विस्तारित सभा का आयोजन हुआ ! उस समय महाराज पुलोमा ने आर्य-नृपति नहुष के उन कार्यों की प्रशंसा की, जिनके द्वारा आर्य और असुर अपने व्यवहार में समझौता-वृत्ति का सहारा लेने लगे थे, और युद्ध का भय टल गया था। नहुष ने पणियों को मिली हुई समुद्र-यात्रा की अनुमति के उपलक्ष्य में महाराज पुलोमा को एक अद्भुत स्वर्ण प्रतिमा भेंट की।

इस स्वर्ण प्रतिमा को देखकर उपस्थित जन-समुदाय चकित रह गया। पणि इस मूर्ति को पहले से ही बनवाकर अपने साथ लाये थे। परन्तु उसकी मुखाकृति किसी देवी की थी, जिसे असुर कलाकारों की सहायता से उन्होंने एक रात में ही शची की मुखाकृति में परिवर्तित कर दिया था। मूर्ति को देखते ही पुलोमा के नेत्र किंचित् कठोर हो गये। युवती राजकन्या की प्रतिमा भेंट में दिये जाने का यह पहला ही अवसर था। शची पुलोमा की प्रिय—अति प्रिय पुत्री थी। वही उसकी उत्तराधिकारिणी भी थी। उसकी मूर्ति भेंट में देकर नहुष क्या चाहता था? पुलोमा की सद्भावना अथवा कुछ और?

क्रतु और स्वधा जैसे अमात्यों की आँखें भी कड़ी हो गयी थीं।

नहुष इस भाव-परिवर्तन को समझ गया। परन्तु उसे अपना कृत्य जरा भी अनौचित्यपूर्ण नहीं लग रहा था। असुर प्रजा और असुर-नेता भले ही यह समझ लें कि एक आर्य-नृपति के हृदय में शची के प्रति प्रेम की भावना जाग्रत हुई है! आर्य और असुरों के बीच ऐसे व्यवहार पहले भी हो चुके हैं। यद्यपि नहुष के पास पुलोमा जितना विशाल राज्य नहीं था; तथापि वह भी एक स्वतन्त्र आर्य-नरेश था। उसके इस संकेत में कि आर्य और असुर प्रजाओं का भविष्य पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों में ही विकसित हो सकता है किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आर्य-असुर स्त्री-पुरुष का स्नेह ही तो दोनों जातियों के प्रेम और सम्मिलन की पहली और वास्तविक सीढ़ी है।

"इस प्रतिमा को सभाजनों ने देखा! यह राजकन्या शची की स्वर्ण प्रतिमा है। भेंट स्वीकार करने का मैंने वचन दिया था, इसलिए इसे स्वीकार करता हूँ। अभी दूसरी माँग स्वीकार करना शेष है। उसे राजा नहुष सबके सम्मुख उपस्थित करेंगे। प्रतिमा के पश्चात् अब जो माँग की जायेगी, उससे हम आर्यों की संस्कृति का अन्दाज लगा सकेंगे।" पुलोमा के इन गम्भीर शब्दों को सब ने सुना। असुरों पर अभी आर्यों का इतना दबदबा न था कि कोई आर्य-नरेश असुर-सम्राट् के सामने किसी तरह की अनुचित माँग पेश कर सके। तिस पर भी यदि प्रतिमा की भेंट की ओट में शची की मँगनी का विचार हो, तो उसकी वर्जना के लिए पुलोमा ने गूढ़ शब्दों में नहुष को सचेत कर दिया था।

तीव्र-बुद्धि के नहुष ने इस सूचना के मर्म को समझ लिया। सीधी मँगनी से प्रेमिका को सर्वदा प्राप्त नहीं किया जा सकता—इतना तो वह भी समझता था। और फिर यह सभा किसी स्वयंवर के लिए तो बुलायी नहीं गयी थी। पुलोमा-जैसे कीर्तिसम्पन्न असुर-सम्राट् की कन्या का हृदय जीतने योग्य कोई पराक्रम भी उसने नहीं किया था। कल के महोत्सव में जो अश्व-कौशल उसने दिखाया था, वह पर्याप्त न था, यह स्वयं शची ने ही स्पष्ट कर दिया था।

इन सब बातों को सोचते हुए नहुष ने अपना निम्न प्रस्ताव रखा—"असुर अथवा आर्य किसी की भी भावनाओं को चोट पहुँचाये ऐसी कोई माँग मैं कर नहीं सकता। केवल मेरी तो इतनी माँग, बल्कि प्रार्थना है कि महाराज पुलोमा मेरे व्रात्यस्तोम यज्ञ में पधारें। यदि महाराज किसी कारणवश न आ सकें, तो वे अपने प्रतिनिधि-मण्डल को ही भेजें। मुझे उसमें भी आनन्द ही होगा। और उसी अवसर पर असुरकुल के योग्य एक महातपस्वी आर्य-पुरोहित भी मैं आपके पास भेज दूँगा!"

कुछ क्षण के लिए सभा में स्तब्धता छा गयी। सब को विस्मय हुआ। आर्य-संस्थान में भेजे हुए असुर प्रतिनिधि-मण्डल के साथ जो अशिष्ट व्यव- हुआ था, उसे असुर-प्रजा भूली न थी। महासभा के कल के अधिवेशन इस विषय पर चर्चा भी हुई थी, और बहुमत आर्यों के विरुद्ध युद्ध की षणा करने के पक्ष में था। पुलोमा ने इस मत का विरोध न किया होता, आज आर्य और असुर एक दूसरे के दुश्मन बन जाते। और इस नगर के -पास युद्धाग्नि भड़क उठती! सभासदों को अब यह विदित हुआ कि नहुष माध्यम से आर्यों के साथ के सम्बन्धों को शान्तिमय बनाने का जो प्रयत्न लोमा ने किया, वह सर्वथा उचित ही था। पुलोमा की कूटनीति की विजय नहुष के कथन को सुनकर पुलोमा और उसके मंत्रियों के मुख की कठो- भी कुछ शिथिल हुई।

"महासभा में युद्ध के प्रस्ताव को हम लोगों ने स्थगित किया, यह उचित हुआ। आर्यों के सम्मानित नरेश अपनी धर्म-क्रिया में सम्मिलित होने का के सामने निमन्त्रण दे रहे हैं, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा

निमन्त्रण अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। मुझे खेद है कि मैं स्वयं यज्ञ में सम्मिलित न हो सकूँगा; परन्तु हमारा प्रतिनिधि-मण्डल अवश्य जायेगा।" पुलोमा ने नहुष की दूसरी माँग को भी स्वीकार कर लिया। विदा होते समय केवल महाराज और मंत्रिगण ही सुन सकें ऐसी आवाज से वृत्र ने कहा—"स्वर्ण मूर्ति ने एक ही रात में अपना मुख बदल लिया।"

"किस लिए?"

"राजा नहुष की आज्ञा हुई कि प्रतिमा की मुखाकृति शची-जैसी कर दी जाये।"

"तुमको किसने बताया?"

"पणि-मण्डल के ही एक व्यक्ति ने हमारे गुप्तचरों से कहा; और आकृति के परिवर्तन का कार्य भी हमारे ही कलाकारों ने किया—इसे तो स्वयं कलाकारों ने स्वीकार किया है।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"हूँ!" पुलोमा ने केवल इतना ही कहा।

बिना चर्चा के ही सब ने इस बात को समझ लिया कि जिसकी आशंका थी, वह होकर रही। आर्य-नृपति नहुष की आँखों में असुर-कुमारी शची बस गयी थी।

परन्तु पिता को शची में पूर्ण श्रद्धा थी। उसकी पसन्द भी बहुत ऊँची थी, यह वे भली प्रकार जानते थे। दूर-दूर के महापराक्रमी असुर-राजाओं की मँगनी को उसने ठुकरा दिया था। पिता के लिए केवल चिन्ता का विषय था अपनी पुत्री का आर्यत्व के प्रति आकर्षण।

पणि-व्यापारियों का काम हो गया था। नहुष ने सब के सम्मुख यज्ञ का निमन्त्रण भी दे दिया था। आर्य-असुर-युद्ध का भय भी टल चुका था। देव-वर्ग भी यही चाहता था कि पुनः असुरों से युद्ध न छिड़े। आर्यों के जातीय अभिमान को थोड़ा कम करने के लिए नहुष जो प्रयत्न कर रहा था, उसमें उसे सफलता मिली। इसी उद्देश्य से वह हरियुपीय आया था। उसे महान असुर-नेता पुलोमा की कृपा भी प्राप्त हुई। अब अपने मित्र देवराज इन्द्र से वह कह सकता था कि वे निश्चिन्त होकर रहें। इस प्रकार पूर्व में देव और

पश्चिम में असुर महासत्ता के बीच फँसे हुए आर्यों के राज्य को उसने कुशलता से बचा लिया था। उसकी यह सफलता साधारण न थी। साथ ही उसकी एक नयी सफलता शची भी थी। उसे सफलता नहीं वरन् एक नया ध्येय कहना चाहिए। यद्यपि शची को वह अपने हाथों में लेकर नहीं लौट रहा था, परन्तु हृदय में बिठाकर तो ले ही जा रहा था। उसे विश्वास था कि किसी दिन हृदय हाथों को भी स-फल करेगा। नगर छोड़ने से पहले उसे शची से मिलने की तीव्र इच्छा हुई। इस इच्छा का सन्देश उसने वृत्र द्वारा शची को भेज भी दिया।

वृत्र ने लौटकर शची का उत्तर सुनाया—"आपके यज्ञ में शची आपसे मिलेगी।"

"और कुछ कहा?"

"और तो....न कहना ही अच्छा है!"

"वृत्र! शची ने जो भी कहा हो मुझे सुना दो; मैं उसका एक-एक शब्द सुनना चाहता हूँ।"

"आर्यों से प्रेम करने के लिए नहीं, उनके दर्प का दलन करने के लिए मैंने जन्म लिया है—ये हैं शची के शब्द।"

नहुष ने कोई उत्तर न दिया। परन्तु स्त्री-जाति-मात्र के हृदय की झाँकी उसे मिल गयी। आखिर स्त्री के दर्प का दलन, उस मानिनी के मान का भंग तो किया ही जाना चाहिए!

[८]

सारे भूमण्डल में यह समाचार फैल गया कि आर्य-राजा नहुप व्रात्यस्तोम यज्ञ करनेवाले हैं। उस समय का भूमण्डल देवस्थान, आर्य-बस्तियों और असुर-प्रदेश तक सीमित था। देवस्थान और असुर-प्रदेश के बीच में फैली हुई आर्य-बस्तियाँ धीरे-धीरे विकसित हो रही थीं, और उनका महत्व बढ़ रहा था। इस

यज्ञ के समाचार से वे क्षुब्ध हो उठीं। आर्यों के जीवन में व्रात्यस्तोम-जैसे यज्ञों के अवसर कदाचित् ही आते थे, और डौंडी पीटकर उनका प्रचार न किया जाता था। आर्यों ने जब यह सुना कि नहुष इस व्रात्यस्तोम यज्ञ में निषाद-जाति के कितने ही समूहों को एक साथ आर्य बनाने का विचार कर रहे हैं, तब तो उनके क्षोभ का पार न रहा। कभी-कभार दो-एक महत्वपूर्ण अनार्यों को आर्य बना लेने में कोई हर्ज न था; परन्तु किसी अनार्य जाति का सामूहिक रूप से आर्य बनाया जाना धर्म और व्यवहार दोनों के ही विरुद्ध था। अनेक ऋषि-कुल क्रुद्ध हो उठे। यद्यपि नहुष ने सभी आचार्यों और तपस्वियों को उनकी शिष्य-मण्डली सहित यज्ञ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया था, तो भी वह अभी तक स्वीकृत न हुआ था। आर्यों के गुरुकुलों और आश्रमों में इस बात को लेकर उग्र विवाद उठ खड़ा हुआ कि यज्ञ में जाना चाहिए या नहीं।

भृगुकुल के एक परम विद्वान और तेजस्वी शुक्र नाम के युवक ने नहुष के यज्ञ में अध्वर्यु का स्थान ग्रहण करना स्वीकृत किया था; और उसने होता, सामगा और पुरोहित भी इकट्ठे कर लिये थे। ऋषि-मण्डलों को जब यह निश्चय हो गया कि शुक्र का नेतृत्व प्राप्त करने से यज्ञ का कार्य रुकेगा नहीं, तो उन्होंने यज्ञ में उपस्थित होने और इस प्रकार के यज्ञ से होनेवाले अनिष्ट असर को समझाने और हो सके तो यज्ञ को ही रोकने का निश्चय किया। नहुष की राजधानी विद्वानों, तपस्वियों, आचार्यों, और विद्यार्थियों से भर गयी। सारे नगर में शास्त्रार्थ और तत्व-चर्चा होने लगी। श्रेष्ठी, कलाकार, सैनिक और किसान भी आकर नगर के वैविध्य को बढ़ाने लगे। परन्तु सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करते थे आदिवासीगण! उनमें उत्साह था। अपनी नीची कक्षा से ऊपर उठकर आर्यत्व का उपवीत धारण करने की योग्यता प्राप्त करनेवाले अपने ही बन्धु-बान्धवों की उदात्तिकरण-विधि को देखने की उनमें तीव्र लालसा थी।

"ये नासिका-हीन अनार्य आर्य बनेंगे?"

"ये काले निषाद हमारे साथ बैठेंगे?"

"जिन्हें शुद्ध उच्चारण करना भी नहीं आता, ऐसे पुलिन्दों से वेद-मंत्र कहलाये जायेंगे?"

जहाँ एक ओर इस प्रकार के यज्ञ-विरोधी उद्‌गार सुनने में आते, वहीं यज्ञ के समर्थन की बातें भी सुन पड़ती थीं।

"क्या ऊँचा नाक ही आर्यत्व का लक्षण है?"

"निषाद काले अवश्य हैं, परन्तु उससे क्या? कितने ही ब्राह्मण भी तो काले हैं, फिर उनकी गणना निषाद-वर्ग में क्यों नहीं की जाती?"

"उच्चारण तो अभ्यास से सुधरता है। फिर अभी तक आपके वेदोच्चारण में भी 'ळ' और 'ड', 'य' और 'ज' के उच्चारण के विषय में अन्तिम निर्णय कहाँ हो पाया है?"

यज्ञ के दिन निकट आते गये। यज्ञ की महावेदी तैयार हो गयी। अन्य साधन भी इकट्ठे हो गये और इस महोत्सव में सम्मिलित होनेवालों के बैठने या खड़े रहने के लिए उपयुक्त स्थान भी बन गये। नदी पास में ही बह रही थी, इसलिए बहुत से आदमी और सामान जलमार्ग द्वारा लाये जाते थे। नौकाओं की कमी न थी। सम्मानित मेहमानों का आना-जाना प्रारम्भ हो गया था। यज्ञ के पहले दिन असुर-सम्राट् पुलोमा का प्रतिनिधि-मण्डल यज्ञ-कार्य देखने के लिए आ पहुँचा। असुरों के वैभव को देखकर आर्य-प्रजा चकित रह गयी। नदी के तट पर असुर प्रतिनिधि-मण्डल के लिए एक विशाल काष्ठ-प्रासाद तैयार किया गया था। उस मण्डल में सबसे अधिक आकर्षित करने-वाले दो व्यक्ति थे—पुलोमा की पुत्री शची और असुर-वीर वृत्र।

यज्ञ-वेदियों की रचना में तथा होता-अध्वर्यु के स्थान निर्मित करने की व्यवस्था में शची बहुत रस ले रही थी। उसकी इस रुचि से विद्वान ऋषि-मण्डल को क्षोभ हुआ, और उन्होंने राजा नहुष के पास जाकर विनती की कि असुर-कन्या का यह कार्य रोक दिया जाये। नहुष इस बात को पहले से ही जानता था कि इस प्रकार के विरोध और प्रदर्शन होंगे। अतः ऋषियों के विरोध पर उसने यज्ञ के मुख्य ऋत्विज शुक्र से राजसभा में आने की प्रार्थना की। यज्ञ-कार्य की तैयारी में व्यस्त शुक्र को सभा में जाने की बिलकुल इच्छा न थी; परन्तु मन न होते हुए भी उन्हें जाना पड़ा। किशोरावस्था से अभी ही यौवन में प्रवेश करनेवाले तेजस्वी शुक्राचार्य को आते देख नहुष के साथ-साथ सारी

सभा ने उठकर उनको प्रणाम किया। न खड़े हुए केवल विरोध करनेवाले ऋषिगण! देवों को छोड़ ब्राह्मण-वर्ग अन्य किसी को भी पूज्य न मानता था। विशिष्ट योग्यता बिना वह किसी ब्राह्मण को भी पूजनीय न मानता था। शुक्र विद्वान थे, तपस्वी थे, उनके मुख से निकलनेवाली वेद-वाणी सबको प्रभावित करती थी। उनकी शिष्य-मण्डली भी बहुत व्यापक थी। परन्तु अभी अवस्था में वह बहुत छोटे थे। बहुत से ऋषि-महर्षि वय, तप और विद्वत्ता में शुक्र से कहीं अधिक बड़े थे। उनमें से कितने ही समारम्भ में उपस्थित थे। वे शुक्र के सम्मान में उठकर न खड़े हों, यह स्वाभाविक ही था।

शुक्र का सम्मान न करने को एक कारण और भी था। उन्होंने वेद-शिक्षा के अधिकार की मर्यादा को बहुत कुछ शिथिल कर दिया था। जिसको किसी गुरु-कुल में स्थान न मिलता, उसे शुक्र अपने गुरुकुल में स्थान देते, और उसकी शिक्षा की सुव्यवस्था करते। यहाँ तक तो ठीक था, परन्तु शुक्र इससे भी आगे बढ़ गये थे। वह अनार्यों को भी वेद की शिक्षा देते थे। कभी-कभी वह यवन, असुर तथा पल्लवों के अधिकृत प्रदेश से भी योग्य व्यक्तियों को चुनकर, उनकी योग्यता को परीक्षा लेकर, उन्हें उपवीत प्रदान करते, और शास्त्रों का ज्ञान सम्पादन करने के लिए अपने गुरुकुल में स्थान प्रदान करते थे। उनका सब से आपत्तिजनक कार्य तो यह था कि वह दस्यु, शबर, निषाद तथा नाग-जैसी दास-जातियों में से भी आनेवाले जिज्ञासुओं को निःसंकोच आर्यों का पवित्र ज्ञान प्रदान करते थे। पूर्वकाल में कुछ ऋषि-मुनियों ने इस प्रकार के थोड़े-बहुत प्रयोग किये थे, परन्तु उनके परिणाम सदा अशुभ ही हुए थे। ऐसे कार्यों से आर्यों की विशिष्टता कम होती थी; वेद की महत्ता को धक्का लगता था; कर्म-काण्ड में शिथिलता आती थी; मन्त्रों के उच्चारण में मतभेद खड़ा होता था; और वेद में सन्निहित गुप्त ब्रह्मविद्या का अनधिकारियों के हाथ में पड़ जाने का भय उत्पन्न होता था। आर्यों की विद्या सीखकर तैयार होनेवाले अनार्य आर्यत्व का दम्भ भरने लगते थे, और उनमें से कई तो आर्यों के महाज्ञान का उपहास भी करने लग जाते थे।

ऐसी स्थिति को देखकर आर्य-विद्वान सतर्क हो गये थे। आर्यत्व की विशुद्धि

को बनाये रखने के लिए उन्होंने शिक्षा-प्रणाली को कड़ा कर दिया। आर्य-शिक्षा आर्यों के सिवा अन्य जातियों के लिए अप्राप्य हो जाये, इसलिए अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। आर्य-महिला आर्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकती थी, परन्तु आर्य-पुरुष की अनार्य अथवा असुर-नारी इस ज्ञान से क्यों लाभ उठाये, इस विषय में एक महान विवाद उठ खड़ा हुआ था, और धीरे-धीरे इसका विरोध भी उग्र होने लगा था। उनकी शिक्षा का विरोध होते ही ऐसी अनार्य-पत्नियों को धर्म-कार्य में भाग लेने से भी रोका जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि पाणिग्रहण कर आर्य-संस्थानों में प्रवेश पानेवाली अनार्य-पत्नियों के प्रति पृथक्-कता की भावना जागृत होने लगी। इतना ही नहीं, यदि कोई आर्य-पत्नी अपनी अनार्य-सपत्नी से सहानुभूति या सहयोग करती, तो उसकी भर्त्सना की जाती। ऐसे व्यवहार के कारण शुद्धिकरण का एक प्रबल आन्दोलन चल निकला। आर्य अपनी शिक्षा और विवाह-व्यवस्था में जरा-सी भी क्षति सहने को तैयार न हुए। यदि उन्हें कहीं थोड़ी-सी भी शिथिलता या भूल दिखायी पड़ती, तो वे कठोर दण्ड या प्रायश्चित-विधि निर्धारित करते।

ऐसे आन्दोलन का कहीं-कहीं विरोध भी हुआ। यद्यपि अधिकांश विरोध को दबाकर शान्त कर दिया गया था, परन्तु जिस विरोध के पीछे गहन अध्ययन, तपश्चर्या और आदर्श का बल हो, उसे दबाना कठिन था। शुक्राचार्य ने भी इस आन्दोलन का विरोध किया। अपने से भिन्न मत रखनेवालों के विचारों की परवाह किये बिना वह दृढ़ता से अपने पथ पर आगे बढ़ते ही गये। यज्ञ अथवा सभाओं में अनेक बार शास्त्रार्थ होते, और उन्हें चुनौतियाँ दी जातीं। परन्तु वह अस्खलित रहे। कभी-कभी यह भी सुनने में आता कि उन्होंने अकाट्य प्रमाण देकर अपने प्रतिपक्षियों को निरुत्तर कर दिया। आर्य-गण जहाँ तक होता अपने धर्म-कार्य में शुक्र को निमन्त्रित न करते; परन्तु उनके बढ़ते हुए प्रभाव को पूर्णतया रोकना भी उनके लिए असम्भव था।

ये सब बातें राजा नहुष की जानकारी में थीं। नहुष की नीति—राजनीति—आर्यों की समझ में न आती। कभी वह नाग-सेना का संगठन करता, तो कभी आर्य-क्षत्रियों को युद्ध की शिक्षा देता। देवों के बड़े-बड़े नगरों में भी वह

बराबर आता-जाता। सामान्य मान्यता तो यहाँ तक थी कि हाल ही में इन्द्रासन प्राप्त करनेवाले किशोर वय के इन्द्र के साथ नहुष की अच्छी मैत्री थी। परन्तु आर्य-गौरव के अनुरूप केवल देवताओं से सम्बन्ध स्थापित कर वह बैठा न रहा। असुरों से वह युद्ध भी करता, और मित्रता भी। योग्य निषादों को आर्य बनाने में उसे कोई आपत्ति न थी। और इस कार्य में शुक्र को छोड़ वह और किस की सहायता लेता?

नहुष और शुक्र की इन आर्यत्व-विरोधी प्रवृत्तियों को दबाने के लिए आर्य-ऋषिकुलों में विचार-विमर्ष हो ही रहा था कि इतने में नहुष के व्रात्य-स्तोम यज्ञ का निमन्त्रण आ पहुँचा। विद्वानों ने यह विचार किया कि इस अवसर पर शुक्र और नहुष को ऐसा पाठ पढ़ाना चाहिए कि उन्हें जन्म-भर याद रहे। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर ऋषि-मण्डल अपने शिष्यों के साथ यज्ञ में सम्मिलित हुआ। परन्तु यहाँ पहुँचकर जब उन्होंने देखा कि आर्यों के भयंकर शत्रु असुर-महाराज पुलोमा का प्रतिनिधि-मण्डल पहले ही से आया हुआ है, और उसका नेतृत्व पुलोमा की पुत्री शची कर रही है, तो उनको बड़ा ही क्रोध आया। शुद्धि का आग्रह रखनेवाले इन आर्य-पंडितों को असुरों के प्रति प्रदर्शित सम्मान असह्य हो गया। और जब उन्होंने यह देखा कि शची और उसका साथी वृत्र यज्ञ-वेदी की रचनाओं में रस ले रहे हैं, तो वे अपने को रोक न सके। उन्होंने राजा के सामने अपना विरोध प्रकट किया, और शुक्र जब सभा में आये, तब उनके सम्मान में वे उठे नहीं।

राजसभा में सम्मान पाकर शुक्र अभी इतने घमंडी न हुए थे कि वहाँ उपस्थित ऋषियों की वह उपेक्षा करते। उन्होंने वहाँ बैठे हुए विद्वानों को प्रणाम किया, और अपने लिए निर्दिष्ट उच्च स्थान पर न बैठकर अन्य आर्य मुनियों के साथ ही बैठ गये। उनके आसीन होते ही नहुष ने कहा—"महा भार्गव! आर्य विद्वान एक विरोध उपस्थित कर रहे हैं!"

"राजन्! हमारी ओर से अभी तक ऐसा कोई भी कार्य नहीं हुआ है, जिसके लिए किसी का विरोध हो। फिर भी यदि विद्वद्-मण्डली कोई सुविधा माँगे तो वह अवश्य प्रदान की जानी चाहिए।" शुक्र ने उत्तर दिया।

"परन्तु तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि हमारा सम्पूर्ण यज्ञ-धर्म स्खलित हो रहा है। विद्वद्-मण्डली का यही कथन है।" नहुष ने चर्चा को आगे बढ़ाया।

"यदि कोई भूल होती हो, तो उसे अवश्य सुधार लेना चाहिए। यज्ञ अभी तो कल होगा, अतः भूल सुधारने का पूरा अवसर है। ऋषि-मण्डली से मेरी प्रार्थना है कि वे कृपया हमारी भूल बतायें।" स्वस्थतापूर्वक शुक्र ने विनती की। यह विनती अवश्य थी, परन्तु इसके मृदु शब्दों के पीछे अनुभवी पण्डितों को एक युवा ब्राह्मण की चुनौती भी दीख पड़ी।

एक वृद्ध ब्राह्मण मैदान में उतरा और बोला—"इस यज्ञ का किया जाना ही एक बड़ी भारी भूल है।"

"यज्ञ शास्त्रोक्त है।" शुक्र ने उत्तर दिया।

"यज्ञ भले ही शास्त्रोक्त हो; यज्ञ-कार्य शास्त्रोक्त विधि से नहीं हो रहे हैं।"

"कौन-सा कार्य शास्त्रोक्त विधि से नहीं हुआ?"

"वैदिक कार्य में जिस प्रकार की विशुद्धि होनी चाहिए, वैसी विशुद्धि इस स्थान में सम्भव नहीं।"

"इस भूमि का प्रत्येक भाग विशुद्धि-मंत्रों के शुद्ध उच्चारण द्वारा परिमार्जित किया गया है। फिर भी यदि आपको कोई भाग विशुद्ध न मालूम होता हो, तो मुझे बताने को कृपा करें। मैं उसे विधिपूर्वक परिमार्जित करूँगा।"

"शुक्र! तुम आचार्य बनकर बैठे हो। क्या तुम्हारी समझ में यह नहीं आता कि जहाँ यवन, असुर और पुलिन्दों का निवास हो, वह सारा स्थान उनके श्वास लेने-मात्र से अपवित्र हो जाता है?"

"इन जातियों को आर्य बनाने के लिए ही हमारे गोत्र-पूर्वजों ने इस यज्ञ-विधि की रचना की है। आर्यों की पवित्रता इतनी हलकी नहीं है कि वह असुरों की श्वास से अदृश्य हो जाये!"

"जिस किसी असुर को चाहो उसे आर्य बनाने के लिए तुम यज्ञ करने के अधिकारी नहीं। यज्ञ की यह भावना ही भ्रामक है। निम्न कोटि के मनुष्य को यदि उन्नत होना हो, तो उसे अनेक प्रकार की तपश्चर्या और प्रायश्चित करने

पड़ेंगे, निर्दिष्ट देह-कष्ट सहना पड़ेगा, कड़ा अभ्यास-मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा।"

"महाराज नहुष के यज्ञ में जिन अनार्यों को आर्यत्व प्रदान किया जाने-वाला है, उन सब को मैंने अपने आश्रम में रखकर शास्त्रों के आदेशानुसार तप और प्रायश्चित-क्रिया से परिष्कृत किया है।"

"इस बात का प्रमाण क्या है?"

"मेरा आश्रम सभी आर्यों के लिए खुला है। आपके ही पौत्र ने मेरे आश्रम में रहकर मेरे पास विद्याध्ययन किया है। आप उसी से पूछें।"

"बालकों का अभिप्राय हमें मान्य नहीं।" वृद्ध ने उत्तर दिया।

"तब आप स्वयं मेरे आश्रम में पधारने की कृपा करें। आपके समकक्ष, समवयस्क श्वेतकेशी पूज्य शाकलजी मेरे पास बहुत समय तक रह चुके हैं, और इस समय आपके पीछे ही विराजमान हैं। आप उनसे पूछें कि अनार्यों की शिक्षा में मैं कितनी कड़ाई करता हूँ।" शुक्र ने शाकल मुनि की साक्षी दी।

विद्वद्-मण्डली में हलचल मच गयी। एक-दूसरे से विचार-विनिमय भी होने लगा। सब को इस बात की शंका हुई कि दुराग्रही शुक्र अपनी बात मनवाये बिना मानेगा नहीं।

अपने नाम का उल्लेख होने पर श्वेतकेशी शाकल स्वयं बोले—"तुम्हारी बात सत्य है, शुक्र! परन्तु वह व्यवहार्य नहीं है, तुम अभी बालक हो।"

"आपके सामने मैं अवश्य बालक हूँ। परन्तु मेरे कार्य में कौन-सा तत्व अव्यवहार्य है, यह मेरी समझ में नहीं आता।" शुक्र ने उत्तर दिया।

"आर्यत्व कोई बाँटने की, दान देने की वस्तु नहीं है। वह तो मनुष्य के विकास की एक निश्चित भूमिका है। सौ वर्ष में कदाचित् कोई अनार्य आर्य हो सके। तुम तो एक ही वर्ष में सौ अनार्यों को आर्यत्व देने जा रहे हो।"

"यह हो सकता है कि एक वृक्ष में एक ही फूल खिले, परन्तु यदि उसकी विशेष रूप से देख-भाल की जाये तो उसमें सौ फूल भी खिल सकते हैं। आप सब विद्वान इन अनार्यों की परीक्षा लें। जिसका विकास आपको अधूरा लगे, उसे आप पृथक् कर दें; मुझे इसमें कोई आपत्ति न होगी।" शुक्र को अपने शिक्षण-कार्य में विश्वास था।

"ऐसी परीक्षा से क्या लाभ होगा ? मनुष्य की सारी बनावट ही बदलनी चाहिए। दो-चार की बनावट बदली जा सकती है, सारे समूह की नहीं।"

"मुनिराज ! क्या संख्या देखकर भय हो रहा है ? मगर भय का कोई कारण नहीं। आर्यत्व को विस्तार से क्या भय है ? उसे सप्तसिन्धु में ही सीमित रखना है अथवा कृण्वन्तोहि विश्वमार्यम्—उसे विश्व-भर में फैलाना है ?"

"तो कहो अपने मित्र नहुष से कि वह चक्रवर्ती बने, और असुर-भूमि को जीतकर अपने राज-दण्ड के नीचे ले आये। इसी से आर्यत्व का यथार्थ विस्तार होगा। हम सब भी उसकी सहायता करेंगे। अनार्यों को पकड़कर, समझा-कर, लालच दिखाकर यत्र-तत्र यज्ञ-द्वार खोलकर आर्यत्व में प्रवेश दिलाना सच्चा मार्ग नहीं। आर्यत्व का विस्तार विजय के डंके के साथ होता है, चोर दरवाजा खोलकर नहीं !"

"आर्यत्व केवल शस्त्र-विजय है, ऐसा कहनेवाले केवल आप ही निकले। असुरों को भी शस्त्र चलाना आता है, यह क्यों भूल जाते हैं ? और असुरों की शक्ति भी कम नहीं है।"

"तो हमारी पीठ पर देवों की शक्ति विद्यमान है और वह किसी तरह भी कम नहीं है ! जब तक हम यज्ञ-भाग भेजते जायेंगे, देव हमारी पूर्णरूप से रक्षा करते रहेंगे।"

"असुर, पुलिन्द और निषाद हमारे शस्त्र-बल से भयभीत होकर आर्य बनना नहीं चाहते। आर्यों के संस्कार, आर्यों के तप, आर्यों का गृह-जीवन, आर्यों के मंत्रोच्चारण और आर्यों की कला से प्रभावित होकर वे आर्यत्व को अपनाना चाहते हैं। हमारे आर्यत्व का अवलम्ब शस्त्र नहीं, शास्त्र है।"

"आर्यों को दुर्बल बनानेवाली बातें मत कहो। विजयोच्चार ही वेदोच्चार है, विवशता के उद्गार नहीं !"

"वेद का विजय-मार्ग ही मेरा पथ है। आप अपनी विधि से पधारें, मैं अपने ढंग से जाऊँगा। मेरी विधि शास्त्रों के विरुद्ध है, इसे जब तक आप प्रमाणित न करेंगे, मैं इस शास्त्रोक्त यज्ञ को अवश्य कराऊँगा।" शुक्र की सौम्यता ने अब कुछ उग्रता धारण कर ली थी।

"अर्थात् यहाँ उपस्थित समस्त तपस्वी-मण्डल की इच्छा के विरुद्ध तुम आचरण करोगे ?"

"तपस्वी-मण्डली की इच्छा यदि शास्त्र-विरुद्ध है, तो अपने जीवन की परवाह न करके भी उसका विरोध करूँगा। परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि तपस्वी-मण्डली की इच्छा क्या है ? मुझे यह स्पष्टतापूर्वक बताया जाये। गोल मोल शास्त्र व्यवहार से परिवेष्टित उलझन के साथ नहीं।"

"तो साफ-साफ सुन लो। जो यज्ञवेदी बन रही है, उसके आसपास असुरों के पद-चिन्ह पड़ रहे हैं। यह न होना चाहिए।"

"अच्छा ! आपकी इच्छा को मैंने जान लिया। यज्ञ अभी कल प्रारम्भ होगा। यज्ञ-स्थल को अनार्यों के ही नहीं, अपितु आर्यों के पद-चिन्ह की मलिनता से भी शुद्ध करना है। और स्थल-परिमार्जन के मंत्र आप ही लोगों के द्वारा उच्चारित कराये जायेंगे।"

"और एक दूसरी इच्छा भी है। वह यह कि यदि असुरों की उपस्थिति में यज्ञ हुआ तो सारी तपस्वी-मण्डली उसका विरोध करेगी।"

"असुर जिस क्षण यज्ञ के विध्वंस का प्रयत्न करेंगे, उसी क्षण मैं शस्त्र लेकर उनके विरुद्ध खड़ा हो जाऊँगा। लेकिन असुरों की उपस्थिति में यज्ञ नहीं हो सकता, ऐसा शास्त्र-वचन—वेद-वचन—मुझे बताने की कृपा करें और मैं आपका कहना मान लूँगा।"

"सारे वेद से यही ध्वनि निकलती है।"

"आप-जैसी विद्वान मुनि-मण्डली को मुझे उस वेद-मंत्र का स्मरण दिलाना न पड़ेगा, जिसमें मेरे और आपके पूर्वजों ने देवाधिदेव परब्रह्म को असुर के नाम से सम्बोधित किया है।"

"राजन् नहुष ! अब हमें शुक्र के साथ वितंडा में नहीं उतरना है। हमारा अभिप्राय आपने जान लिया। आशा है उसका विचार करके ही अपना कार्य करेंगे।"

शुक्र अपनी बात न छोड़े और किसी का कहना भी न माने, ऐसी परिस्थिति में वाद-विवाद बढ़ाना ब्रह्मर्षि-मण्डली को अच्छा न लगा। शुक्राचार्य

शिष्टाचार और विनय का पालन अवश्य करते थे, परन्तु मुनि-मण्डली के मत को स्वीकर न करते थे, आगे चलकर उनके स्वीकार करने की संभावना भी न थी। अपनी बात पर अड़े रहकर मन की दृढ़ता बनाये रहने से प्रतिपक्षी की दृढ़ता चालित हो जाती है। शुक्र की दृढ़ता के आगे मुनि-मण्डली उग्र हो उठी।

शुक्राचार्य की दलीलों से नहुष प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था। वृद्ध ब्रह्मर्षि का सम्बोधन सुनकर उसने उत्तर दिया—"गुरुजन! जो कुछ भी करना हो, वह आप सब और शुक्राचार्य मिलकर निश्चित करें। हम तो सबके यजमान हैं। इस यज्ञ-कार्य का याज्ञिक-पद हम शुक्राचार्य को दे चुके हैं—इस बात को भी आप समझ लें!"

राजा का उत्तर मिल गया। यह बात स्पष्ट हो गयी कि नहुष शुक्र को छोड़ेगा नहीं, और शुक्र अपने मत पर अड़ा रहेगा। शुक्र की अपनी समर्थ शिष्य-मण्डली थी, जो अन्य किसी के सहयोग की परवाह किये बिना आवश्यकता पड़ने पर स्वयं यज्ञ-कार्य सम्पादित कर सकती थी। इस यज्ञ को रोकने के लिए दूसरा कोई आर्य-नृपति नहुष से युद्ध करने के लिए भी तैयार न होगा। तब यज्ञ कैसे रोका जाये? किस भाँति? क्या करें? कुछ सुझायी नहीं दे रहा था।

परन्तु किसी भी प्रकार यज्ञ तो रोकना ही होगा।

क्या यह कार्य सारे पुरोहित-वर्ग को मान्य होगा? नहुष के नमस्कार के उत्तर में आशीर्वाद दिये बिना ही ब्राह्मण-मण्डली उठकर सभा से चली गयी। कुछ विद्वान बैठे भी रह गये।

संघर्ष

[९]

इधर नहुष के दरबार में यज्ञ के विषय को लेकर विवाद चल रहा था, उधर नगर के निकट से होकर बहनेवाली नदी के तट पर यज्ञ-कार्य के लिए जबर्दस्त तैयारियाँ हो रही थीं। यज्ञ की सारी व्यवस्था शची ने देखी। उसे इस बात के समाचार भी मिल चुके थे कि उसके इस निरीक्षण कार्य के विरोध में राजसभा में चर्चा हो रही है। यहाँ का नदी-तट उसे रमणीय लगा। इस स्थान में भ्रमण करना उसे अच्छा मालूम हुआ। अठखेलियाँ करती हुई सरिता के प्रवाह को देखती-देखती वह बहुत दूर चली गयी। वायु-लहरी में उसका केश-पाश लहरा रहा था। आर्य-आश्रमों के आसपास फैली हुई वन-श्री उसे पसन्द आयी, और उसे देखती हुई वह आगे बढ़ती चली गयी। आर्यों की नगर-रचना में वन-उपवन का प्रमुख स्थान था। छोटे-छोटे उपवन प्रत्येक नगर की शोभा बढ़ाते थे। चलते-चलते ऐसे ही एक उपवन में शची जा पहुँची। यह स्थान उसे बड़ा ही सुन्दर लगा। वहाँ का नदी-तट भी मनोरम था। सन्ध्याकाल अभी दूर था, तथापि उपवन के वृक्षों की पाँति प्रकाश को सौम्य बनाकर वहाँ शीतलता प्रसारित कर रही थी।

शची नदी के किनारे से धारा के पास उतर आयी। सहज भाव से वस्त्र उठाकर उसने अपने पैर पानी में डाले। जल की शीतलता के आनन्द का अनुभव करती हुई वह पास की रेती में बैठ गयी। वहाँ बैठकर उसने वनराजि को देखना शुरू किया। स्थान बड़ा ही सुन्दर था! बीच-बीच में दो-तीन बार बहते हुए पानी में उसने अपना मुख देखा, और अन्त में हँस पड़ी। नदी

और वन-श्री के सौन्दर्य के बीच वह स्वयं किसी कुरूपता की सृष्टि नहीं कर रही थी। बल्कि उस स्थान के सौन्दर्य में उसका अपना सौन्दर्य भी लीन हो रहा था। आर्यों का उपवन असुर-कन्या का तिरस्कार नहीं करता था; उसका तिरस्कार तो करते थे आर्य-संस्कृति के ठेकेदार।

पानी में छप-छप का शब्द हुआ। यह शब्द कहाँ से आया ? मनुष्य जितना सोचता है वन या उपवन उतने शान्त और नीरव नहीं होते। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वन की शान्ति ही बोलने लगती है ! कोई चिड़िया एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर जा बैठती। नदी के ऊपर आकाश में एक चील उड़ रही थी, और दूर किनारे पर तपस्वी की भाँति दो बगुले स्थिर खड़े थे ! बचाने की इच्छा रहते हुए भी शची कितनी मछलियों को बचाती ? बगुलों को भूख लगती है, तब वे मछलियों की शोध में निकलते हैं। भूख मनुष्य के हृदय में हिंसा उत्पन्न करती है; तृप्त मानव को हिंसा की क्या आवश्यकता ? आर्यों को कौन-सी भूख सता रही है, जिससे वे असुरों के प्रति ऐसा हिंसा-भाव रखते हैं ?

शची के केश इधर-उधर उड़ रहे थे; उस स्थान के अमर्यादित वातावरण में शची के अंग-प्रत्यंग उन्मुक्त होकर विहार करना चाहते थे। बालों की लट को उसने हाथ से व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे विद्रोही उसका कहना न मानते थे। उसने अपने वस्त्र में से कंघी निकाली और केशों को सँवारना शुरू किया। बाल सँवारते-सँवारते उसकी दृष्टि नदी के जल पर पड़ी। जल में उसका मुख दिखायी पड़ा। अपना मुख उसे सुन्दर प्रतीत हुआ और उसे देखने में वह आनन्द का अनुभव करने लगी। वह अपने मुख के सौन्दर्य को देखती रही। इस कार्य में वह इतनी तल्लीन हो गयी कि आसपास का उसे जरा भी खयाल न रहा। उससे थोड़ी ही दूर पर एक नाव आकर रुक गयी, परन्तु उसे इसका पता तक न चला।

उस नौका में से एक युवक किनारे पर उतरा। गौर-वर्ण का वह युवक मानो पुरुष-सौन्दर्य का प्रतीक था ! स्कन्ध तक लटकनेवाले उसके केश सुन-हरी मस्तक-पट्टिका से बँधे हुए थे। शरीर पर रेशमी वस्त्र थे—बहुत थोड़े और

खुलते हुए। नाव में से उतरकर उसने लंगर बालू पर फेंका, नौका को स्थिर किया, कन्धे पर धनुष-बाण धारण किया, और कूदकर आगे आया। उसकी दृष्टि चारों ओर घूम गयी। थोड़ी दूर पर बैठी हुई शची को उसने ध्यान से देखा। शची अपने मुख-दर्शन और केश सँवारने में इतनी संलग्न थी कि वहाँ किसी के आने की उसे आहट तक न मिली। युवक कुछ क्षण तक खड़ा होकर उसे देखता रहा, परन्तु शची को अवकाश कहाँ था कि घूमकर उसकी ओर देखती? कुछ रुककर युवक आगे बढ़ा। बालू में उसकी पदचाप वहाँ की नीरवता को भंग करने लगी। युवक को प्रतीत हुआ कि यह ध्वनि शची के कानों तक अवश्य पहुँचती होगी!

चलकर वह शची के बहुत निकट जा पहुँचा।

"नमस्ते! कुमारी!" युवक ने शची का अभिनन्दन किया।

"नमस्ते!" मस्तक घुमाये बिना ही शची ने उत्तर दिया।

"आपका परिचय?"

"पहले आप अपना परिचय दें।" शची ने पहले युवक से परिचय माँगा, और शीघ्र ही मुँह घुमाकर स्वस्थतापूर्वक उसे देखने लगी। कोई नयी बात न हुई हो, ऐसी शान्ति रखते हुए उसने बाल सँवारने का काम बन्द करके कंघी को पुनः अपने वस्त्र में रख लिया।

"मैं कौन हूँ? मेरा परिचय पाकर आप चौंक तो न पड़ेंगी?" स्मित करते हुए युवक ने पूछा। शची उस युवक को कुछ क्षण तक देखती रही। उसका यौवन उसे आकर्षक लगा।

"मैं कभी चौंकती नहीं—न भय से, न रूप से, न उत्साह से!"

"आप ऐसे एकान्त स्थान में बैठी हैं, जहाँ पुकारने पर आपकी आवाज को कोई सुन नहीं सकता।"

"असुर कभी निरर्थक आवाज देते ही नहीं।"

"यह मुझे मालूम है।"

"आपको कैसे मालूम? असुरों से परिचित हैं?"

"हाँ, कुमारी! मैं असुरों को अच्छी तरह जानता हूँ। मैं उनके साथ कई

बार युद्ध भी कर चुका हूँ।"

"तब कदाचित् आप कोई देव हैं।"

"हाँ! और यदि मैं कहूँ कि मैं देवों का राजा इन्द्र हूँ तो...."

"तो मेरा भी उत्तर सुन लें, मैं पुलोमा की पुत्री शची हूँ। असुरों के सर्वश्रेष्ठ सिंहासन की उत्तराधिकारिणी!"

"आपका नाम बहुत बार सुना है; मेरा मित्र नहुष आपका बखान बराबर किया करता है।"

"प्रशंसा सुनकर प्रसन्नता नहीं होती, यह तो कैसे कहूँ? परन्तु नहुष मेरी प्रशंसा क्यों करते हैं, यह भी मैं जानती हूँ। हम लोगों को अपने यज्ञ में आमन्त्रित करके उन्होंने बड़ी झंझट मोल ले ली है। हमको इस बात का बड़ा खयाल है।"

"परन्तु आपके लिए यह स्थान निरापद नहीं। यहाँ आपके लिए कितना भय है इसे शायद आप जानती नहीं हैं।"

"नहीं, मैंने तो सुना है कि आर्यों के प्रदेश निरापद होते हैं।"

"सच है; लेकिन तभी तक जब तक अनार्य वहाँ कोई उपद्रव नहीं खड़ा करते।"

"क्या हम यहाँ कोई उपद्रव करने आये हैं? और क्या इसी लिए आपका आना हुआ है? क्या आर्यों को सहायता देने के लिए ही?"

"मैं तो अपने मित्र नहुष का निमन्त्रण पाकर आया हूँ,—अपना देव-भाग लेने। परन्तु मैं आया हूँ गुप्त रीति से।"

"देवाधिदेव गुप्त रह सकेंगे?"

"हाँ, मुझे विश्वास है।"

"यदि यह भेद मैं जाकर प्रकट कर दूँ?"

"आप प्रकट नहीं करेंगी, इसका मुझे विश्वास है।"

"कारण?"

"मैंने आपको एक बड़ी आफत से बचाया है।"

"कौन-सा भय था मेरे लिए?"

"निषाद अपनी देवी को आपकी बलि चढ़ानेवाले थे।"

"मेरी बलि ? किस लिए ?"

"निषादों को यह पसन्द नहीं कि उनके सौ भाई आर्य बनें। यज्ञ को किसी भी भाँति रोकने के लिए वे पूरा प्रयत्न कर रहे हैं।"

"जिस प्रकार आपके आर्य इस यज्ञ को रोक देना चाहते हैं, क्या उसी प्रकार ?" हँसकर शची ने कहा। शची का मन्द स्मित इन्द्र के हृदय में बस गया।

"उससे भी कहीं भयंकर तरीके से।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"जरा उस ढंग का वर्णन तो सुनाइए।"

"वर्णन न कर यदि मैं आपको प्रत्यक्ष ही दिखा दूँ ?"

"क्या दिखलायेंगे ?"

"यही कि आपकी बलि किस विधि से दी जानी थी ?"

"अच्छा ! मगर आप बतायेंगे कैसे ?"

"यदि मेरा विश्वास हो तो मेरे साथ आयें; मैं आपको ले चलकर दिखला दूँ।"

"मुझे अपने-आप पर पूरा विश्वास है, इसलिए किसी के साथ अकेले जाने में मुझे भय नहीं लगता। और देखिए न ! यहाँ भी हम अकेले ही तो हैं। अच्छा, चलिए।" शची खड़ी हो गयी और इन्द्र के साथ चल पड़ी। दोनों रेती पार करके वन की ओर चले। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते जाते थे, वन गहन होता जाता था, और वृक्षों से ढकी हुई छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिखने लगती थीं।

"शचीकुमारी ! आपका आत्म-विश्वास आवश्यकता से अधिक तो नहीं है ?" एक पहाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते इन्द्र ने कहा।

"क्या मेरा आत्म-विश्वास आपको खटकता है ?" शची ने इन्द्र की ओर ध्यान से देखते हुए पूछा।

"नहीं, बिलकुल नहीं। मुझे वह पसन्द आया। परन्तु इस प्रकार का आत्म-विश्वास खतरे से खाली नहीं होता।"

बार युद्ध भी कर चुका हूँ।"

"तब कदाचित् आप कोई देव हैं।"

"हाँ! और यदि मैं कहूँ कि मैं देवों का राजा इन्द्र हूँ तो...."

"तो मेरा भी उत्तर सुन लें, मैं पुलोमा की पुत्री शची हूँ। असुरों के सर्वश्रेष्ठ सिंहासन की उत्तराधिकारिणी!"

"आपका नाम बहुत बार सुना है; मेरा मित्र नहुष आपका बखान बराबर किया करता है।"

"प्रशंसा सुनकर प्रसन्नता नहीं होती, यह तो कैसे कहूँ? परन्तु नहुष मेरी प्रशंसा क्यों करते हैं, यह भी मैं जानती हूँ। हम लोगों को अपने यज्ञ में आमन्त्रित करके उन्होंने बड़ी झंझट मोल ले ली है। हमको इस बात का बड़ा खयाल है।"

"परन्तु आपके लिए यह स्थान निरापद नहीं। यहाँ आपके लिए कितना भय है इसे शायद आप जानती नहीं हैं।"

"नहीं, मैंने तो सुना है कि आर्यों के प्रदेश निरापद होते हैं।"

"सच है; लेकिन तभी तक जब तक अनार्य वहाँ कोई उपद्रव नहीं खड़ा करते।"

"क्या हम यहाँ कोई उपद्रव करने आये हैं? और क्या इसी लिए आपका आना हुआ है? क्या आर्यों को सहायता देने के लिए ही?"

"मैं तो अपने मित्र नहुष का निमन्त्रण पाकर आया हूँ,—अपना देव-भाग लेने। परन्तु मैं आया हूँ गुप्त रीति से।"

"देवाधिदेव गुप्त रह सकेंगे?"

"हाँ, मुझे विश्वास है।"

"यदि यह भेद मैं जाकर प्रकट कर दूँ?"

"आप प्रकट नहीं करेंगी, इसका मुझे विश्वास है।"

"कारण?"

"मैंने आपको एक बड़ी आफत से बचाया है।"

"कौन-सा भय था मेरे लिए?"

"निषाद अपनी देवी को आपकी बलि चढ़ानेवाले थे।"

"मेरी बलि? किस लिए?"

"निषादों को यह पसन्द नहीं कि उनके सौ भाई आर्य बनें। यज्ञ को किसी भी भाँति रोकने के लिए वे पूरा प्रयत्न कर रहे हैं।"

"जिस प्रकार आपके आर्य इस यज्ञ को रोक देना चाहते हैं, क्या उसी प्रकार?" हँसकर शची ने कहा। शची का मन्द स्मित इन्द्र के हृदय में बस गया।

"उससे भी कहीं भयंकर तरीके से।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"जरा उस ढंग का वर्णन तो सुनाइए।"

"वर्णन न कर यदि मैं आपको प्रत्यक्ष ही दिखा दूँ?"

"क्या दिखलायेंगे?"

"यही कि आपकी बलि किस विधि से दी जानी थी?"

"अच्छा! मगर आप बतायेंगे कैसे?"

"यदि मेरा विश्वास हो तो मेरे साथ आयें; मैं आपको ले चलकर दिखला दूँ।"

"मुझे अपने-आप पर पूरा विश्वास है, इसलिए किसी के साथ अकेले जाने में मुझे भय नहीं लगता। और देखिए न! यहाँ भी हम अकेले ही तो हैं। अच्छा, चलिए।" शची खड़ी हो गयी और इन्द्र के साथ चल पड़ी। दोनों रेती पार करके वन की ओर चले। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते जाते थे, वन गहन होता जाता था, और वृक्षों से ढकी हुई छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिखने लगती थीं।

"शचीकुमारी! आपका आत्म-विश्वास आवश्यकता से अधिक तो नहीं है?" एक पहाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते इन्द्र ने कहा।

"क्या मेरा आत्म-विश्वास आपको खटकता है?" शची ने इन्द्र की ओर ध्यान से देखते हुए पूछा।

"नहीं, बिलकुल नहीं। मुझे वह पसन्द आया। परन्तु इस प्रकार का आत्म-विश्वास खतरे से खाली नहीं होता।"

"पुरुष को अकेले आने-जाने में कोई भय न हो, तो स्त्री को क्यों होने लगा ? आप तो अकेले ही मेरे साथ आये हैं, आपको भय क्यों नहीं लगता ?" शची ने पूछा।

"आपसे परिचय बढ़ा तो भय भी अवश्य होगा।" हँसकर इन्द्र ने उत्तर दिया।

"देवों को दानवों का परिचय प्रिय होगा ?"

"दानव यदि आप-जैसे हों तो क्यों न प्रिय होगा ?"

"और कोई साम्य हो या न हो, परन्तु एक बात में देव, दानव और असुर मिलते-जुलते हैं—असुर भी देवों जैसे ही अभिमानी होते हैं।"

"और असुरों की राजकुमारी ?" हँसकर इन्द्र ने प्रश्न किया।

"देवाधिदेव-जैसी ही अभिमानिनी।" शची ने भी सस्मित उत्तर दिया।

पहाड़ी पर कुछ दूर चढ़ने के बाद शची को किसी के घूमने-फिरने की आहट सुनायी दी।

"यहीं से निषादों की बलि-भूमि प्रारम्भ होती है।" इन्द्र ने कहा।

"मुझे भी ऐसा ही लग रहा है।"

"लोग यहाँ आपकी ही राह देख रहे हैं।"

"अच्छा ?"

"हाँ। लेकिन जिस प्रकार आप आ रही हैं, उस प्रकार नहीं। वे तो यह आशा लगाये बैठे हैं कि निषाद आपको बाँधकर लाते होंगे।"

"असुर-सम्राट् की पुत्री को बाँधकर लाना सरल काम तो है नहीं।"

"है क्यों नहीं ! असुर-सम्राट् की पुत्री को बलि चढ़ाने का निषादों ने निश्चय किया हो, उसके लिए वध-स्थान बनाया हो, और देवी की स्थापना भी हो चुकी हो, और आप उन्हें सुविधा प्रदान करें, तो बाँधकर ले जाने में कठिनाई ही क्या हो सकती है ?"

"मैं सुविधा दे रही हूँ ?"

"आप ही विचार करें—आधे पखवारे से आप यहाँ आयी हुई हैं। सब लोगों को आपका परिचय हो जाये, इस प्रकार सर्वत्र घूमती-फिरती हैं। रक्षा

अथवा रक्षक की आपको जरा भी परवाह नहीं । आधे-आधे कोस तक अकेली, बिलकुल अकेली ही निकल जाती हैं । बलिदान चढ़ाने के लिए इससे अधिक सुविधा और क्या हो सकती है ? देखिए, उस सामनेवाली गुफा की ओर ?"

उसी पहाड़ी पर स्थित एक गुफा की ओर शची की दृष्टि गयी । उस गुफा में से एक, दो, तीन, चार, पाँच काले-काले, विचित्र वेश-भूषा धारण किये हुए विशालकाय निषाद बाहर निकले । उनके शरीर रँगे हुए थे । गुफा से बाहर निकलते समय पहले वे धीरे-धीरे सचेष्ट होकर इस तरह चले, मानों छिपकर बाहर आ रहे हों । परन्तु क्षण-दो क्षण में उनकी गति में तीव्रता आयी और भयंकर छलाँगें मारते हुए वे इन्द्र और शची के सामने आकर खड़े हो गये । उन्हें कुछ आश्चर्य भी हुआ । जिस कुमारी की उन्हें बलि चढ़ानी थी, वह स्वतन्त्र थी ! और जो निषाद उसे पकड़ने के लिए भेजे गये थे, उनके स्थान पर एक तेजस्वी आर्य-युवक धनुष-बाण धारण किये हुए खड़ा था । यह देखकर निषाद जरा रुक गये । कहीं कुछ भूल तो नहीं हो गयी ? उन्होंने विचार किया । जो निषाद नहुष के नगर में कुमारी को पकड़ने के लिए भेजे गये थे, वे साथ में क्यों नहीं हैं ? बलि-पात्र कुमारी तो वही है ! परन्तु उसके साथ यह आजानुबाहु अज्ञात पुरुष कौन है ?

"यदि जान बचानी हो तो निषादो, भागो यहाँ से, नहीं तो तुम्हीं देवी की बलि चढ़ा दिये जाओगे ।" इन्द्र ने ऊँचे स्वर में कहा । अप्सराओं के सहवास से उसकी वाणी में माधुर्य नहीं आने पाया था, वरन स्त्रियों को रुचे ऐसी रुक्षता ही थी ।

"तुम दोनों बलि चढ़ाये जाओगे ।" एक निषाद ने अपना भाला उठाते हुए कहा, यद्यपि वह एक कदम भी आगे न बढ़ा था ।

"पहले पूछ आओ अपने उन भाइयों से, जिन्हें तुमने इस कुमारी का अपहरण करने के लिए भेजा था ।" इन्द्र ने कहा ।

"वे सब कहाँ हैं ?"

"खुद समझो कि वे कहाँ हो सकते हैं ! वे हैं हमारे बन्धन में ।"

"तब तो तुमको जीवित नहीं छोड़ा जा सकता ।"

"यह तुम्हारे हाथ की बात नहीं, जरा सोचो तो सही कि हम अकेले क्यों आये हैं?"

"इसका विचार बाद में होगा। अभी तो हाथ में आयी हुई कुमारी के रुधिर से माता का खप्पर भरना है।"

"कुमारी का रुधिर नहीं, वह रुधिर तुम्हारा ही होगा। और देखो! आगे न बढ़ना। जो भी एक कदम आगे बढ़येगा, वह दूसरा उठाने के लिए जीता न रहेगा।" इन्द्र ने निषादों को चेतावनी दी, और बिजली की त्वरा से बाण को धनुष पर चढ़ाकर निषादों की ओर अनुसन्धान किया। शची का ध्यान इन्द्र के हाथों की ओर आकृष्ट हुआ। कितने लम्बे और कैसे मज़बूत हाथ थे वे!

सामने खड़े हुए एक विशालकाय निषाद ने प्रबल वेग से अपना भाला इन्द्र के ऊपर फेंका। ठीक उसी समय इन्द्र के धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुनायी दी और इन्द्र के छोड़े हुए बाण ने बीच ही में भाले के दो टुकड़े कर दिये।

आक्रमण करने की तैयारी करनेवाले निषादों के पैर यकायक रुक गये। एक विचित्र स्वर उनके कानों में पड़ा। धीरे-धीरे हवा के साथ आनेवाले इस स्वर को इन्द्र और शची ने भी सुना। निषादों ने विचित्र घबराहट का अनुभव किया, और पलक मारते पीछे घूमकर वे भागने लगे।

"शची! छोड़ देना है इन निषादों को या संहार करना है!" निषादों का पीछा करने की तत्परता प्रदर्शित करते हुए इन्द्र ने पूछा।

"यदि वे भाग रहे हों तो छोड़ ही दें। पलायन करते शत्रु पर हाथ नहीं उठाना चाहिए।" शची ने उत्तर दिया।

इन्द्र ने निषादों का पीछा करना छोड़ दिया। उसने शची को साथ में लेकर गुफा के अन्दर प्रवेश किया।....आगे-आगे इन्द्र था और पीछे-पीछे शची। अन्दर पहले घना अन्धकार मिला। कुछ क्षण बाद जब आँखें अँधेरे की अभ्यस्त हो गयीं तो इन्द्र ने आगे पाँव बढ़ाये। शची भी उसके पीछे-पीछे चली। एक साथ एक ही मनुष्य प्रवेश कर सके ऐसी तंग सुरंग-जैसी गुफा को पार करने के बाद एक विशाल चौक-जैसा खुला हुआ स्थान दीख पड़ा। इस

स्थान में वृक्ष भी थे। परन्तु सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती थी एक भयंकर स्त्री-मूर्ति, जो पहाड़ी के ढाल पर पत्थरों को खोदकर निर्मित की गयी थी। इन्द्र और शची दोनों ने इस मूर्ति को देखा। उसे तेल-सिन्दूर लगाया गया था; नेत्रों के स्थान पर दो बड़े-बड़े कौड़े चिपकाये गये थे; मिट्टी के दो बड़े पात्रों में दीपक जगमगा रहे थे, जिनका प्रकाश जीभ निकालकर खड़ी हुई मूर्ति की भंयरता में अभिवृद्धि करता था। मूर्ति के पास माता के पाँव के सामने काष्ठ की एक छोटी-सी वेदी थी, जिसके यूप में बलि को बाँधकर उसका वध करने के बाद भोग चढ़ाया जाता था। इस स्थान पर सदैव रुधिर बहता रहता था, ठीक देवी के रुधिर भीगे पाँवों की भाँति!

"कुमारी! इसी देवी को आपका बलिदान दिया जानेवाला था।" इन्द्र ने हँसते हुए कहा।

"यह तो मैं समझ गयी। परन्तु देवराज! स्वर्ग में आपके महल में भी क्या ऐसी ही देवियाँ होंगी?" शची ने भी हँसकर विनोद किया।

"देवों का प्रतिनिधि इन्द्र मैं हूँ। मुझे देखकर इन्द्र-कुटुम्ब की देवियों को आप कल्पना कर सकती हैं। यदि आपको मुझमें और इस देवी की आकृति में समानता दिखायी देती हो, तो मुझे कुछ भी नहीं कहना! वैसे यह देवी तो निषादों की कल्पना की मूर्ति है, देवों की नहीं।" इन्द्र ने हँसते हुए शची विनोद का उत्तर दिया।

"यदि आप बतायेंगे, तो उन देवियों को भी देखने का अवसर मुझे मिलेगा; परन्तु मुझे समझ में नहीं आया कि देवी के भोग के लिए निषादों ने मुझे ही क्यों पसन्द किया? आर्य जिस प्रकार निषादों के जंगल उनसे छीन लेते हैं, उस प्रकार हम असुर तो उनकी भूमि का अपहरण करते नहीं।"

"शुक्र के कुछ निषाद शिष्य भले ही आर्य बनना चाहते हों, परन्तु निषाद-जनता को यह बात पसन्द नहीं। वह नहीं चाहती कि उसके कुछ सदस्य अपना व्यक्तित्व खोकर आर्यत्व के संस्कार ग्रहण करें। उनके विचारों में इन संस्कारों में बनावटी भाषा का व्यवहार होता है, और घर तथा बाहर सर्वत्र यज्ञ का धुआँ उड़ाया जाता है!"

"परन्तु मेरा—एक असुर कन्या का—भोग देने से इन निषादों का आर्य बनना कैसे रुक जाता ?

"आपकी बलि चढ़ाये जाने पर असुर प्रतिनिधि-मण्डल राजा नहुष को इसके लिए जिम्मेदार ठहराता और उसके विरुद्ध तुरन्त युद्ध की घोषणा कर देता। इस प्रकार यज्ञ में बाधा पड़ती, और निषादों का आर्य बनना रुक जाता।"

"यह यज्ञ रुक जाये ऐसी बहुत से आर्यों की भी इच्छा है।"

"हाँ। नहुष और शुक्र के विरोधियों ने तो कहीं इन निषादों को उत्तेजित नहीं किया हो ?"

"हाँ, बात तो यही है।"

"आपको कैसे मालूम हुआ ?"

"मेरे मरुत-संघ ने मुझे समाचार दिये हैं...."

"मरुत-संघ तो आप देवों का गुप्तचर-विभाग है न ?"

"हो सकता है। मुझे ज्योंही ये समाचार मिले कि निषाद आपको उठा ले जाना चाहते हैं, मैं सतर्क हो गया। और षड्यंत्रकारी निषादों को पकड़कर बन्दी बना लिया। बलि के हाथ से निकल जाने पर बन्दी निषादों ने अपने अन्य सहकारियों को तुरत भाग जाने का संकेत किया, जिसे सुनकर ये हमें घेरने-वाले निषाद भाग गये। सुनो अभी भी वह स्वर मन्द-मन्द सुना जा सकता है!" इन्द्र ने उस विचित्र स्वर की याद दिलायी।

जिस विचित्र स्वर को सुनकर निषाद वापस चले गये थे, वह गुफा में भी सुनायी दे रहा था। यह संकेत पाते ही गुफा में एकत्रित निषाद-समूह भी देवी पुजारियों को अपने साथ लेकर भाग गया था।

कुछ देर चुप रहकर मूर्ति की भीषणता देखते-देखते शची ने पूछा—"मेरा इतना खयाल रखने की आपको क्या आवश्यकता पड़ी ?"

"यज्ञ शान्तिपूर्वक और निर्विघ्न पूरा हो इस उद्देश्य से नहुष ने मेरा आह्वान किया। यों तो यज्ञ-भाग लेने के लिए मैं साधारणतः इन्द्र-परिवार में से किसी को भेज देता हूँ; परन्तु इस अवसर पर मैं स्वयं आया। इच्छा हुई कि आर्य-देश देख लूँ। इन्द्रासन पर बैठने के बाद सभी प्रदेश देख लेना चाहिए।"

"हूँ, अब समझी, मेरी बलि दिये जाने से यज्ञ रुकता, यह आपने मान-लिया। और इस प्रकार आपने अपने मित्र नहुष की सहायता की, क्यों है न यही बात?"

"हाँ, बात तो ऐसी ही है।"

"आप तो अभी हाल ही में इन्द्रासन पर आये हैं न?"

"हाँ; लगभग पाँच वर्ष हुए। असुरों के साथ हो रहा युद्ध मैंने ही रोका था।"

"आपका वह कार्य आर्यों को अच्छा नहीं लगा था, यह मुझे मालूम है। फलस्वरूप आर्यों ने आपको यज्ञ-भाग न देने की धमकी भी दी थी...."

"आर्य लोग बड़े ही अभिमानी और कल्पना-प्रवण होते हैं। घड़ी में एक देव को सर्वशक्ति-सम्पन्न मानकर उसके स्तोत्र गाने लगते हैं तो दूसरी घड़ी में उससे विमुख होकर दूसरे देव की प्रशंसा करने लगते हैं। इसी कारण कभी-कभी विष्णु और रुद्र-समूह आपस में झगड़ने भी लगते हैं। मैं इन्हीं सब बातों को देखने-समझने के लिए यहाँ आया हूँ।"

"देवराज! इन्द्राणी तो हैं न?" शची ने प्रश्न किया।

"होतीं, तो आपको पता न चलता?"

"मुझे कैसे पता चलता।"

"आज देवों और असुरों के बीच युद्ध की स्थिति तो है नहीं। यदि मेरा विवाह होता, तो असुर-सम्राट् के पास क्या मेरी कुंकुम-पत्रिका न जाती।"

"हाँ, यह तो सच है।....मैं तो इस बात को भूल ही गयी।"

"आपने भी तो अभी विवाह नहीं किया है?"

"जी नहीं।"

"यद्यपि असुर-नरेश वेणीपाल के साथ आपका विवाह होने की वार्ता सुनी गयी थी।"

"आपके मरुत-संघ ने ही यह खबर दी होगी!" हँसते हुए शची ने कहा।

"अच्छा, मेरे मरुत-संघ को आप अभी भूली नहीं हैं। खबर तो उसी ने दी थी।"

"अपने मरुत-संघ को यह सूचना दे दीजिए कि मेरे बारे में कोई बात आप तक पहुँचानी हो तो पहले मुझसे पूछ लिया करें।"

"यदि हमी आपसे पूछ लें?"

"पूछिए, क्या पूछना चाहते हैं?"

"यही कि वेणीपाल के साथ आपने विवाह क्यों नहीं किया? वह सब प्रकार सें योग्य है, और उसकी कीर्ति हम लोगों ने भी सुनी है!"

"मेरे पिता के छत्र के नीचे जिसका राज्य हो, उसके साथ मैं विवाह कैसे कर सकती हूँ!" शची ने उत्तर दिया, और धीरे-धीरे दोनों ने गुफा के बाहर जाने का मार्ग पकड़ा। शची के उत्तर से इन्द्र के मुख पर मुस्कराहट की रेखाएँ उभर आयीं।

"हँसे क्यों? क्या मेरा उत्तर सुनकर।" शची ने पूछा।

"आपके विवाह की शर्त बहुत कड़ी है। और जब आप स्वयं छत्रधारिणी हो जायेंगी तब तो वह और भी कड़ी हो जायेगी!"

"भले ही हो जाये! असुर-संस्कृति का अभिमान मैंने अपने हृदय में धारण किया है सो बिना सोचे-समझे यों ही फेंक देने के लिए नहीं! जब तक कोई बराबरी का और समकक्ष नहीं मिल जाता अकेले रहने में भी परम सुख है।"

"चक्रवर्ती आर्य-नरेश तो असुरों के अधीन नहीं हैं।"

"वे देवों की छत्र-छाया में रहते हैं, देव-भाग देकर रक्षा प्राप्त करते हैं, उनका चक्रवर्तित्व कहाँ रहा?"

"और देव?"

"वे तो हमारे शत्रु हैं। आज उनसे सन्धि द्वारा भले ही हमारे सम्बन्ध कुछ अच्छे हों; लेकिन शत्रुओं के संवर्धन के लिए मैंने जन्म नहीं लिया है।"

इन्द्र और शची गुफा के द्वार पर पहुँच गये थे। इस द्वार से बाहर निकलते ही सहसा दोनों के मुख इस तरह गम्भीर हो गये मानों लम्बे समय से किसी ने एक दूसरे को देखा ही न हो, और बात भी न की हो!

गुफा-द्वार से कुछ दूर, अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य ने किसी वस्तु पर

अपनी प्रकाश किरणें डालीं। एक चमक हुई-न-हुई और शीघ्र ही अदृश्य हो गयी। परन्तु इस चमक को इन्द्र और शची दोनों ने देख लिया।

"वृत्र....वृत्रराज ! हम सब साथ ही चलेंगे।" शची ने ऊँचे स्वर से कहा। एक विशाल शिला-खंड के पीछे छिपा हुआ वृत्र उछलकर बाहर आ गया। उसके हाथ में भाला था। इसी भाले का फल क्षण-भर चमक उठा था—शची को इस बात की सूचना देने के लिए कि वह अरक्षित नहीं थी। उसका संरक्षण असुरों को अन्य सभी से अधिक अभीष्ट था।

"यह है वृत्र ! मेरे साथ ही है।" शची ने परिचय कराया।

"इस असुर-वीर से मैं परिचित हूँ, यद्यपि दूर से ही।" इन्द्र ने वृत्र की ओर देखकर कहा।

"और ये हैं देवराज इन्द्र ! इनको पहचानते हो ?" शची ने इन्द्र का भी परिचय कराया।

"नाम तो सुना था, इतने पास से आज ही देखा है।" वृत्र ने कहा।

"बहुत अच्छा हुआ कि मेरे साथ-साथ असुरों ने भी कुमारी की रक्षा का प्रबन्ध किया। यदि वे बिलकुल अकेली होतीं, तो न जाने क्या होता ?" इन्द्र ने अपनी चिन्ता व्यक्त की।

"मैं प्रायः अकेली ही घूमती हूँ। निषाद मेरा स्पर्श तक नहीं कर सकते देव-राज ! आपने व्यर्थ ही इतना कष्ट उठाया।" हँसते-हँसते शची ने कहा।

"मुझे इस बात की खबर नहीं थी कि वृत्र आपके साथ हैं।" इन्द्र ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की।

"वह न रहता तब भी क्या डर था ! उसने निरर्थक ही परिश्रम किया।" शची ने कहा।

"बड़ा आत्मविश्वास है आपमें ?" इन्द्र ने प्रश्न किया।

"हाँ, है तो। क्योंकि मेरा शस्त्र बराबर मेरे पास रहता है।" कहती हुई शची ने अपने गले में पहने हुए एक वलय को विद्युत् गति से उतारा और उँगली पर लेकर उसे थोड़ा घुमाया। घूमते ही उसमें से तेजकिरणें निकलने लगीं और वह वलय बड़ा होता गया। मानों उसे खेल में घुमा रही हो, इस

प्रकार उसको गति देती हुई शची ने हँसते हुए कहा—"मैं आभूषण नहीं, आयुध धारण करती हूँ।"

"परन्तु .."

इन्द्र की बात को बीच ही में काटकर शची ने आगे कहा—"और सैकड़ों शस्त्र-सज्ज सैनिकों के बीच से मैं निर्भय होकर निकल जाती हूँ, फिर वे सैनिक असुर हों, आर्य हों, देव हों अथवा निषाद हों!"

इतना कहकर उसने वलय को हाथ में पहन लिया, जहाँ वह आभूषण की तरह शोभा पाने लगा।

इन्द्र को जरा आश्चर्य हुआ। अब उसकी समझ में आया कि शची को निषादों का भय क्यों न लगा, और देव-पुरुष इन्द्र के साथ अकेली जाने में भी उसे संकोच क्यों न हुआ।

"हमारा विष्णु-समूह भी चक्र चलाने में पारंगत है।" चक्र चलाने की कला देवताओं को भी मालूम है, इस बात को बताने की इच्छा से इन्द्र ने कहा।

"हरियुपीय के मेले में भेजिए विष्णु-समूह में से किसी को, जिस प्रकार एक समय नहुष उस मेले में आये थे।" शची के शब्दों में चुनौती बोल रही थी।

दोनों बातें करते हुए नदी के किनारे पहुँच गये थे। चन्द्रोदय हो चुका था! वृत्र इन दोनों के पीछे कुछ दूरी पर चला आ रहा था।

ये तीनों इन्द्र की छोटी-सी नौका में बैठे, और नाव नगर की ओर चली।

वृत्र एक अक्षर भी नहीं बोल रहा था। महासागर के मध्य में उछलने-वाली तरंगें जिस प्रकार तट पर से शान्त मालूम होती हैं, उसी प्रकार की एक गहरी अगम शान्ति उसके मुख पर आच्छादित हो रही थी।

नाव से उतरते ही शची ने वृत्र से पूछा—"आज रात्रि में तो नाटक होने-वाला है न?"

"हाँ! आर्यों का भरतगण एक नाटक खेल रहा है।"

"हम लोग भी देखने चलेंगे, वृत्र?"

"चलो, जैसी तुम्हारी इच्छा!"

दोनों ने घूमकर देखा तो वहाँ इन्द्र को न पाया। आगे-पीछे देखा, नदी पर दृष्टि दौड़ायी, नौका में देखा। परन्तु देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये थे।

"इतने जल्दी अदृश्य हो गये!" शची ने आश्चर्य व्यक्त किया। परन्तु वृत्र कुछ बोला नहीं; उत्तर दिये बिना ही वह आगे चल पड़ा।

[१०]

नहुष का राजमहल रात्रि के समय प्रकाश से जगमगा रहा था। महल के अन्दर, ऊपर और आस-पास सर्वत्र रोशनी की व्यवस्था थी। दीपक और दीप-मालिका से सुशोभित राजमहल में मंगल-वाद्य भी बज रहे थे। छोटे-बड़े अनेक तोरण और पताकाएँ उस स्थान को उत्सव का स्वरूप दे रही थीं, और प्रकाश में सारा दृश्य देखते ही बनता था। इस दृश्य को देखने के लिए सैकड़ों-हजारों स्त्री-पुरुष और बालक एकत्रित हो गये थे। इन दिनों नहुष की राजनगरी एक सजीव मेला बन गयी थी। सवेरे, दोपहर तथा सन्ध्या समय दर्शकों के समूह-पर-समूह आते रहते थे। किसी को राजमहल देखना था, किसी को यज्ञशाला; कोई ऋषि-मुनियों के दर्शन के लिए आता था, कोई शास्त्र-चर्चा में भाग लेने के हेतु; किसी को संगीत सुनने की लगन थी, किसी को इच्छित वस्तु क्रय करने की। सब को सर्वत्र आने-जाने की छूट थी, चाहे वह ग्रामवासी हो, या जनपद-निवासी, आर्य हो, असुर हो या आदिवासी।

यज्ञ के एक दिन पहले महाराज नहुष ने जनता के लिए एक भव्य नाटक का आयोजन किया था जिसमें नगर के सभी लोग निमन्त्रित थे। देवलोक में नाट्यवेद का प्रदर्शन करानेवाले महामुनि भरत के पट्ट शिष्य और शिष्याओं को अपनी प्रजा के मनोरंजन के लिए नहुष ने विशेष निमन्त्रण देकर बुलाया था। राजमहल की नाट्यशाला का इस प्रकार परिवर्तन कर दिया गया था कि सारे नगर के निवासी उसमें बैठकर सुखपूर्वक नाटक देख सकें। निमन्त्रित राजाओं,

पण्डितों और मुनियों के बैठने के लिए विशिष्ट स्थान बनाये गये थे, आमंत्रित असुरों के लिए एक बहुत बड़ा और सम्मानपूर्ण विभाग निर्मित किया गया था; राजकुटुम्ब के लिए भी एक विशिष्ट विभाग अनिवार्य ही था; प्रजाजनों के लिए सीढ़ीनुमा बैठकें बनायी गयी थीं; स्त्रियों और बालकों के लिए एक विशाल भाग अलग सुरक्षित कर दिया गया था।

दर्शकों का आना शुरू हुआ। नाट्य गृह में सबका योग्य सत्कार करके यथोचित स्थान पर बैठाने की व्यवस्था राज्य के कर्मचारी बड़ी मुस्तैदी से कर रहे थे। देखते-ही-देखते नाट्य-गृह ठसाठस भर गया। आर्य ऋषि-मुनियों को नाटक के प्रदर्शन में उपस्थित होना पसन्द न था, और भरत मुनि के कुटुम्बियों तथा शिष्यों को आर्य जनपद से निकाल देने की गुप्त प्रवृत्तियाँ भी चल रही थीं। परन्तु स्वर्ग के देवों ने जिन कलाकारों को सिर-माथे पर स्वीकार किया हो, उनके विरुद्ध क्रोध-प्रदर्शन के सिवा आर्यों का यह विशुद्ध सम्प्रदाय कर ही क्या सकता था? कुछ ऋषिवर तो नाटक देखने आये नहीं। परन्तु जो आये उनकी संख्या बहुत अधिक थी।

जहाँ मेला-तमाशा हो, वहाँ स्त्रियाँ सबसे पहले पहुँचती ही हैं। नाट्य-गृह का स्त्री-विभाग कभी का ठसाठस भर गया था। असुरों के विभाग में भी असुर-प्रतिनिधि-मण्डल आकर अपने आसनों पर बैठ गया था। प्रतिनिधि-मण्डल का नेता वृत्र साथ में था। परन्तु जिस असुर-राजकन्या शची को देखने के लिए सारा दर्शक समाज उत्सुक था, वह दिखायी नहीं पड़ रही थी। वह क्यों नहीं आयी? स्त्री-दर्शकों में इस बात की चर्चा होना स्वाभाविक था; परन्तु पुरुष-वर्ग में भी उसे देखने की उत्सुकता कम न थी। इसलिए जब वह न दिखायी दी तब सभी को आश्चर्य हुआ। यह भी पता न लग सका कि वह आयेगी भी या नहीं? और नहीं आयेगी तो क्यों नहीं?

नाट्य-गृह में जब जाने का समय हुआ, तब असुर-निवास में वृत्र ने कहा —"कुमारी! नाट्य-गृह में जाने का समय हो गया।"

"मैं नहीं जाऊँगी। तुम सब के साथ जाओ।" शची ने उत्तर दिया।

"क्यों? यहाँ क्या करोगी?

"बस, इधर-उधर घूमूँगी। तुम मन्थरा, विनता और रक्षा को भी अपने सथा लेते जाना।"

"क्या इन्द्र यहाँ आयेगा?" स्थिर दृष्टि करके वृत्र ने पूछा।

"यह तो मुझे मालूम नहीं, कदाचित् मैं ही उसके पास जाऊँ! आज उसने मेरे प्राण बचाये हैं।" शची ने उत्तर दिया, और स्थिर नेत्रों से देखनेवाले वृत्र की ओर उतनी ही स्थिरता से उसने भी देखा।

"क्या वह समझता है कि उसने तुमको बचाया? बचा लिया ऐसा विचार करने की आवश्कता ही नहीं खड़ी होती।"

"यह तो मैंने उसको समझा दिया था। तुमने भी सुना होगा।"

"तब तुम क्यों जाती हो?"

"केवल शिष्टाचार का पालन करने के लिए।"

"वह कदाचित् नाटक देखने गया हो।"

"मुझसे उसने कहा है कि वह गुप्त रहेगा।"

"तब वह तुमको मिलेगा कैसे? उसका मिलना कठिन है।"

"मैं उसे खोज निकालूँगी। जहाँ वह अदृश्य हुआ था वहीं कहीं पास में उसका कोई गुप्त स्थान होना चाहिए।"

"जाना ही चाहती हो तो जाओ; परन्तु इस प्रकार स्वयं होकर बिना निमन्त्रण के जाना उचित होगा?"

"इन्द्र ने मुझे चौंकाने का प्रयत्न किया था। मेरी इच्छा उसे चौंकाने की है! मैं देवों के अधिपति से कह आऊँ कि देव ही नहीं, असुर भी गुप्तस्थान बनाना और शोधना जानते हैं।"

"तुमको जो ठीक लगे करो, परन्तु यह भी सोच लो कि इतनी-सी बात के लिए तुम्हारा जाना उचित होगा!"

"देवों के कपट का भय न करो, वृत्र।" शची ने वृत्र को आश्वासन दिया। वृत्र को शची का यह भाव पसन्द न आया। परन्तु वह करता क्या? असुर प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व शची को दिया गया था। वह स्वयं तो शची का एक सहायक-मात्र था। भले ही मण्डल में उसका सम्मानित स्थान हो,

परन्तु था तो वह शची का सहायक ही। शची की आज्ञा उसके लिए शिरोधार्य थी। शची की आज्ञानुसार अथवा इच्छानुसार मुख्य प्रतिनिधियों को लेकर उसे नाट्य-गृह में जाना ही पड़ा।

नाट्य गृह में असुर प्रतिनिधि-मण्डल पहुँचा। अब और कोई आमंत्रित मण्डल आने को बाकी न रहा था। यह समाचार महाराज नहुष को मिलते ही वे पास के राजमहल में से नाट्य-गृह में पधारे। दर्शकों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। असुर स्वमान की रक्षा करते हुए शिष्टाचार के लिए कुछ थोड़े से उठे, और इस प्रकार उन्होंने राजा का सम्मान करने का दिखावा किया। ब्राह्मणों का समूह तो बैठा ही रहा! वे भला क्यों उठते, उन्हें तो देव भी सम्मान प्रदान करते थे।

रंगभूमि में बाजे बजने लगे। चारों ओर से सुगन्धित द्रव्यों का धूम्र अथवा रज उड़-उड़कर प्रेक्षकों के बीच पहुँचने लगा। इतने में रंगमंच की यवनिका उठी। विविध रंगों के कपड़ों से बना हुआ इन्द्रध्वज सबके सामने प्रकट हुआ। नट-नायक भरतवंशीय एक युवक तलवार लेकर सामने आया, और उसने पहले इन्द्रध्वज को प्रणाम किया, तत्पश्चात् दर्शकों में सबसे आगे बैठे हुए महाराज नहुष को और इसके बाद सारे प्रेक्षक-मण्डल को। फिर उसने म्यान से तलवार खींचकर इन्द्रध्वज को सलामी दी और फुर्ती से तलवार सूँतकर युद्ध-नृत्य शुरू कर दिया। इस नृत्य के साथ ढोल-नौबत बजने लगी, और देखते-ही-देखते यह खड्ग-नृत्य इतना त्वरित और गतिमान हो गया, और उसमें इतने प्रकार के पटे खेले जाने लगे, कि सारी सभा मुग्ध होकर उसे देखने में तल्लीन हो गयी। दर्शकों में बहुत से वीर बैठे थे, और शस्त्र-विद्या के आचार्य भी। इतनी सुन्दर परन्तु साथ-ही-साथ शास्त्रीय युद्ध पद्धति से घूमनेवाली तलवार का चमत्कार देखकर वे भी चकित हो गये। कितनी ही नृत्य-मुद्राएँ तो इतने उच्चकोटि के असि-दाँव थे, प्रहार करने और प्रहारों का निवारण करने के पैंतरे थे जिन्हें आज पहली बार वीरगण देख रहे थे। प्रेक्षक-वर्ग में से प्रशंसा-सूचक उद्गार निकलने लगे। असुर-मण्डल भी इस खड्ग-नृत्य को ध्यान से देखता रहा और उनको भी विस्मय का अनुभव हुआ।

"भरत मुनि के वंशज हैं ! तपस्वियों की सन्तान हैं ! यदि ऐसा न होता तो इतनी प्रवीणता कहाँ से आती ?" एक प्रेक्षक बोल उठा ।

"नाट्य-कला कितने ही मुनियों की दृष्टि में उपहास का विषय है, परन्तु यह सोचना चाहिए कि जो नट शस्त्र-विद्या में इतना पारंगत है, वह सहज ही में एक सेनानायक भी बन सकता है।" दूसरा उद्गार सुनायी दिया ।

"रंगभूमि पर आना साधारण काम नहीं, शरीर को कसे और साधे बिना नट बनना असम्भव ही है । वाह ! कैसा कसा हुआ सुन्दर शरीर है !" तीसरे प्रेक्षक ने नट के शरीर का बखान किया ।

"अरे भाई ! अभिनय तो एक बड़ी तपश्चर्या है, तपश्चर्या ! बिना तप के नृत्य के विभिन्न प्रकारों में शरीर का सौष्ठव सप्रमाण प्रदर्शित करना कठिन ही है।" चौथे प्रेक्षक ने अभिनय-कला का बखान किया ।

खड्ग-नृत्य बन्द हुआ, और नट ने अपनी तलवार म्यान में रख ली। अक्षत, कुंकुम, अबीर, गुलाल और पुष्प से भरी हुई थाली लेकर उसने इन्द्रध्वज की पूजा की, और इसके बाद उन्हीं पदार्थों से रंगमंच पर खड़े-खड़े सारी सभा की अर्चना की । थाली में बचे हुए पुष्पों को सभा-गृह में बिखेर देने के बाद, पीछे हटते हुए उसने घोषित किया कि भरत मुनि की आज्ञानुसार देवासुर-संग्राम दिखाया जायेगा ।

वृत्र का चेहरा कुछ अधिक तमतमा उठा—अप्रसन्न तो वह पहले से ही था । असुर अतिथि भी कुछ उद्विग्न हो उठे । वाद्यों ने बेग पकड़ा । तन्तु-वाद्य की झंकार बढ़ चली; चर्म-वाद्य की धमक से सारा नाट्य-गृह गूँजने लगा। उत्तेजक घंटानाद होने लगा, और विविध प्रकार के शंख फूँके जाने लगे । प्रेक्षकों के सामने रणभूमि का प्रत्यक्ष वातावरण स्पष्ट रूप से खड़ा हो गया । उनकी नसों में रुधिर जोर से बहने लगा, और हाथ-पैर फड़कने लगे ।

एक ओर से असुरों का स्वरूप धारण किये शस्त्र सज्ज नटों का समूह रंग-मंच पर आया। इन्द्रध्वज को देखते ही शस्त्र निकाल उस पर धावा करने का उन्होंने अभिनय किया।

तभी ध्वज के पीछे से देवों का समूह निकलकर आगे बढ़ा । ध्वज को

अपने संरक्षण में लेकर उन्होंने धनुष पर बाणों का संधान किया और असुरों का आक्रमण रुक गया। देवों के स्वरूप सुन्दर बनाये गये थे। उनकी वेश-भूषा और मुखाकृतियाँ मोहक थीं। असुरों के स्वरूप डरावने बनाये गये थे। अधिक भयावह बनाने के लिए उनका सारा शरीर काले रंग से रँग दिया गया था। मुख के ऊपर पहनी हुई आकृतियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के डरावने चित्र चित्रित किये गये थे, और मानों इतनी कुरूपता से सन्तोष न हुआ हो, इसलिए कुछ असुरों के मस्तक पर शृङ्ग भी बना दिये गये थे।

देवों और असुरों की इस रूप-सज्जा के साथ मारू बाजों ने वातावरण को आन्दोलित कर दिया। दोनों चीजों ने मिलकर वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न किया और दर्शकों को यह प्रतीत होने लगा मानों देवासुर-संग्राम का प्रारम्भ यहीं से हो रहा हो। भरतकुल के सुशिक्षित नटों ने अपनी अभिनय-कुशलता से युद्ध के दृश्य को रंगमंच पर सजीव कर दिया। जिस आर्य-जाति का नट-वर्ग शस्त्र-विद्या के ऐसे सुन्दर नमूने उपस्थित कर सकता है, उस जाति के सैनिक इस विद्या में कितने निपुण होंगे! असुरों की युद्ध-पद्धति, आर्यों की विशिष्टताएँ और देवों के लाक्षणिक प्रहार सब की समझ में आने लगे। प्रेक्षकों के हृदय में भी वीर-रस की लहरें उठने लगीं, और उनको ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे स्वयं युद्ध में संलग्न हों।

परन्तु इस अति सुन्दर कला का प्रभाव कुछ इस तरह हुआ जिसकी किसी ने कल्पना भी न की थी। देवासुर-युद्ध की योजना इस प्रकार की गयी थी कि अन्त में पराजित होकर असुर भाग जायें। तदनुसार युद्ध-भूमि में से ज्योंही असुर-नटों ने पलायन शुरू किया, असुर-मण्डल खड़ा हो गया और गर्जना करने लगा। एक असुर ने तो ललकारकर कहा—"देवों से भागते क्या हो? देखते नहीं कि हम लोग यहाँ बैठे हैं? खड़े रहो! हम आते हैं।"

इतना कहकर उसने एक लम्बी छलाँग मारी और रंगमंच पर चढ़ने का प्रयत्न किया। सफल अभिनय ने अभिनेताओं और प्रेक्षकों के बीच अद्भुत सामंजस्य स्थापित कर दिया था। वृत्र ने खड़े होकर मंच पर चढ़नेवाले असुर को रोका और उच्च स्वर में कहा—"राजा नहुष से मेरी प्रार्थना है कि असुरों

को निमन्त्रित करके नाटक में उनको नीचा दिखाना सर्वथा अनुचित है; इस-लिए यह अभिनय तुरत बन्द कर दिया जाये।"

समस्त प्रेक्षक-वर्ग में कोलाहल मच गया। बैठे हुए कुछ प्रेक्षक खड़े हो गये, कुछ आगे आने लगे। व्यवस्थापकों ने व्यवस्था कायम रखने के लिए जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया। नट स्तब्ध हो गये। विजयी देव-नट और पराजित असुर-नट दोनों ही प्रेक्षकों की ओर साश्चर्य देखने लगे। तभी सूत्रधार ने आगे आकर निवेदन किया—"देवासुर-संग्राम का अभिनय तो हमारी एक धार्मिक विधि है। भरतमुनि के आदेशानुसार इसको दिखाये बिना हम आगे बढ़ नहीं सकते।"

"तो हमारी भी धर्म-विधि सुन लीजिए। जहाँ-जहाँ असुर-पराजय का दृश्य हमारे देखने में आयेगा, हम विघ्न अवश्य उपस्थित करेंगे!"

"वृत्रराज! मेरे पास आइए। मेरी प्रार्थना है कि नाटक पूरा होने दें। उसके बाद हम नाट्याचार्य से इस विषय में अनुनय करेंगे।" नहुष ने अपने स्थान पर से ही वृत्र को समझाया, और उसे सम्मान सहित अपने पास ले आने के लिए भृत्य को भेजा।

"नहीं, राजन्! मेरा उचित स्थान यहीं है। आपके पास तो शची कुमारी ही बैठ सकती हैं, मैं तो केवल उनका सहायक हूँ। मैं यहीं ठीक हूँ। मैं आपसे पुनः निवेदन करता हूँ कि इस दृश्य को बन्द करवा दें। ऐसे दृश्यों को हम शान्ति के साथ देख नहीं सकेंगे।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"शान्ति के साथ न देखोगे तो क्या कर लोगे?" ब्राह्मण-वर्ग में बैठे हुए एक मुनि ने उत्तेजित होकर पूछा।

"अभिनय आगे चला, तब पता लगेगा।" इतना कहकर वृत्र बैठ गया। रंगमंच के ऊपर जाने का प्रयत्न करनेवाले असुर को भी उसने बैठा दिया।

नाट्य-गृह की उग्रता कम न हुई। ब्राह्मण-वर्ग में पहले से कई ऐसे लोग थे जो आदिवासियों के आर्य बनाये जाने के कट्टर विरोधी थे। असुर-सम्राट् के प्रतिनिधि-मण्डल को आमंत्रित करना और उन्हें आर्यों की बराबरी में यज्ञ-यागादि के स्थानों में जाने की अनुमति देना उन्हें और भी बुरा लग रहा था।

नाट्य-गृह में असुरों को ससम्मान स्थान दिये जाने से वे और भी क्षुब्ध हुए थे। अब जो इन असुरों ने परम्परा से चले आते अभिनय में बाधा पहुँचाकर आर्य-संस्कृति का अपमान शुरू किया, तब तो ब्राह्मणों के क्रोध का वारापार न रहा।

"देवासुर-संग्राम का यह अभिनय अन्त तक होना ही चाहिए, नहीं तो अप-शकुन होगा।" एक ब्रह्मर्षि ने कहा।

"यदि स्थगित कर दिया गया तो हम लोग यहाँ से उठकर चले जायेंगे।" ब्राह्मण-मण्डल में से दूसरे ने धमकी दी।

नहुष ने देखा कि वृत्र और असुर-मण्डल शान्त बैठा हुआ है। ब्राह्मण तो इस यज्ञ के निश्चय से ही अप्रसन्न थे। नहुष उन्हें अधिक अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। उसने सोचा कि वृत्र और उसके असुर साथी परिस्थिति को समझ गये हैं और यदि उन्हें कुछ बुरा भी लगेगा, तो नाटक के इस दृश्य के पूरा होते ही वह उन्हें मना लेगा। ऐसा विचार करके उसने दृश्य को आगे चलाने की आज्ञा दी। पुनः रंगमंच पर बाजे बजने लगे और नाटक होने लगा। देवों ने आक्रमण किया और असुर भागने लगे। इतने में रंगमंच पर एकाएक अनेकानेक वस्तुएँ गिरने लगीं। छोटे-छोटे शस्त्र, आभूषण अथवा जिसके हाथ में जो भी वस्तु आयी मंच पर फेंकी जाने लगी। इनके आघात से देव-नट घायल होने लगे। स्पष्ट ही असुर-मण्डल अपनी पराजय के दृश्य को सहन नहीं कर पा रहा था।

पुनः सर्वत्र कोलाहल मच गया। असुरों को सबक सिखाने के लिए कितने ही आर्य योद्धा तैयार हो गये। आर्यों के अपने प्रदेश में, उनकी इतनी बड़ी संख्या के रहते एक छोटा-सा असुर-समूह इतना उत्पात मचाये और नाटक की धार्मिक विधि को रोके यह उनकी सहन-शक्ति के परे था। परन्तु फेंकी जानेवाली वस्तुओं की अवगणना कर सूत्रधार ने पुनः रंगमंच पर आकर सबको नमस्कार किया और शान्त स्वर में बोला—"राजन्, यह तो एक रूपक-मात्र है। इसमें वास्तविक जय-पराजय नहीं। असुर-वीर हमारी अभिनय-कला को समझें और हमें आगे के दृश्य दिखाने दें। उनमें कितने ही ऐसे दृश्य होंगे

जिनको देखकर असुर प्रसन्न होंगे।"

"उनमें देवों की पराजय का भी कोई दृश्य है, या नहीं?" गला फाड़कर एक असुर चिल्लाया।

"यहाँ वास्तव में न तो किसी की जय है, और न पराजय। जय है मात्र हमारी—भरतों की और नाट्यकला की, घटनाओं को यथार्थ रूप में उपस्थित करने की हमारी योग्यता की। असुरों को हम इस सीमा तक उत्तेजित कर सके, इसके लिए हमारी अभिनय-कला की सराहना की जानी चाहिए।" सूत्रधार ने निवेदन किया।

"हम ऐसी उत्कृष्टता नहीं देखना चाहते। इस दृश्य को बदला जाये।" एक असुर ने आग्रह किया।

"दृश्य बदलने का अधिकार हमको नहीं है।" सूत्रधार ने उत्तर दिया।

"किसको है?" असुर-मण्डल की ओर से प्रश्न हुआ।

"यह अधिकार है केवल हमारे भरतवंशीय नाट्याचार्य को जो स्वर्गलोक में विराजमान हैं, अथवा देवराज इन्द्र को।" सूत्रधार ने कहा।

"तो कहो उनसे कि वे इस अधिकार का उपयोग करें।"

"दोनों में से एक भी यहाँ उपस्थित नहीं हैं। और वे स्वर्गलोक छोड़कर यहाँ जल्दी आयेंगे भी नहीं।"

"तुम्हारे देवराज इन्द्र तो यहीं हैं।" वृत्र ने कहा।

"देवराज? इन्द्र? यहाँ हैं! हो ही नहीं सकता। हमको अपने दर्शन दिये बिना वे रह नहीं सकते!" मुनि-मण्डली में से किसी ने कहा।

"वे यहीं हैं, इसी नगर में।" वृत्र ने निश्चयपूर्वक कहा।

"यह कौन कहता है?"

"मैं कहता हूँ।"

"इसका प्रमाण?"

"मेरी आँखें! मैं अपनी आँखों से इन्द्रदेव को देखकर यहाँ आया हूँ।" वृत्र ने अपने कथन की पुष्टि की।

आर्य-मण्डली हँसने लगी। वृत्र की बात को सत्य मानने के लिए कोई

किसी भी तरह तैयार न हुआ ।

एकाएक लोगों ने देखा कि इन्द्रदेव ने रंगमंच पर प्रवेश किया । सारी सभा शान्त हो गयी । नहुष के मुख पर क्षोभ दीख पड़ा । इन्द्र क्या कहेंगे, इसकी वह कल्पना भी नहीं कर सका ।

"मैं, देवराज इन्द्र, आज्ञा देता हूँ कि भविष्य में हमारी रंगभूमि पर देवासुर-संग्राम का प्रसंग न खेला जाये । यहाँ जितना अंश अभिनीत हो चुका हो उसे वहीं रोक दिया जाये, पूरा न किया जाये । किसी समय की यह पुरानी कथा जो आज की नहीं है, त्याग देनी चाहिए । और इस इन्द्रध्वज के पूजन को ही उसका प्रतीक मान लेना चाहिए। आज से संग्राम का दृश्य बन्द कर दिया जाये ।" इन्द्र ने यह आज्ञा सुनाई और तत्क्षण अदृश्य हो गये ।

वृत्र ने इन्द्र को तुरन्त पहचान लिया । वही इन्द्र थे, जिसे वृत्र ने आज तीसरे पहर और सन्ध्या के समय अपनी आँखों से देखा था । देवताओं का राजा, वह तेजस्वी अवश्य था, परन्तु शची की ओर स्नेह-सिक्त नयन पसारते हुए भी वृत्र ने उसे देखा था । यह वही इन्द्र था ? और कदाचित् शची को भी वह पसन्द आ गया हो ! ठीक समय पर वह कहाँ से आया और भरतों को —नाटक-विद्या के विशारदों को आज्ञा देकर वह कहाँ अदृश्य हो गया ? वह सभा में बैठा क्यों नहीं ? उसके इस व्यवहार का कारण कहीं शची तो नहीं है ?

लेकिन वृत्र को पुलोमा की समाधान करने की नीति पसन्द न थी । उसका मन और शरीर तो युद्ध के लिए उतावला हो रहा था । नाट्य-प्रसंग ने कटुता उत्पन्न कर दी थी । वृत्र की यह इच्छा थी कि इसी कटुता में से युद्धाग्नि भड़क उठे, और पुनः असुर, आर्य और देवों के बीच विग्रह शुरू हो जाये, जिससे असुर आर्य तथा देवों को पूर्णरीति से पराजित करके देव-भाग बन्द करा दें, और पुलोमा अथवा शची को स्वर्ग के सिंहासन पर आसीन कर सकें ! परन्तु इन्द्र ने बीच में आकर देवासुर-संग्राम का दृश्य बन्द करा दिया । वृत्र जो नहीं चाहता था, वही हुआ । समाधान ! आर्य और देवों के साथ स्थायी शान्ति शची भी तो नहीं चाहती थी । एक क्षण में वृत्र के मन में इस तरह के बहुत से विचार आयें, और उसे इस बात का आभास होने लगा कि घटनाओं का

क्रम जिस प्रकार वह चाहता है उस प्रकार चलता हुआ दिखायी नहीं देता।

नटों ने देवासुर-संग्राम बन्द कर दिया। क्या सचमुच इन्द्र ने ही आकर आज्ञा दी थी—कुछ लोगों के मन में शंका हुई।

"कौन कहता है कि वे स्वयं देवराज इन्द्र ही थे?"

"नटों का क्या ठिकाना?"

"उन्हीं में से कोई इन्द्र बनकर यह आज्ञा दे गया होगा।"

धीरे-धीरे इस प्रकार की चर्चा सर्वत्र होने लगी। आये हुए ऋषियों में से एक ने तो कह ही दिया—"ऐसे बनावटी इन्द्र की आज्ञा से शास्त्रोक्त दृश्य बन्द नहीं हो सकते।"

"देवराज इन्द्र स्वयं पधारे थे, यह बात सत्य है।" सूत्रधार ने अपना मत व्यक्त किया।

"नाटक के नट किसी का भी स्वरूप धारण कर सकते हैं! देवासुर-संग्राम सम्पूर्ण खेला जाना चाहिए!" मुनि अपनी ही बात पर अड़े रहे।

"हमारे यजमान महाराज नहुष ने उठकर देवराज को प्रणाम किया था, यह तो आपने भी देखा ही होगा।"

इन्द्र जब रंगमंच पर आये, तब नहुष ने खड़े होकर उनको प्रणाम किया था, इसे बहुत थोड़े लोग देख सके थे।

वृत्र उठकर खड़ा हो गया, और प्रेक्षक-गृह में से जाने लगा। उसके साथ सारा असुर-वर्ग खड़ा हो गया, और उसके पीछे-पीछे चला। वृत्र को समझाने के लिए जो कर्मचारी भेजा गया था, उसको उन्होंने उत्तर दिया—"यजमान को कठिनाई में डालनेवाले मेहमान हम नहीं हैं। हमारा इस स्थान से चला जाना ही उचित है।"

वृत्र और असुर-मण्डल नाट्य-गृह छोड़कर चले गये। प्रेक्षकों में कोलाहल मच गया, जिसे बाहर निकलने पर असुरों ने भी सुना। परन्तु इस अव्यवस्था की अब उन्हें परवाह न थी। वृत्र जब अपने निवास पर आया, तब शची वहाँ उपस्थित थी। वृत्र को देखते ही शची ने पूछा—"वृत्र! विश्व-भर में यदि शान्ति स्थापित करनी हो, तो क्या करना चाहिए?"

"देवाधिदेव इन्द्र के पाँव पकड़ना चाहिए !" वृत्र ने उत्तर दिया।

"अच्छा ! जाओ, इस समय मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। तुम जा सकते हो।" शची ने मुख पर सहज कठोरता लाकर कहा।

"आज नाट्य-गृह में क्या हुआ, यह तो बता दूँ। इसी काम के लिए अभी तुम्हारे पास आया हूँ।" वृत्र ने चकित होकर उत्तर दिया।

"आवश्यकता नहीं। वहाँ क्या हुआ, यह मैं जानती हूँ। इन्द्र को नाट्य-गृह में मैंने ही भेजा था। और इस समय मैं अकेली ही रहूँगी।" शची ने कहा।

आज्ञा हो चुकी। ऐसी आज्ञा कभी नहीं हुई थी। शची ने आज्ञा देते समय वृत्र की ओर देखा भी नहीं। वृत्र कुछ क्षण तक वहाँ खड़ा रहा, इस आशा में कि शची कदाचित् उसकी ओर देखे ! परन्तु शची के नेत्र तक न हिले। उसे इस बात को भी जानने की परवाह न थी कि वृत्र वहाँ खड़ा है, या नहीं। आखिर वृत्र उस प्रकोष्ठ से बाहर निकल आया। सामने रत्ना खड़ी हुई थी। उसने वृत्र को रोककर पूछा—"शची को नाखुश क्यों कर रहे हो?"

"यह मेरी मौज की बात है; मुझे जो सत्य लगता है, वह कहता हूँ।"

"तो एक सत्य मैं भी कहती हूँ, सुन लो। शची बड़ी ही विचित्र है। उसे समझना आसान नहीं। उसके मन में क्या हो रहा है, यह बतलाना किसी भी तरह सम्भव नहीं।"

"मैं जानता हूँ और कह भी सकता हूँ, उसे इन्द्र की लौ लगी है।"

"भूल रहे हो वृत्र ! उसे किसी की लौ नहीं लगी है। इन्द्र के विषय में तो मैं नहीं जानती, परन्तु तुम्हारे बारे में जानती हूँ कि उसे तुम्हारी लगन बिलकुल नहीं है।....वह अपनी बराबरी का पुरुष खोजती है, जो उसे संसार-भर में मिल नहीं रहा।"

"मेरे बारे में यह कैसे कहती हो? क्या शची का यह सन्देश है?"

"नहीं। केवल मेरी अपनी राय है ! और वृत्र ! तुम मुझे बड़े प्रिय लगते हो!" रत्ना ने धीमे स्वर से कहा और अपनी आँखें नीची कर लीं। जब उसने ऊपर देखा, तो वृत्र वहाँ नहीं था। अपने मन का भेद प्रकटकर वह भी शची के पास चली गयी।

[११]

"आओ, रत्ना! यहाँ मेरे पास बैठो।" शची ने रत्ना की ओर देखे बिना ही कहा। अभी मध्य रात्रि के समय रत्ना ही उसके पास आयेगी इसका उसे पता था। असुरों के निवासगृह में सब लोग अर्ध-जाग्रत थे, परन्तु नहुष के नगर में अन्य सब तो सारी रात जागते रहे थे।

"तुम कहाँ अकेली-अकेली घूमा करती हो? यहाँ सब लोग कितने चिन्तित थे, इसकी भी तुमको कुछ खबर है?" सखी रत्ना ने पूछा।

"मैं अकेली कहाँ थी? वृत्र ने मेरे पीछे रक्षकों को लगा दिया था!"

"ठीक ही तो किया? आर्य, देव और निषाद तुम्हें बलि चढ़ा देते तो क्या होता? तुम्हें अकेली कैसे छोड़ा जाता?"

"हुँ, नाटक तो तुम लोग अधूरा ही छोड़ आये न?"

"और क्या करते? असुरों का अपमान कब तक सहते?"

"इन्द्र ने आकर समाधान कर दिया, फिर भी अपमान ही समझ रही हो?"

"कौन जाने वह इन्द्र ही था, अथवा इन्द्र वेशधारी कोई नट? वृत्र चला आया, इसलिए हम लोग भी आ गये।"

"वह इन्द्र ही था, देवराज इन्द्र! मैंने ही उसे वहाँ भेजा था।"

"बहिन! कहना तो न चाहिए, परन्तु आज सायंकाल से इस बात की चर्चा है कि तुम इन्द्र के पीछे पागल होकर घूम रही हो।"

"अच्छा, ऐसी बात है? तुम इसे सच मानती हो?"

"और क्या समझा जाये? नाव में तुम इन्द्र के साथ ही आयी, नाटक में न जाकर तुम अकेली इन्द्र से मिलने गयी!"

"तुम लड़कपन से मेरे साथ रहती हो। तुम्हें विश्वास होता है कि मैं असुरों के मुख्य शत्रु के पीछे घूमती फिरूँगी?"

"शची! स्नेह, प्रेम, काम और आकर्षण ऐसी वस्तु है, जो न चाहे सो कराये।"

"रत्ना! तुम्हारा कहना यदि सच भी मान लिया जाये, तो क्या ऐसा नहीं

हो सकता कि मैं उसके पीछे घूमूँ उसके बदले इन्द्र ही मेरे पीछे घूमता हो।"

"यह भी हो सकता है; परन्तु सुनने में तो यही आता है कि स्वर्ग के सिंहासन पर जो इन्द्र हाल ही में आसीन हुआ है, वह बड़ा तपस्वी है, अपने पूर्वजों-जैसा लोलुप नहीं।"

"इन्द्र तपस्वी हो, या लोलुप, परन्तु यदि वह मुझे छकाने का प्रयत्न करे. तो क्या मैं उसे न छकाऊँ?"

"मैं तुम्हारी बात समझी नहीं।" रत्ना ने कहा।

शची ने धीरे-धीरे उसे सब-कुछ कह सुनाया।

नदी के किनारे एकान्त में जब वह घूम रही थी, तब उसे देखने, अथवा बचाने के उद्देश्य से देवराज इन्द्र अपनी नौका में वहाँ आये, और अन्त में उसे तथा वृत्र को नदी के तीर पर उतारकर एकाएक अदृश्य हो गये। शची ने उसी क्षण यह समझ लिया था कि इन्द्र के छिपने का स्थान वहीं कहीं पास में होना चाहिए। इन्द्र इस प्रकार अदृश्य होकर शची को छकाना चाहे, यह बात शची के लिए असहनीय थी। उसने भी निश्चय किया कि वह छिपे हुए इन्द्र को खोजकर देवराज को चकित कर देगी; और यह काम वह अकेली ही करेगी। उसको नहुष का नाट्य-प्रदर्शन देखने की प्रबल इच्छा थी; आर्यों और देवों की अभिनय-कला का उसने बखान भी सुन रखा था। नृत्य तो असुर भी करते थे, परन्तु ऐतिहासिक घटनाओं का यथार्थ अभिनय जैसा आर्य करते थे, वैसा असुरों में अभी विकसित नहीं हुआ था। इसलिए इस अभिनय को देखने की उसकी तीव्र इच्छा थी। परन्तु इस इच्छा को दबाकर इन्द्र को चकित करने के लिए वह अकेली ही नदी के किनारे पहुँच गयी। जिस नौका में इन्द्र शची को लाया था, वह लंगर डाले वहीं पानी में तैर रही थी।

आस-पास बिलकुल एकान्त था। निकट में कोई मनुष्य दीख नहीं पड़ता था। नौका जहाँ पहली बार रुकी थी, उस स्थान पर एक छोटा-सा घाट था। शची ने ध्यान से चारों ओर देखा। पानी में डूबे बिना वहाँ से यकायक अदृश्य हो जाने का और कोई मार्ग न था। विचार करके उसने घाट की

सीढ़ियों पर रखे हुए लंगर को उठाया और नौका में रखा, फिर नाव को जरा आगे ले गयी और जिस स्थल पर इन्द्र ने बड़ी ही कुशलता और शीघ्रता से लंगर फेंका था उसी स्थान पर और वैसी ही कुशलता से उसने भी लंगर फेंका। और एकाएक एक आश्चर्यजनक दृश्य उसके सामने उपस्थि हुआ ! घाट का एक भाग पृथक् हो गया।

इस भाग को खुलता हुआ देखकर शची बिजली की गति से उसके अन्दर गयी। एक साथ एक ही मनुष्य अन्दर जा सके, ऐसा वह प्रवेश-द्वार था। ज्योंही शची ने भीतर पाँव रखा, वह द्वार बन्द हो गया। रात्रि का अन्धकार तो था ही; द्वार बन्द होते ही वहाँ ऐसा अँधेरा व्याप्त हो गया कि हृदय सिहर जाये। परन्तु शची को विश्वास था कि जिस मार्ग से इन्द्र भीतर गया था, वह उसे भी मिलेगा। हुआ भी ऐसा ही। अन्धकार की अभ्यस्त होते ही उसे एक ओर थोड़ा-सा प्रकाश दिखायी पड़ा। वह प्रकाश कहाँ से आता था, यह समझ में न आया। वह थोड़ा और आगे बढ़ी, जहाँ एक द्वार दिखायी दिया। दरवाजे को खटखटाते ही वह खुल गया। अन्दर एक सशस्त्र द्वारपाल खड़ा था। शची को देखते ही उसके मुख पर आश्चर्य की रेखा फैल गयी।

"आप कौन हैं ? कहाँ से आयी हैं ?"

"मेरा नाम शची है। किस मार्ग से आयी हूँ यह तो आप देख ही रहे हैं।" शची ने उत्तर दिया।

"इस मार्ग से भगवान् इन्द्र को छोड़कर और कोई आ नहीं सकता। आपको किसने यह मार्ग बताया ?"

"मुझे इन्द्र ने ही यह मार्ग बताया है।"

"मैं मान नहीं सकता; यदि ऐसा होता तो मुझे वैसी आज्ञा मिली होती।"

"कदाचित् इन्द्र आज्ञा देना भूल गये हों। उनसे जाकर कहो कि उनसे मिलने के लिए शची आयी है।"

द्वारपाल जरा आश्चर्य में पड़ गया। पिछले इन्द्र का वैभव-विलास उसने देखा था। परन्तु वर्तमान देवाधिदेव इन्द्र ने जिस प्रकार छिपकर इस स्त्री को बुलाया था, वह तो अभूतपूर्व ही था।

"यदि मैं यह सूचना न दूँ तो ?" द्वारपाल ने पूछा।

"सूचना तो देनी ही पड़ेगी। और यदि मुझे रोकोगे, तो मैं दूसरा मार्ग ढूँढ लूँगी।"

शची के गौरवपूर्ण शब्दों का असर द्वारपाल पर हुआ। वह कुछ विनम्र हुआ।

"आप यहीं बैठें। मैं अभी सूचना देकर आता हूँ।" इतना कहकर शची के बैठने के लिए उसने आसन रखा, और दूसरा द्वार खोलकर वह अदृश्य हो गया। शची ने उस स्थान को ध्यान से देखना शुरू किया। इतना तो वह समझ ही गयी कि यह भवन जमीन के अन्दर निर्मित किया गया है, और इसी में इन्द्र का निवास है। क्या आर्य नरेश देवों के लिए ऐसे गुप्त स्थान बनाकर रखते हैं? और देवों तथा आर्यों को ऐसे गुप्त स्थानों में रहने की आवश्यकता क्यों होती है?

चुपचाप बैठ रहना शची के स्वभाव में ही न था। वह खड़ी होकर उस स्थान का निरीक्षण करने लगी। बहुत ध्यान से देखने पर भी सीधी दीवारों को छोड़कर उसे वहाँ और कुछ दिखायी न पड़ा। न वहाँ कोई यंत्र था, न कोई कल-पुर्जा और न भित्ति के अन्दर कोई गुप्त-स्थान ही! वह अभी इन बातों पर सोच ही रही थी कि इतने में दरवाजा खुला और द्वारपाल ने सम्मान-सहित शची को अन्दर बुलाया

उस द्वार में पाँव रखते ही शची को भूगर्भ में बनाये हुए इस प्रासाद की वास्तविक जानकारी मिली। सुगम मार्ग, सुन्दर कोठरियाँ और एक छोटे से उद्यान में से होकर एक कुंड के समीप द्वारपाल उसे ले गया। कुंड के ऊपर किनारे पर संगमरमर के आसन बने हुए थे। दूर के एक गवाक्ष से वहाँ प्रकाश आ रहा था, परन्तु आकाश दृष्टिगोचर न होता था। शची ने देखा कि एक आसन पर से उठकर कोई युवक उसकी ओर आ रहा है। अपनी देह पर उसने वस्त्र ओढ़ रखा था। वह इन्द्र ही था। ओढ़े हुए वस्त्र में से उसकी दक्षिण भुजा बाहर निकली हुई थी, और चौड़ी छाती उसके गौर-वर्ण तथा शौर्य-श्री को प्रकट करती थी। शची को लगा कि आज तक जितने पुरुषों को उसने

देखा है, उन सबसे इन्द्र कुछ न्यारा ही है।

क्षण मात्र में शची पुनः सतर्क हो गयी। स्वर्ग का स्वामी इन्द्र असुर-सम्राट् की कन्या से मिलने आ रहा था। यह असुर-कन्या कोई साधारण स्त्री न थी। असुरों की साम्राज्ञी होनेवाली वह एक विशिष्ट नारी थी। कहीं ऐसा न हो कि गौर-वर्ण, सुन्दर मुख तथा कमनीय पुरुष-देह उसे निर्बल बना दे! शची सावधान हो गयी।

नमस्कार करके इन्द्र ने अपना आश्चर्य व्यक्त किया—"शची कुमारी! आप! इस समय? यहाँ! अकेली ही?

"मैं अपने आसपास रक्षकों को रखकर किसी की आश्रिता नहीं बनती।"

"मुझे कहा क्यों नहीं? मैं आपको अपने साथ ही ले आता!"

"आप जब अदृश्य हुए, तब आपने हमसे कहा था?"

"मैंने आपको नमस्कार किया था?"

"परन्तु मुझे क्या खबर कि आप एकाएक पानी में डूब जायेंगे? जिस प्रकार आपको मेरे लिए चिन्ता हुई और मेरी रक्षा के लिए आप आये, उसी प्रकार आपके लिए मुझे भी चिन्ता हुई।"

"और अब आपने देख लिया कि जिस प्रकार मेरी चिन्ता निरर्थक थी, उसी प्रकार आपकी चिन्ता भी निरर्थक ही है न!"

"अच्छा ही हुआ। चिन्ता-मुक्त हम दोनों को पहले के चिन्तातुर प्राणियों के विषय में अधिक विचार करने का अवकाश मिल गया।" शची ने कहा।

"चिन्तातुरों में मेरा भी समावेश कीजिएगा। मैं चिन्तामुक्त नहीं हुआ हूँ।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"क्यों? आपको कैसी चिन्ता?"

"हम आपस में जितने ही परिचित होंगे इसका उत्तर आपको अपने-आप मिलता जायेगा। इस समय तो आप मेरी मेहमान हैं। पधारिए, बैठिए।" इतना कहकर इन्द्र शची को कुंड के ऊपर स्थित एक स्फटिक के आसन की ओर ले गया, और वहाँ उसे बैठाकर स्वयं कुछ दूर जाकर बैठा।

"मुझे आप अतिथि कहते हैं? मैं तो चोर हूँ।" आसन पर बैठते-बैठते

शची ने हँसकर कहा।

"कुछ चुराते हुए जब पकड़ी जायेंगी, तभी आपको चोर कहेंगे!" इन्द्र ने उत्तर दिया। उत्तर देते हुए इन्द्र को यह विचार अवश्य आया कि यदि यह असुर-रमणी चाहे तो उसका बहुत कुछ चुरा सकती है।

"यह स्थल बड़ा ही सुन्दर है। अरे, इस समय भी कुंड में हंस तैर रहे हैं! वह देखिए हंस ही तो हैं।" शची अपने आश्चर्य को रोक न सकी।

"युगल है, शचीकुमारी! एक नहीं दो हंस हैं।"

"हंस और हंसिनी होंगे!" हंस-युगल को देखते हुए शची ने कहा।

"हाँ!" इन्द्र ने उत्तर दिया।

थोड़ी देर तक शची उस युगल को देखती रही। इन्द्र की आँखें स्थिर थीं। वह न देखता था शची की ओर न हंसों के जोड़े की ओर!

"मैं क्यों आयी, इसका कुछ अनुमान कर सकते हैं?"

"नहीं, परन्तु एक बात स्पष्ट है। मित्र बनकर आयी होंगी, अथवा शत्रु बनकर!"

"यों भी मैं आयी तो हूँ आपके दुश्मनों के प्रदेश से ही। ऐसा मान लें कि शत्रु-रूप से ही आयी हूँ! अब क्या करेंगे?"

"जरा सावधान हो जाऊँगा। परन्तु मुझे यह नहीं लगता कि आप दुश्मन बनकर आयी हैं!"

इतने में एक सुन्दर युवती दो स्वर्ण-पात्र लेकर इन्द्र के पास आयी। एक पात्र उसने शची के समीप रखा, दूसरा इन्द्र के सामने; और प्रणाम करके अदृश्य हो गयी।

"इसे ग्रहण कर मेरा आतिथ्य स्वीकार करें शचीकुमारी!" पात्र की ओर निर्देश करते हुए इन्द्र ने कहा।

"मेरा नाम शची है, उसे बढ़ाकर शची कुमारी न करें। यह कोई पेय है?"

"आप ही सोचकर बतायें।"

"देवों और आर्यों का प्रिय सोमरस तो नहीं है?"

"आपने ठीक ही कहा।"

"सुना है कि इसके पान से नशा आता है।"

जिन्दगी स्वयं एक नशा है ! कितने-कितने नशे एकत्रित होकर जीवन का निर्माण करते हैं।"

"आर्यों का पेय पीने में कोई हर्ज नहीं, वह स्वादिष्ट तो है ही और स्वाद भी एक प्रकार का सौन्दर्य ही होता है न ?"

शची ने सोमरस पीना शुरू किया। उसे वह सुस्वादु लगा। इन्द्र ने भी साथ-ही-साथ रस पान किया। शची के सारे शरीर में एक प्रकार की झनझनी-सी फैल गयी। यह झनझनाहट कष्टप्रद न थी, बल्कि मधुर मालूम होती थी। यकायक शची ने इन्द्र से पूछा,—"जीवन में आपको कौन-सा नशा चढ़ता है ?"

"मुझे ? जैसा क्षण, जैसा कार्य, वैसा नशा ?"

"परन्तु आपको उनमें प्रिय कौन है ?"

"तप का नशा।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"तप ? अभी तो आप बहुत छोटे हैं। इन्द्र और तप का सम्बन्ध ही क्या ?"

"इन्द्रासन प्राप्त करने की सबसे बड़ी योग्यता है तप। शची, मुझे इन्द्रासन से अधिक तप प्रिय है।"

"आप तप क्यों करते हैं ?"

"इस देह का विश्व के साथ सम्बन्ध हुआ इन्द्रियों के द्वारा। यह सम्बन्ध सुख देनेवाला हो सकता है और दुःख देनेवाला भी। सोमरस पीने से सुख मिलता है, मदिरा पीने से दुःख। हम आर्य इसलिए तप करते हैं कि इन्द्रियों को संयम में रखकर उस सुख का स्पर्श कर सकें जो इन्द्रियातीत है। तप करते हैं इन्द्रियों के सुख-दुःख से ऊपर उठकर अधिक विशाल सुख-प्रदेश में प्रवेश करने के लिए।"

"इन्द्र ! आप बड़े ज्ञानी जान पड़ते हैं। आपका कथन मेरी समझ में न आया ! अच्छा, आप यह बतायें कि नहुष के यज्ञ में आप क्यों आये ?"

"यज्ञ-भाग लेने।"

"वह तो आप स्वयं न आते तब भी आपको मिलता।"

"साथ ही यह इच्छा भी हुई कि इन्द्र अर्थात् आर्यों के पूज्य बनने पर देवाधिदेव होने के नाते मेरे अन्तर्गत जो सारा प्रदेश है उसे एक बार मुझे अवश्य देख लेना चाहिए।"

"देखकर क्या करेंगे?"

"उसे सुखी बनायेंगे। इच्छा तो सतत यही रहती है कि विद्युत् को पकड़कर उसे स्थायी रूप से अपने प्रदेश में जकड़ दूँ। बादलों में घूमता रहूँ, और जहाँ आवश्यकता देखूँ, वहाँ पानी बरसाऊँ। पवन में उड़ता चलूँ, और सर्वत्र कल्याणकारी मलयानिल बहाऊँ। मैं पहाड़ों में भटकूँ, और आवागमन का अवरोध करनेवाले शृंगों को तोड़कर अपनी आर्य-प्रजा के लिए सुगम मार्ग तैयार कर सकूँ।" इतना कहते-कहते इन्द्र की आँखों में एक अपूर्व तेज चमकने लगा।

शची ने भी इस तेज को देखा। इन्द्र को बीच ही में रोककर उसने पूछा—"यह सब केवल आर्यों के लिए ही? मैं आपसे अपने मन की बात कहूँ? मुझे भी आपकी तरह स्वप्न आते हैं। और जब मैं राज-गद्दी पर बैठूँगी तब अपनी असुर-प्रजा के लिए सूर्द-चन्द्र की किरणों से घर-घर दीपक जलाऊँगी, प्रत्येक गाँव में इन्द्रधनुष के तोरण बाँधूँगी, नदियों के पानी को सभी क्षेत्रों में पहुँचाने के लिए स्थान-स्थान पर नहरों का निर्माण करूँगी, और समुद्र को बाँधकर अपने साहसी असुरों को नये-नये द्वीपों में जाने की सुविधा प्रदान करूँगी...." शची ने अपनी भावी योजना कहना शुरू की।

इन्द्र ने देखा कि शची के नेत्रों से तेज किरणें निकल रही हैं। यह तेज उसे प्रिय लगा।

बीच ही में इन्द्र ने पूछा—"यह सब आप केवल असुरों के ही लिए करेंगी न?"

"अवश्य! जिस प्रकार आप आर्यों के लिए किया चाहते हैं, उसी प्रकार!"

"और चन्द्र से आप दीपक जलाना चाहें और मैं उसकी किरणें अपने कार्य के लिए लेना चाहूँ तो क्या हो?"

"तब मेरे और आपके बीच भयंकर युद्ध छिड़ जायेगा। जो उसमें विजयी

होगा, वह चन्द्र-किरणें ले जायेगा और मुझे यह विश्वास है कि मैं हारूँगी नहीं।" शची ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया।

इन्द्र कुछ क्षण चुप रहा। उसके मुख पर मुस्कराहट नाच गयी। उस मुस्कराहट में तिरस्कार न था—था सद्भाव। इन्द्र को अपनी दक्षता और तपश्चर्या में पूर्ण विश्वास था। वह क्यों पराजित होने लगा? परन्तु अपने इस विश्वास को उसने अपने तक ही सीमित रखा। लेकिन उसके सामने बैठी हुई रूपवती युवती अपने उत्साह को दबा न सकी। उसने दृढ़तापूर्वक अपने मन के भाव प्रकट कर दिये। इन्द्र सोचने लगा कि आज सुर और असुर एक दूसरे के दुश्मन नहीं, यह बात सच है; परन्तु वंश-परम्परा से शत्रुता रखनेवाले ये मानव-समूह फिर कब दुश्मन बन जायेंगे, यह कहना आज संभव नहीं। किसी भी तिनके से चिनगारी का स्पर्श हुआ तो उससे अग्नि-ज्वाला भड़क ही उठेगी और इस प्रकार के तिनके चारों ओर फैले हुए थे, यह तो मान ही लेना होगा।

"आप क्यों मुस्करा रहे हैं?" इन्द्र के मौन को तोड़ते हुए शची ने प्रश्न किया।

"जब आपने जय-पराजय स्वयं निश्चित कर ली तो मुझे हँसी आ गयी। परन्तु आपके आत्मविश्वास के भी कुछ कारण तो होंगे ही?"

"अवश्य। आज तक का इतिहास देखिए। असुरों ने कभी पराजय स्वीकार नहीं की, किसी भी विषय में नहीं।"

"किसी भी विषय में नहीं?"

"नहीं, यदि आपको मालूम हो तो बताइए।"

"इस भूगर्भ-स्थित महल को ही लीजिए। इसकी रचना तो बहुत ही सरल है; परन्तु स्वर्ग-प्रदेश में यदि आप हमारे विश्वकर्मा की कला देखें, तो आश्चर्य चकित रह जायें।" इन्द्र ने एक छोटा-सा उदाहरण दिया।

"तो मेरा भी आपको निमन्त्रण रहा, एक बार असुर-प्रदेश में आकर हमारे मय-दानवों की गृह-निर्माण कला देख जायें। जिस प्रकार के महल में अभी हम बैठे हैं, उनको बनाना तो हमारे बायें हाथ का खेल है। और मैं जो यहाँ अकेली ही आयी हूँ सो आपको मात्र इतना कहने और समझाने के लिए कि

असुरों की दक्षता के विषय में आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें।"

"आपको जब से यहाँ देखा है, तभी से आधुनिक काल के असुरों के सम्बन्ध में मेरे समस्त भ्रमों का निवारण हो गया है। मैं तो यह विचार कर रहा था कि क्या हम दोनों मिलकर कोई ऐसा मार्ग नहीं खोज सकते, जिससे भविष्य में हमारे बीच युद्ध की स्थिति पैदा ही न होने पाये?"

"बहुत कठिन तो नहीं है। आप सब देव और आर्य असुर बन जायें।" हँसते-हँसते शची ने कहा।

इन्द्र ने भी हँसने का प्रयत्न किया, परन्तु वह हँस न सका। शची बात भले ही हँसकर करे, उसकी बातों में वजन तो अवश्य था। कहीं कार्य-सिद्धि के लिए वह अपनी दक्षता और सुन्दरता को तो बाजी पर नहीं लगा रही?

कुछ देर चुप रहकर शची ने इन्द्र से पूछा—"चुप क्यों हो गये? हाँ क्यों नहीं कहा? आप भी यह कह सकते हैं कि असुर ही आर्य क्यों नहीं बन जाते!"

यह तो ऐसा ही था जैसे सूर्य से यह कहना कि वह जुगनू बन जाये! एक बार तो शची की इस बात से देवों को भी आश्चर्य ही होता। जुगनू से कोई कहे कि तुम सूर्य बनो और कोई महत्वाकांक्षी वैसा प्रयत्न भी करे तो वह बर्दाश्त किया जा सकता है; परन्तु यदि सभी जुगनू एक साथ सूर्य बनना चाहें, तो उनका यह प्रयत्न सूर्य को भी आश्चर्य में डाल देगा।

"मेरी इच्छा अवश्य है कि सुर-असुर के भेद मिट जायें। आखिर सुर-असुर दोनों हैं तो काश्यप गोत्र के ही! परन्तु इस बात को स्वीकार करने में देव और आर्य दोनों को कुछ समय लगेगा।"

"क्यों?

"मनुष्य को आर्य बनने के लिए—देव बनने के लिए आमूल विशुद्धि की आवश्यकता है—अणु-अणु की विशुद्धि की।" इन्द्र ने धीमे परन्तु दृढ़ स्वर से उत्तर दिया।

"मगर शुद्धिकरण की तो आर्य निन्दा करते हैं। जो पणि-व्यापारी समुद्र पार करके समृद्धि ले आते हैं उन बेचारों को आर्य-समूह से बाहर निकाल देने की धमकी दी जाती है! यह नहुष आर्यों के ही बताये हुए यज्ञ को सम्पादित

करके निषादों को आर्य बनाना चाहते हैं, मगर आपके ही मुनिजन उसका विरोध करते हैं! मैं आर्यों के गुरुजनों और नर्तकों को सम्मान-सहित अपनी राजधानी में बुलाती हूँ, तब मेरा और मेरे पिता का आर्य अपमान करते हैं। इन्द्रदेव! मैं आपके किसी तेजस्वी मुनि को उठा ले जाऊँगी और तब देखूँगी कि आपका अभिमान और देवत्व क्या कर लेता है?" शची ने कहा।

तभी एक अनुचर दौड़ता हुआ आया, और इन्द्र को प्रणाम करके उसने नम्रता से कहा—"ऊपर रंगभूमि में एक विकट समस्या खड़ी हो गयी है—देवासुर-संग्राम का दृश्य दिखाने के विषय को लेकर डर है कि उसके कारण असुरों के साथ झगड़ा न हो जाये। जब तक आपकी आज्ञा उसे रोकने की न होगी, भरतवंशीय नट उस दृश्य को दिखाये बिना मानेंगे नहीं, और दिखाया गया तो असुर भी उसमें विघ्न डाले बिना रहेंगे नहीं।"

"शची! क्या इच्छा है?" इन्द्र ने पूछा।

"मेरी इच्छा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रूपक में भी हमको नीचा दिखाने का कोई संगत कारण, सो भी हमारी उपस्थिति में, मेरी समझ में नहीं आता।"

"मैं उस दृश्य को रोककर अभी आता हूँ। मेरे लौटने तक आप जायें नहीं, ...देर नहीं लगेगी।" यह कहकर इन्द्र जल्दी से उठा और अदृश्य हो गया।

अब शची की समझ में आया कि नहुष के महल के नीचे ही इन्द्र का यह गुप्त निवास बना हुआ होना चाहिए। और इसके ठीक ऊपर नाट्य-गृह होना चाहिए। नदी-किनारे से नहुष के राजमहल तक भू-गर्भ में काटकर बनायी हुई सुरंग ने इस स्थान को महल के एक विभाग का ही रूप दे दिया था। आर्यों की यह स्थापत्य रचना शची को अच्छी लगी। वह सोचने लगी—किसका रचना-कौशल उन्नत है, विश्वकर्मा का अथवा मयदानव का?

शची उस स्थान को घूमकर देखने लगी। थोड़े प्रकाश में सब दिखायी पड़ता था। पानी से भरे हुए कुण्ड के पास जो विस्तृत बगीचा था, उसमें खड़ी की हुई एक स्त्री-प्रतिमा को देखने के लिए वह रुक गयी। उस प्रतिमा में अर्ध-नग्न नारी-देह को सम्पूर्ण सौन्दर्य प्रदान किया गया था। सहज स्त्री स्वभाव से

वह अपने देह-सौष्ठव पर विचार करने लगी। प्रतिमा में और उसकी देह में कहाँ-कहाँ अन्तर है, इस बात पर वह विशेष रूप से विचार करने लगी। यकायक उसे ऐसा लगा मानों कोई उसके पास खड़ा है। उसकी ओर देखे बिना ही शची ने प्रश्न किया—"यह प्रतिमा किसकी है?"

"घृताची की।" स्त्री-कंठ से उत्तर आया।

"घृताची कौन?" शची ने प्रश्न आगे चलाया।

"हमारे अप्सरा-वर्ग की एक कुलमाता!"

"हाँ," कहकर शची ने उत्तर देनेवाली स्त्री की ओर देखा। रूप के भंडार जैसी एक युवती सामने खड़ी थी!

इतने में इन्द्र को आते देख वह सुन्दरी अदृश्य हो गयी।

"आपके स्वर्ग में तो सौन्दर्य के भण्डार भरे हुए मालूम पड़ते हैं।" शची ने कहा।

"हाँ! देव-वर्ग सौन्दर्य की ही भूमिका में जीवन बिताता है...."

"इसे आप देव-लक्षण कहेंगे या आर्य-लक्षण?"

"जिसे जो पसन्द आये! स्वयं मुझे तो यह भूमिका पसन्द नहीं। सौन्दर्य यदि अमर न हो सका तो उसका उपयोग ही क्या?"

"सौन्दर्य को अमर बनाने के लिए आप क्या कर रहे हैं? अश्विनीकुमार की औषधि?"

"मैं तप करता हूँ और अमृत को खोजता हूँ।"

"आपकी प्रिय अप्सरा कौन है?"

"अभी मैंने यह स्थिर नहीं किया, परन्तु इतना तो अवश्य है कि निरा देह-सौन्दर्य मुझे प्रिय नहीं।"

"हम जो चाहें वह सब मिल ही जाये, ऐसा तो कभी होता नहीं। देवराज, अब मैं जाऊँ? असुर-मण्डल मेरे लिए चिन्तित हो रहा होगा...."

"पुनः हम दोनों के मिलने का प्रसंग कब आयेगा?"

"जब आप असुर बनने का निश्चय करें तब मुझे याद कीजिएगा। या जब मैं देव बनने को तैयार हो जाऊँगी, तब आपका स्मरण करूँगी। इसके अतिरिक्त

एक-दूसरे से मिलने का प्रसंग तो शायद ही आये।"

इतना कहकर शची जाने लगी। इन्द्र ने उसकी शोभा को देखा। परन्तु शची ने इन्द्र को देखने का कष्ट न उठाया। द्वार पर पहुँचकर इन्द्र ने शची को नमस्कार किया और यकायक इन्द्र के मुख से निःश्वास निकल गया।

हँसकर शची ने इन्द्र की ओर देखा और वह बोल उठी—"देवराज! भूल न करें। मैं यहाँ प्रेम की खोज में नहीं आयी थी।"

"परन्तु मेरी तो यही शुभेच्छा है कि आपको प्रेम प्राप्त हो।"

इन्द्र और शची अपने-अपने स्थान पर चले गये। गुप्तद्वार से होकर शची अपने निवास में आयी। रक्षा को शची ने यह सारी बात क्यों कह सुनायी? वृत्र के कान तक पहुँचाने के लिए तो नहीं?

[१२]

नहुष के महायज्ञ का दिन आ पहुँचा। उस दिन व्रात्यस्तोम यज्ञ में सौ निषादों को आर्य बनाया जाना था। इन निषादों ने तपश्चर्या तथा अभ्यास द्वारा अपना कायाकल्प कर लिया था। विविध गुरुकुलों में रहकर उन्होंने अनेक कष्ट सहन किये थे। जो विधियाँ बची रह गयी थीं अन्त में वे शुक्र के आश्रम में पूर्ण की गयी थीं। इस प्रकार आर्यत्व के निकट पहुँचने के लिए उन्होंने बारह वर्ष तपश्चर्या में बिताये थे। शुक्राचार्य ने इन निषादों की योग्यता की परीक्षा लेकर उन्हें आर्यत्व में दीक्षित कर लेने का वचन दिया था, और इसी लिए आर्य-प्रदेश के एक प्रगतिशील नरेश नहुष को व्रात्यस्तोम यज्ञ करने की सलाह दी थी। नहुष ने इस सलाह को मानकर यज्ञ करने का निश्चय किया, और इसकी सूचना समस्त आर्य-प्रदेश में दे दी गयी थी।

आर्य-संस्थानों और जनपदों में, जहाँ पहले सब काम कुलपतियों और प्रजापतियों के आदेश से होते थे, अब राजों-महाराजों की संस्था विकसित होने लगी थी। सब लोग मिलकर किसी आर्य युवक को निर्वाचित करते, और

उसके हाथ में संस्थान की रक्षा का भार सौंप देते थे। इस प्रकार रक्षा के कठिन कार्य से छुटकारा पाकर प्रजा का प्रत्येक वर्ग अपने-अपने काम में अधिक समय लगाता था। ऋषिकुल पठन-पाठन में मग्न रहता, कृषिकार खेती सँभालते, और कारीगर-वर्ग कला के लोकोपयोगी नमूने उत्पन्न कर संस्थान को समृद्ध बनाने की सामग्री देते रहते। यों तो युद्ध के समय आक्रमण और रक्षा का भार प्रत्येक स्त्री-पुरुष पर रहता था; परन्तु कुशल नृपति युद्ध-कौशल के अनेक नये ढंग सोचते, उनका प्रयोग करते और इन प्रयोगों में वीरता दिखानेवाले पुरुषों को संगठित कर उनकी सेनाएँ बनाते थे। इन सेनाओं को आवश्यक शिक्षा दी जाती थी। ये सेनाएँ असुर, निषाद, पुलिन्द अथवा पिशाचों के भय से आर्य-संस्थानों की रक्षा का कार्य करती थीं। आर्यों के यज्ञ में अथवा अन्य किसी कार्य में बाधा डालनेवालों का भी यह सुशिक्षित सेना मुकाबला करती और उनको भगा देती थी। समूची आर्य जनता की टोलियों के स्थान पर ऐसे शिक्षित योद्धाओं को भेजने का परिणाम भी शुभ ही रहता था। राजा भी धीरे-धीरे अपनी सन्तानों को नेतृत्व का पाठ सिखाते और उन्हें प्रत्येक कार्य में निपुण बनाते थे। समय आने पर ये राज-पुत्र सर्वसम्मति से अपने पिता का स्थान लेते। सुरक्षा की दृष्टि से समूचा आर्य-प्रदेश अनेक विभागों में बाँट दिया गया था, और प्रत्येक विभाग में शासन के लिए एक-एक राजा निर्वाचित कर लिया गया था। शान्ति के समय राजा अपने विभाग में स्वयं ही शासन-कार्य सँभालता। परन्तु जब कभी समस्त आर्य-जाति पर किसी शत्रु का भय उपस्थित होता, तो ये सब नरेश मिलकर उसका सामना करते। इन राजाओं में जो सब से अधिक बुद्धिमान और पराक्रमी होता, वह उनका नेता बनाया जाता। कभी-कभी इनके बीच झगड़े भी खड़े हो जाते, और तब समस्त आर्य-प्रदेश उद्वेलित हो उठता था।

कालान्तर में सूर्य और चन्द्रवंशीय क्षत्रियों की महत्ता स्थापित हुई। राजाओं का चुनाव इन्हीं वंशों में से होने लगा। चन्द्रवंशीय नहुष अपने बाल्यकाल से ही राजत्व की योग्यता प्रमाणित करता आ रहा था। असुरों के विरुद्ध वह अनेक बार युद्ध कर चुका था; क्रूर आदिवासियों का उसने पूरा दमन किया

था; देवों की भी कृपा प्राप्त करने में वह समर्थ हुआ था। इन्द्रासन पर विराजनेवाले युवक इन्द्र को विधिपूर्वक यज्ञ-भाग और बहुमूल्य भेंट देकर उसने स्वर्ग-प्रदेश के निवासियों के हृदय में भी आदर का स्थान प्राप्त कर लिया था।

आर्य-नरेशों में नहुष का स्थान सर्वोपरि था। परन्तु उसे इतने से सन्तोष नहीं होता था। उसकी इच्छा चक्रवर्ती बनने की थी—अन्य सभी नृपतियों से अपनी श्रेष्ठता को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कराकर उन्हें अपने शासन के नीचे वह लाना चाहता था। उसे पूरी आशा थी कि उसकी इस आकांक्षा की पूर्ति में देव-प्रजा उसका साथ देगी। शान्ति-प्रिय इन्द्र की सलाह मानकर उसने असुरों के साथ के युद्ध को रोक दिया था। असुर-वीर लड़ते जाते थे, और नहुष को ऐसा लगने लगा था कि इस लड़ाई का शीघ्र अन्त होना कठिन है। इन्द्र के पास सहायता की इच्छा से गये हुए नहुष को देवराज ने युद्ध स्थगित करने की सलाह दी। कुछ समय से नहुष का ध्यान आदिवासियों की सहन-शक्ति की ओर भी जाने लगा था। कठिन-से-कठिन कष्ट सहने के लिए वे तैयार हो जाते थे। भविष्य में असुरों के विरुद्ध लड़ने के लिए इनकी सेना तैयार करने की सम्भावनाओं की ओर भी उसका ध्यान गया था। इस सेना का उपयोग अपने अन्य आर्य प्रतिद्वन्द्वियों के दमन में भी हो सकता था। इन कारणों से नहुष आदिवासियों के साथ मृदु व्यवहार करता, और उनको आर्यत्व के निकट खींच लाने का सतत प्रयत्न करता रहता था। उधर आर्य उदारता का प्रतिनिधि तेजस्वी भार्गव शुक्र सारी मानव-जाति को ही आर्य बनाने के लिए तैयार था। नहुष और शुक्र दोनों ने मिलकर सौ निषादों को पढ़ा-लिखाकर तैयार किया, और सार्वजनिक रूप से उन्हें आर्यत्व प्रदान करने के लिए यज्ञ का आयोजन किया।

बहुत से आर्यों को यह बात पसन्द न आयी। एक साथ सौ निषादों को आर्यत्व प्रदान करने से आर्यत्व के निर्बल तथा तेजोहीन हो जाने का भय उन्हें सताने लगा। नहुष की इस नीति को बहुत से राजाओं ने भी नापसन्द किया; यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उसका विरोध करने की न तो उनकी हिम्मत हुई, और न अन्य ऋषि-मुनियों की ही। ऐसा यज्ञ वेदोक्त था और भूतकाल में कभी-कभी

किया भी गया था। ऐसे यज्ञों के द्वारा असुर अथवा निषादों में से व्यक्ति-विशेष के आर्यत्व में प्रविष्ट होने के दृष्टान्त भी थे। इस बात को देखते हुए नहुष के निमंत्रण को अस्वीकार करना भी अनुचित होता। अतिथि अच्छी संख्या में आने लगे, और देखते-ही-देखते नहुष की राजधानी आर्य-नृपतियों, ब्राह्मणों, वैश्य-व्यापारियों तथा सेवा करनेवाले दास-शूद्रों से भर गयी। सबकी मेहमानदारी के लिए राज्य का कोष खोल दिया गया। पणियों का सहयोग होने से नहुष का भंडार समृद्ध और सम्पत्ति से पूर्ण था।

स्थल-मार्ग और जल-मार्ग द्वारा व्यापार करने की इच्छा रखनेवाले आर्यों को नहुष सर्वदा प्रोत्साहन देता रहता था। व्यापार और परदेश-गमन से ही धनोपार्जन हो सकता है, इस बात को समझनेवाले बहुत से आर्य हस्तिदंत, मोरपंख, कपड़ा, काष्ठ, चन्दन और अन्य वनस्पतियों से अपने जहाज भरकर महासागर में निकल पड़ते, तथा दूर-दूर के देशों में जाकर माल का लेन-देन करते, और बहुत-सा धन कमाकर आर्य बस्तियों में लौटते थे। परन्तु आर्यों के कुछ पंडितों को पणियों के धर्माचरण के विषय में शंका होने लगी, और उनके परदेश-गमन को रोकने के लिए, अथवा विदेश में उनके धर्म की रक्षा करने के लिए योजनाएँ बनायी जाने लगीं। इस काम के बारे में तीव्र मतभेद भी होने लगे। पणि-व्यापारी कभी-कभी भारतीय पशुओं को भी परदेश ले जाते थे। यहाँ के चपल बन्दर विदेशियों को बहुत प्रिय लगते, और उनकी अच्छी कीमत मिलती थी। परन्तु उनको पकड़कर बाहर ले जाने के सम्बन्ध में धार्मिक विरोध उठ खड़ा हुआ, और पणियों के व्यापार-कार्य में तरह-तरह की बाधाएँ डाली जाने लगीं।

पणि-व्यापारियों को समुद्र-पार जाने की जो सुविधा असुरों ने दी थी वह कम कर दी गयी। आर्यों के पूर्वीय प्रदेश के पड़ौसी देवों को आर्य-जाति यज्ञ के रूप में अथवा भेंट के रूप में बराबर भाग देती जाती थी। उनके पश्चिमी पड़ौसी असुरों ने भी अपना भाग माँगा, जिसे आर्यों ने स्वीकार नहीं किया। परिणाम-स्वरूप भयंकर युद्ध छिड़ गया—एक ओर असुर थे और दूसरी ओर देव तथा आर्य! घमासान लड़ाइयाँ हुईं। आर्यों में भी आन्तरिक द्वेष और

अशान्ति थी ही। इन पारस्परिक विग्रहों को शान्त करने, और वातावरण को अधिक निराकुल बनाने के लिए इन्द्रासन पर बैठे हुए नये इन्द्र से नहुष ने परामर्श किया, और उनकी सलाह तथा सहायता से व्रात्यस्तोम यज्ञ की योजना बनाकर सारे आर्य-प्रदेश को इकट्ठा किया। असुरों के चक्रवर्ती राजा पुलोमा को यज्ञ में आने का निमंत्रण देने के लिए वह स्वयं असुर-सम्राट् के पास गया। वह भली भाँति जानता था कि इन कार्यों से उसकी महत्ता बढ़ेगी। आर्य, देव और असुर-समूहों में उसकी धाक जम जायेगी, तथा उसका अधिकार-क्षेत्र विस्तृत होगा।

उसने शची का नाम भी सुना था। पणियों का प्रतिनिधि-मण्डल पुलोमा के पास जा रहा था। इन व्यापारियों के साथ उसकी मैत्री पहले ही से थी, और इनके द्वारा उसको काफी समृद्धि भी प्राप्त हुई थी। यज्ञ के खर्च में भी पणियों ने बहुत-सी सहायता प्रदान की थी। असुर महासभा का अधिवेशन पुलोमा की राजधानी में होनेवाला है, इस बात का समाचार भी नहुष को मिला था। इस अवसर पर व्यायाम आदि की प्रतियोगिताएँ हुआ करती हैं, यह भी उसे मालूम था। वह स्वयं एक महान योद्धा और व्यायाम-विद्या का विशारद था, अतः असुरों की इन प्रतियोगिताओं में भाग लेकर और अश्व-विद्या के विविध खेल बताकर आर्येतरों को चमत्कृत करने की उसकी इच्छा स्वाभाविक ही थी। साथ ही पुलोमा-जैसे असुर-श्रेष्ठ को निमन्त्रण देने का अवसर भी मिल जायेगा। इन सब कारणों से वह पणियों के साथ हरियुपीय नगर में गया, अपना परिचय दिया, और पुलोमा को यज्ञ का निमन्त्रण दे आया।

परन्तु यज्ञ का निमन्त्रण देने जाकर नहुष अपना हृदय हरियुपीय में ही छोड़ आया! शची के रूप, और उससे भी अधिक उसकी आश्चर्यजनक शक्ति ने उसका हृदय जीत लिया। असुर-कन्याओं से विवाह के दृष्टान्त भी उसके सामने थे। पुलोमा की सम्मति लेने की उसे परवाह न थी। मनोवांछित युवती का अपहरण भी हो सकता है यदि दोनों के बीच प्रेम हो! अपहरण करने के बाद भी शची का प्रेम जीता जा सकता था। परन्तु अपने ही सदृश्य रथ-कला में निपुण शक्तिमती नारी का अपहरण करना उतना सरल न था। यदि कर

लिया जाता तो इस बात का क्या भरोसा कि शची जैसी तेजस्विनी नारी उसके प्रेम को स्वीकार कर ही लेती ! नहुष के मस्तिष्क में इस तरह के कई प्रश्न उठे। जो स्त्री जीती न जा सके, उसे वश में लाने का मार्ग क्या हो सकता है ? सम्मान करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग उसे सूझा ही नहीं। इसलिए पुलोमा के साथ यज्ञ में आने का उसने शची को भी आग्रहपूर्वक निमन्त्रण दिया। पुलोमा का यज्ञ में न जाना स्वाभाविक था; परन्तु असुर-सम्राट् ने अपने प्रतिनिधि-मण्डल में शची के नाम का समावेश करके अपनी सद्भावना का परिचय दिया। नहुष के लिए भी यह अनुकूल हुआ कि शची ने इस प्रतिनिधि-मण्डल के साथ जाना स्वीकार कर लिया, और यज्ञ के कुछ दिन पहले ही वह नहुष की राजनगरी में पहुँच गयी।

उसके आने के बाद नहुष को यज्ञ से अधिक लगाव शची से हुआ।

शची की आदत थी कि रक्षकों को साथ लिये बिना ही अकेली घूमने निकल जाती; असुर-प्रदेश में भी वह ऐसा ही करती थी। असुर-रक्षकों को यह पसन्द न था। उनकी दृष्टि में राजकुमारी का यह व्यवहार भय से भरा हुआ था। परन्तु शची का आत्मविश्वास भय का विचार तक न करता था। परदेश में अन्य शासित प्रदेश में भी शची को किसी बात का भय न होता था। वह अपनी इस मनोवृत्ति का प्रदर्शन भी करती थी। नगर में वह अकेली ही घूमने विकल जाती; यज्ञशाला देखने भी वह कई बार अकेली ही गयी; मुनि-मण्डलियों की प्रातः तथा सायं-सन्ध्या में भी वह जाकर बैठती; और वहाँ चलनेवाले वाद-विवादों में भी उपस्थित रहती। उसके चेहरे-मोहरे और रंग-ढंग का प्रभाव ही कुछ इस किस्म का पड़ता था कि सर्वत्र बिना माँगे ही लोग उसे मार्ग दे देते थे। कई बार वह नदी में अकेली ही तैरती; और कभी-कभी नदी के दोनों तटों पर दूर तक भ्रमण के लिए अकेली चली जाती थी।

विशिष्ट मेहमान के नाते नहुष दो-एक बार शची से मिलने भी गया; परन्तु उसके उछलते हुए हृदय को शची के हृदय का सहारा मिला ही नहीं। शची प्रेम की शोध में निकली हुई पद्मिनी तो थी नहीं; वह तो थी शक्ति-गर्विता असुर-कन्या, सब को अपने प्रभाव में लाने की महत्वाकांक्षा रखनेवाली ! नहुष

की प्रेम-लालसा की उसे खबर थी, खासकर जब से स्वर्ण-मूर्ति उसे भेंट दी गयी थी तब से। नहुष भी यह समझता था कि सामान्य घटनाओं से शची का प्रेम जीतना असम्भव है। वह सोचता कि शची का यदि अपहरण किया जाये तो कैसा रहे? परन्तु कौन उसका अपहरण करता? और इस कार्य से कहीं यज्ञ रुक गया तब तो शायद युद्ध ही छिड़ जायेगा? इन सब आफ़तों को उठाने के लिए वह तैयार था, यदि शची मिल जाती! यज्ञ की एक रात पहले ही उसे समाचार मिले थे कि पास में बसनेवाले पुलिन्द-निषाद शची को पकड़कर बलि चढ़ाने का षड्यन्त्र रच रहे हैं। परन्तु इस बीच इन्द्र ने आकर उसको बचा लिया था।

यह इन्द्रदेव बीच में कहाँ से आ टपके? नहुष व्याकुल हो गया था। नाटक देखने में उसका जी लग नहीं रहा था। नाटक अधूरा ही छोड़कर वह शची के निवास-स्थान पर आया। शची इन्द्रवाला प्रसंग रत्ना को सुना रही थी। इतने में समाचार मिला कि राजा नहुष उससे मिलने आये हैं। शची हँसकर बोली—"रत्ना! आने दो नहुष को।"

"उसके राज्य में आये हैं, इसलिए झख मारकर उसे आने देना पड़ेगा!" रत्ना बोली।

"तुमको ऐसा लगता हो तो जाकर ना कह दो। कहना कि इस समय शची किसी से मिलेगी नहीं।"

"नहीं री! तुम जाग रही हो और वह आया है तो भले ही आकर तुमसे मिल ले!"

"और मैं भी एक ऐसी बात उसस कह दूँ, कि वह फिर मेरे पास आये ही नहीं।"

"ऐसी कौन-सी बात है? तुम क्या कहोगी उसे?" रत्ना ने जरा चकित होकर पूछा।

"मैं कह दूँगी कि यह मिलन अन्तिम है।"

"अन्तिम क्यों? वह तो मित्र है।"

"वह मेरा मित्र नहीं, प्रेमी है।"

"स्त्री-जाति की यह कैसी विडम्बना है ! नारी एक और प्रेमी कितने !"

"और यदि पुरुष-जाति भी ऐसी ही फरियाद करने लगे ।"

"कैसी फरियाद ?"

"यही कि स्त्रियाँ पुरुषों के आस-पास घूमा करती हैं ।"

"वाह ! स्त्रियाँ इतनी सस्ती कहाँ हैं ?"

"वृत्र से पूछूँ ? फरियाद उसी की है, रक्षा !"

"उस जड़ असुर को फरियाद ही किस बात की होगी ?"

"इस बात की कि रक्षा उसके आस-पास घेरा डालती है ।"

"जाओ-जाओ, आयी बड़ी बातें बनानेवाली ! अपनी आँखों से सब को देखती हो । पहले बेनीपाल, फिर नहुष और अब इन्द्र आये ! तुम भी माया-जाल फेंकने में कम नहीं हो ।" रक्षा ने शची के गाल पर एक हलकी-सी चपत लगाते हुए कहा ।

"अरे ! उस नहुष को कब तक बैठाये रखना है ?" शची ने पूछा ।

"तुम कहो तब तक बैठा रहेगा ।"

"जाओ, बुला लाओ । मुझे उसे जल्दी ही विदा करना है ।"

रक्षा नहुष को बुलाने गयी, और शची मुख पर स्वस्थता का भाव धारण करके बैठी । थोड़ी ही देर में नहुष भीतर आया । उसके मुख पर थकावट के चिन्ह थे । शची ने बैठे-बैठे नहुष को नमस्कार किया, और उसे अपने सामने बैठाया ।

"कहिए, नहुषराज ! इस समय कैसे आना हुआ ?"

"आपके साथ जो हुआ, वह सब मैंने सुना । आपकी इच्छा हो तो अपराधी निषादों को मैं दंड दूँ ।"

"कोई आवश्यकता नहीं । मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ ।"

"यदि कहें, तो कल होनेवाले यज्ञ को रोक दूँ और निषादों को आर्यत्व प्रदान न किया जाये ।"

"नहीं-नहीं, राजन् ! इतना बड़ा यज्ञ एक छोटी-सी बात के लिए बन्द करना उचित नहीं ।"

"आप-जैसे मेहमान को अपने यहाँ निमन्त्रित कर मैं उनकी रक्षा न कर सकूँ...."

"मेरी इतनी चिन्ता क्यों ? सच कहती हूँ, नहुषराज। मेरी कोई अधिक चिन्ता करता है, तो मुझे ऐसा लगता है मानो मेरा अपमान हो रहा है। मैं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हूँ, ऐसा खयाल भी किसी के मन में आये, यह मुझे पसन्द नहीं।"

"इन्द्रदेव समय पर न आये होते, तो क्या होता ? अच्छा हुआ कि मेरे इस पूज्य मित्र को निषादों के षड्यन्त्र का पता समय रहते लग गया।"

"नहुष ! इन्द्र न आये होते, तब भी मुझे कुछ न होता। वृत्र ने मेरी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया था। ऐसा न भी किया होता, तब भी मैं अपनी रक्षा किसी भी आपत्ति में स्वयं करने में समर्थ हूँ।" शची ने उत्तर दिया।

"मुझे आपकी सामर्थ्य में पूर्ण श्रद्धा है, फिर भी मैंने यह उचित समझा कि आपका कुशल-समाचार पूछता आऊँ। और मेरी व्यवस्था में यदि कोई न्यूनता रही हो...."

"आपकी व्यवस्था में कोई कमी नहीं। भूल मेरी ही थी नहुषराज ! मैं अकेली घूमने निकलूँ, तो आकस्मिक घटनाएँ घटेंगी ही।"

"क्या मैं कह सकता हूँ कि आप अकेली न घूमा करें ?"

"क्या करूँ ? स्वभाव हो गया है। और जब अकेली जाने की इच्छा नहीं होती, तब अपनी सखियों को साथ रखती हूँ। पुरुषों का साथ मुझे पसन्द नहीं।" हँसकर शची ने कहा।

"लेकिन आपकी अवस्था का विचार करते हुए तो यह भावना होती है कि किसी-न-किसी पुरुष का सान्निध्य आपको प्रिय लगना चाहिए।" नहुष ने भी हँसते-हँसते कहा।

"मगर एक भी ऐसा पुरुष मुझे मिलता नहीं।"

"असुरों में कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है ?" सस्मित नहुष ने पूछा।

"नहीं। वृत्र कुछ प्रिय अवश्य लगता है, परन्तु वह किसी राज्य का अधिपति नहीं, पुलोमा का एक सेवक है। और सेवक पर आँख कैसे ठहरे ?"

"आर्यों में खोजें तो आपको मनोवांछित पुरुष अवश्य मिल जायेगा। हम लोगों का मिलना तो शुरू हुआ ही है, इसमें से आर्य-असुर प्रेम क्यों न बढ़े?"

"सामान्यतः आपकी मान्यता ठीक है, परन्तु मैं तो अपनी बात कहती थी।"

"वह क्या? मेरी समझ में न आया।"

"जिस पराधीन आर्य-जाति का जीवन देव-भाग देने पर निर्भर है, उसकी ओर मैं दया की दृष्टि से देखती हूँ, प्रेम की नहीं।"

"इसका तात्पर्य यह कि देव आपको प्रिय हैं।"

"जरा भी नहीं। वे तो हमारे परम्परागत दुश्मन हैं!"

"इन्द्र-जैसे देवराज भी नहीं?"

"देखा मैंने आपके देवाधिदेव को भी। कुछ ही देर पहले उनसे कह आयी हूँ कि मैं प्रेम की खोज में निकली हुई नारी नहीं...."

"शचीकुमारी! इस प्रकार तो आप अपने प्रेम-जीवन को ही निरर्थक बना देंगी।"

"क्या हर्ज है? मैं अपने जीवन को प्रेम के नाम पर भ्रष्ट करना नहीं चाहती।"

"आपके जीवन का उद्देश्य क्या है?"

"असुरों की दिग्विजय। आर्य और देव मेरे चरण स्पर्श करें, आपका मुनि-वृन्द मेरे स्तवन की रचना करे, और आज तक जिस स्वर्ग को किसी ने नहीं जीता है, उसे मैं जीतूँ, और उसके सिंहासन पर बैठूँ।"

"शचीकुमारी! बहुत भयङ्कर लक्ष्य है यह। मेरी और इन्द्रदेव की इच्छा कुछ दूसरी ही है। हम चाहते हैं कि देव, आर्य और असुर एक दूसरे के निकट आयें।"

"हम सब निकट आ सकें अथवा न आ सकें, मेरा उद्देश्य भयङ्कर हो या न हो, जब तक वह प्राप्त नहीं हो जाता आप और इन्द्र दोनों इस बात को जान लें कि मेरे जीवन में प्रेम के लिए स्थान नहीं है। सारी पुरुष-जाति मेरे इस उद्देश्य को जान ले!"

"आपको विश्वास है कि वह लक्ष्य प्राप्त होगा?"

"क्यों न होगा ?"

"आर्यों के साथ युद्ध छिड़ेगा, देवों के साथ भी भयङ्कर युद्ध होगा, व्यापक विनाश होगा, फिर भी विजय की कोई आशा नहीं...."

"मुझे तो विजय में कोई संशय नहीं दीख पड़ता।"

"आप स्त्री होकर भी ऐसी क्रूरता ..."

"आप भूल कर रहे हैं। स्त्री क्रूर न हो, ऐसी मान्यता क्यों ? जो सृजन कर सकती है, वह हनन भी कर सकती है।"

"परन्तु आखिर यह सब किस लिए ?"

"देवों का देवत्व और आर्यों का आर्यत्व नष्ट हो, इसलिए।"

"और आपको विश्वास है कि असुरों का असुरत्व जीवित रहेगा ?"

"उसका भी विनाश करना पड़ेगा, यदि उसमें देव-जैसा घमण्ड हुआ और आर्यों-जैसा स्पर्शास्पर्श भेद ! मैं तो विश्व को एक, अखण्ड और अविभक्त देखना चाहती हूँ।" शची ने कहा।

"यदि मेरी भी यही इच्छा हो ?"

"कल आपके यज्ञ में उसकी परीक्षा हो जायेगी।"

"यदि सफल हुआ ?"

"तो मैं तत्काल कृतकार्य हो जाऊँगी और प्रेम के लिए मुझे जीवन-भर का अवकाश मिल जायेगा।....मेरे विषय में इतनी चिन्ता रखने के लिए आपकी आभारी हूँ। आपको अभी बहुत काम देखना होगा। मेरी चिन्ता न करें—न इस समय, न आगे कभी। यही मेरी प्रार्थना है।" इतना कहकर शची ने उठने का अभिनय किया।

इसके बाद नहुष का वहाँ अधिक ठहरना शिष्टाचार और सभ्यता दोनों ही दृष्टि से अनुचित होता। वह उठ खड़ा हुआ, और पालकी में बैठकर विचित्र भावों का अनुभव करता हुआ अपने महल की ओर चला। उसकी समझ में न आया कि इस विचित्र नारी को मनाने का प्रयत्न करे, अथवा छोड़ दे ! नहुष शची को हृदय से चाहता था, परन्तु शची का व्यवहार उसके प्रति दर्प-पूर्ण था। नहुष के साथ अश्व-कला की स्पर्धा में भाग लेनेवाली शची

की मूर्ति नहुष के हृदय में स्थान बना चुकी थी, परन्तु साथ ही-साथ नहुष को उसने अपमानित भी किया था। हरियुपीय नगर में नहुष ने शची से मिलने की इच्छा प्रदर्शित की थी, जिसे शची ने ठुकरा दिया था! स्त्रियाँ दो ही उपायों से जीती जा सकती हैं—एक तो देह अथवा मन के आकर्षण से, और दूसरे उनके ऊपर विजय प्राप्त करके! आकर्षण के सब प्रयोग नहुष ने किये, और वे व्यर्थ हुए। अब विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था! परन्तु असुरों के साथ जब तक युद्ध न हो, विजय कैसे मिले? और यज्ञ की उसकी योजना तो उसे समाधान की ओर खींचे लिये जा रही थी।

परन्तु यज्ञ में से ज्वालामुखी के फूटने की सम्भावना भी थी। शुक्राचार्य जैसे समर्थ तपस्वी ने यज्ञ को पूरा करने का भार अवश्य लिया था, किन्तु यदि अन्य मुनियों के विरोध ने उग्रता धारण की और यज्ञ में बाधा उपस्थित हुई तो क्या शची को पकड़कर बन्दी बनाना सम्भव होगा? लेकिन नहुष को यह विचार भी आया कि यद्यपि यज्ञ-समारम्भ में आये हुए असुरों की संख्या कम थी, परन्तु युद्ध-कार्य में शची और वृत्र दोनों की गणना महारथियों में होती थी, और उन्हें पकड़ना सहज न था। और इसके बाद यदि सारा असुर-जगत् नहुष पर टूट पड़े तो क्या होगा? आर्य और असुरों के बीच पुनः भयंकर युद्ध नहीं छिड़ जायेगा!

युद्ध भले ही छिड़ जाये! नहुष कायर न था। देवों को उनका भाग मिलता रहे, तो वे नहुष को बराबर सहायता देने के लिए वचनबद्ध थे! इस बीच कदाचित् शची मान जाये तो झगड़ा ही खत्म हो! सारी रात नहुष ऐसे ही विचारों में गोते लगाता रहा। वह पड़ा-पड़ा योजनाएँ बनाता और उनकी संभावनाओं-असंभावनाओं पर सिर खपाता रहा। रात में उसे गहरी नींद भी नहीं आ पायी। उखड़ी-उखड़ी नींद से जब वह पूरी तरह जाग्रत हुआ, तो सवेरा हो चुका था। सवेरे उसे विधिपूर्वक स्नान करना था। स्नान के बाद मंत्रों के जप और देवों के आवाहन की क्रियाएँ करनी थीं। प्रतिहार उसके जागने की प्रतीक्षा कर रहे थे। यदि थोड़ी देर वह और न जागता तो वे उसको जगाने के बारे में परामर्श करते।

परन्तु वह तो जागता ही रहा था ! और जाग ही नहीं रहा था, विचार कर रहा था। और उसके विचारों का मध्य-बिन्दु थी शची !

यज्ञ में यदि असुरों का अपमान हुआ, तो युद्ध सम्भव होगा। और युद्ध के सम्भव होने पर शची के अपहरण का अवसर भी निश्चित रूप से मिलेगा।

परन्तु क्या शुक्र ब्राह्मणों को असुरों का अपमान करने की सीमा तक जाने देगा ? और फिर इन्द्र की उपस्थिति न जाने कौन से गुल खिलाये ! नहुष ने अपनी सेना को तो तैयार रखा ही था; यदि आवश्यकता हुई तो वह इन्द्र का विरोध करने के लिए भी उद्यत था। परन्तु इन्द्र के विरोध का परिणाम क्या होगा ? देवों से लड़ना पड़ा तो असुरों के साथ मैत्री करनी होगी। इस विचार ने नहुष को पशोपेश में डाल दिया। देवों से युद्ध करना कोई सरल काम न था। इन्द्र की आज्ञा मिलते ही देवों के रुद्र-गण अथवा मरुत-गण उसके राज्य पर टूट पड़ेंगे ! उनके आक्रमण की भयंकरता का अनुभव आर्यों को हो चुका था। ये रुद्र या मरुत एक बार जब क्रुद्ध हो जाते, तो लाख अनुनय-विनय करने पर भी शान्त न होते थे ! तब किया क्या जाये ?

इतने में बन्दीजनों का मधुर गान आरम्भ हुआ, और नहुष अँगड़ाई लेकर खड़ा हुआ। आज महायज्ञ का दिन था। शीघ्र ही प्रातःकार्यों से निवृत्त होकर वह यज्ञ के लिए तैयार हो गया।

[१२]

यज्ञ की वेदी के पास कुछ ब्राह्मण समिधा घिसकर मंत्रोच्चार करते हुए अग्नि प्रज्वलित कर रहे थे। मुनिगण विविध देवताओं का आवाहन करते थे। जटाजूट से शोभित उनके अर्ध परिच्छिन्न देह भव्य मालूम पड़ते थे। वीणा पर साम-गान करनेवाले सामगा भी वहाँ उपस्थित थे। पुरजन और अन्य आमंत्रित मेहमान भी अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। आर्यत्व के अभिलाषी निषाद भी पवित्रता का प्रमाण-पत्र लेने के लिए पहले ही से आकर बैठ गये थे। यज्ञ-स्थल

में काफी शोर हो रहा था। इतने में मुख्य आचार्य शुक्राचार्य राजा नहुष के साथ धीमी गति से यज्ञ-मंडप में पधारे। उनके आते ही मडप में शान्ति स्थापित हो गयी। समिधा से उत्पन्न अग्नि-द्वारा यज्ञ-वेदी में अग्नि का आवाहन कर अग्नि-देव की स्थापना की गयी। साथ ही वीणा के तार बज उठे, और अपने परिष्कृत स्वर से सामगाओं ने साम-गान शुरू किया। सारा वातावरण वेद-ध्वनि से संगीत-मय हो गया और निषादों को आर्यत्व प्रदान करने की विधि प्रारम्भ हुई।

यकायक ब्राह्मण-मण्डली में से एक युवक ने खड़े होकर अपना विरोध प्रकट किया—"हम इस यज्ञ को स्वीकार नहीं कर सकते।"

"क्यों?" जरा भी क्षुब्ध हुए बिना मुख्य आचार्य शुक्र ने पूछा।

"कल की चर्चा याद होगी। असुरों की उपस्थिति में आर्यों का यज्ञ-कार्य नहीं हो सकता।" युवक ने उत्तर दिया।

"मैं ब्राह्मण हूँ। तपश्चर्या द्वारा मैंने गुरुपद प्राप्त किया है। कल की चर्चा में मेरा मत भ्रामक सिद्ध हुआ हो, मैं ऐसा नहीं मानता। अतः यज्ञ होकर रहेगा। निषादों को आर्यत्व प्रदान किया ही जायेगा और उसका पुण्य भी राजा नहुष को मिलेगा।" शुक्र ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया।

"असुरों की उपस्थिति न हो, तभी यह यज्ञ सार्थक माना जा सकता है।"

"असुरों की उपस्थिति-मात्र से यज्ञ भ्रष्ट नहीं हो सकता। यज्ञ के सब कार्य तो ब्राह्मण करायेंगे, असुर नहीं।"

"शुक्र! अभिमान छोड़ दो। और सुन लो कि इस प्रकार बनाये हुए आर्यों को हमारे ब्रह्मक्षेत्र में स्थान नहीं मिलेगा!"

"तो दूसरे ब्रह्मक्षेत्रों और ब्रह्मावर्तों की स्थापना होगी। जिसे इस यज्ञ में सम्मिलित न होना हो, वह खुशी से चला जाये, और मुझे शान्ति से यज्ञ पूरा करने दे!"

असुर भी यज्ञ में निमन्त्रित थे। अतः वे पहले से ही आकर अपने निश्चित स्थान पर बैठ गये थे। शची-सम्पूर्ण यज्ञ-कार्य को देखना चाहती थी, इसलिए वह बहुत पहले से यज्ञ-मंडप में आ गयी थी। यज्ञ की छोटी-से-छोटी क्रिया और

संगीत-मंत्र के प्रत्येक अवयव को समझने की वह कोशिश कर रही थी। सामान्य और मुख्य दोनों ही प्रकार की क्रियाओं में उसकी समान रूप से दिलचस्पी थी। आर्यों के सार्वजनिक यज्ञों के विषय में उसने बहुत कुछ सुन रखा था। आज उन महत्वपूर्ण कार्यों को अपनी आँखों से देखने का उसे अवसर मिला था। शुक्र तथा अन्य ब्राह्मणों के बीच होनेवाली बातचीत को उसने भी सुना। इस समय सब का ध्यान उसी बातचीत की ओर था।

"हम ऐसा अपवित्र यज्ञ नहीं होने देंगे।" ब्राह्मणों के प्रतिनिधि ने कहा।

"मैं उसे पूरा करके रहूँगा। देखें, कौन रोकता है!" शुक्र ने अपना निश्चय प्रदर्शित किया।

"आर्य विरोध करना भली-भाँति जानते हैं। तपस्वियों को भी शस्त्र चलाना आता है।"

"सशस्त्र विरोध का भय मुझे दिखा रहे हो! जैसे मैं शस्त्र चलाना जानता ही नहीं! मैं पुनः प्रार्थना करता हूँ, अन्तिम बार, कि मुझे यज्ञ निर्विघ्न पूरा करने दिया जाये।"

"यदि ऐसा न हुआ?"

"तो आर्यों में यह मेरा अन्तिम यज्ञ होगा। इसके बाद मेरे यज्ञ-कार्य आर्य-जाति के बाहर हुआ करेंगे।"

"इसका अर्थ?"

"इसका अर्थ यह कि मैं आर्यों का आचार्य-पद त्याग दूँगा, और असुरों को छोड़कर अन्य किसी भी जाति का आचार्य-पद स्वीकार नहीं करूँगा!" शुक्र ने दृढ़ता से अर्थ समझाया।

यकायक यज्ञ-मंडप में शान्ति व्याप्त हो गयी। शुक्राचार्य की उग्रता से सब लोग परिचित थे। परन्तु आर्यों का एक महान आचार्य आर्य सीमा का उल्लंघन कर असुरों के प्रदेश में जाने का यों सार्वजनिक रीति से निश्चय प्रकट करे, इस बात की आशा किसी ने नहीं की थी। विद्वान् और तपस्वी-वृन्द क्षण-भर एक-दूसरे को देखते रहे। अन्त में एक वृद्ध ब्राह्मण ने गम्भीर स्वर से कहा—"राजा नहुष को हम ब्राह्मणों की आज्ञा है कि वे शुक्र को इस यज्ञ के

आचार्य-पद से हटा दें।"

"ब्रह्मर्षि ! यह अब कैसे हो सकता है? मैं संकल्प कर चुका हूँ।" नहुष ने उत्तर दिया।

"जब संकल्प किया, तब परिस्थिति भिन्न थी। यज्ञ प्रारम्भ होनेपर असुरों की उपस्थिति के कारण यज्ञ-क्रियाओं के भ्रष्ट होने का संकट हो तब संकल्प का विचार करना उचित नहीं, उसे त्याग देना ही श्रेयस्कर होगा।"

"नहुष ! इन जड़मति आर्यों को अधिक महत्व प्रदान किया तो तुम्हारा राज्य तुम्हारे हाथों से ही चला जायेगा।" शुक्र ने धमकी दी।

"पूर्व किया हुआ संकल्प मैं छोड़ूँगा नहीं।" नहुष ने अपना मत प्रदर्शित कर दिया।

"तो आर्य-कुल में उत्पात मचेगा।" यह कहते हुए अधिकांश ब्राह्मण उठकर खड़े हो गये। उनके मुख पर विग्रह के भाव दीख पड़ने लगे। ब्राह्मणों के साथ कितने ही राजा भी उठ गये। अभी तक किसी ने शस्त्र नहीं उठाये थे, परन्तु इस बात की पूरी आशंका थी कि विरोधियों के दो-चार कदम आगे बढ़ते ही शस्त्र भी म्यान से बाहर निकल आते। वेदोच्चार बन्द हो गया; सामगा के संगीत के साथ-साथ बजनेवाली वीणा की झंकार रुक गयी। थोड़े से निषादों के आर्य बनाये जाने के कार्य से सहस्रों आर्यों के संहार का भय खड़ा हो गया। शस्त्रधारी राजा जानते थे कि यदि ब्राह्मणों ने शस्त्र धारण किये तो आर्य बस्तियों में घमासान मच जायेगा ! ब्राह्मण जब शस्त्र उठाते हैं, तब उनकी उग्रता रुद्र का स्वरूप धारण कर चारों ओर प्रलय मचा देती है। शुक्र और उसके ब्राह्मण शिष्य शान्त थे; विरोधी ब्राह्मणों-जैसी उग्रता उन्होंने धारण न की थी। परन्तु सब को इस बात का विश्वास था कि इच्छा होते ही शुक्र भी शस्त्र धारण कर सकता है, और शस्त्रधारी शुक्र का सामना करना समस्त आर्यावर्त के लिए कठिन था ! घड़ी-भर के लिए यज्ञ-मंडप में शान्ति छा गयी।

इस शान्त वातावरण में दूर से आनेवाले किसी दिव्य संगीत के स्वर सुनायी दिये। यह नये प्रकार का संगीत था, और इसे समझनेवाले बहुत थोड़े

थे। परन्तु जो लोग इसे समझते थे, वे जान गये कि यह किसी देव के आगमन का सूचक स्वर्गीय संगीत है। सप्तर्षि मंडल के अधिकारी ब्राह्मण, अथवा ग्रह-मण्डल में स्थान पानेवाले अंगारक, बृहस्पति अथवा शुक्र अभिधानवाले ब्राह्मणों को यह संगीत परिचित लगा, क्योंकि स्वर्गारोहण उनके जीवन का महत्वपूर्ण भाग था और वहाँ इस प्रकार का संगीत वे बराबर सुनते रहते थे। आर्य और देवों के बीच का पारस्परिक व्यवहार मुख्यतः सप्तर्षियों अथवा ग्रह-मंडल के ब्राह्मणों द्वारा ही होता था।

"कोई देव पधार रहे हैं!" शान्ति को भंगकर एक जानकार ब्राह्मण ने कहा।

"कदाचित् देवाधिदेव इन्द्र हों।" दूसरे जानकार ने कहा।

"किस आधार पर कहते हो?"

"संगीत के आधार पर

भिन्न-भिन्न देवों के आगमन को सूचित करनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के संगीत थे। यज्ञ-भाग लेने के लिए प्रत्यक्ष रूप से सब देवता नहीं आ सकते थे। कभी कोई प्रतिनिधि-देव आ जाते, अथवा स्वर्गारोहण के अधिकारी ऋषियों का एक प्रतिनिधि-मंडल देव-भाग लेकर स्वर्ग में जाता। यही प्रथा थी। देवताओं को यज्ञ में आने के लिए जो ऋतु, मास, पक्ष और तिथि अनुकूल होते, वही निश्चित किये जाते। यदि कोई प्रमुख देव स्वयं आनेवाले होते तो उस यज्ञ का महत्व बहुत बढ़ जाता था। देव आर्यों के पूज्य आदर्श थे। जिन मार्गों का देव अवलंबन करते, वे मार्ग आर्यों के लिए धन्य और अनुकरणीय होते थे। देवताओं जैसा देवत्व प्राप्त करने के लिए आर्य सतत प्रयत्न किया करते, और इन्हीं प्रयत्नों में से आर्यों की तपश्चर्या, ज्ञान तथा कला का विकास होता था। स्वर्ग का निवास प्रत्येक आर्य की महत्वाकांक्षा थी; जो कभी-कभी सफल भी हो जाती थी। यदि सफल न होती, तो पृथ्वी पर आर्यों की भूमि में ही उसी प्रकार के जीवन को—स्वर्ग-जीवन को—जीने का प्रयत्न आर्य-जाति द्वारा होता था। कोई देव पधार रहे हैं, यह समाचार फैलते ही सारा सभा-मंडप आनन्द और आश्चर्य से भर गया।

संगीत धीरे-धीरे समीप आने लगा। संगीत के साथ-साथ नृत्य की ध्वनि भी थी। और यही था इन्द्रदेव के अगमन का विशेष संकेत। देवों के राजा के सम्मुख अन्य देवों के सदृश्य गीत तो गाये ही जाते थे, परन्तु देवाधिदेव इन्द्र के सामने सतत नृत्य भी होता रहता था। अन्य देवताओं के सामने नृत्य का होना आवश्यक न था। गान्धर्व और विद्याधरों के समूह गाते हुए आगे-आगे चल रहे थे। उनके पीछे अनुपम रूपवती अप्सराएँ इन्द्रदेव की पालकी के आगे नृत्य कर रही थीं। कुछ शस्त्रधारी देव-सैनिक और सशस्त्र देवांगनाएँ भी पालकी के आगे-आगे अनुशासित ढंग से चल रहे थे। जिनके दर्शन के लिए जीवन-भर कठिन तपश्चर्या करनी पड़ती और अति विषम मार्ग पार करके स्वर्ग में जाना पड़ता, वही देवाधिदेव इन्द्र दर्शन देने के लिए स्वयं पृथ्वी पर उतरकर यज्ञशाला की ओर आ रहे थे! इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता था?

यज्ञ-कार्य रुका हुआ था। इन्द्रदेव के आगमन से वह पूर्णरूपेण रुक गया। जिनकी कृपा प्राप्त करने के लिए अनेक यज्ञ करने पड़ते, वह देव साक्षात् यज्ञ में पधार रहे थे! यज्ञ सम्पूर्ण रीति से सफल हुआ ऐसी भावना सारी यज्ञशाला में फैल गयी। नहुष जल्दी से खड़ा हो गया, और यज्ञशाला के बाहर जाकर, उसने मंडप के द्वार पर इन्द्रदेव का सत्कार किया। पालकी में से इन्द्र के उतरते ही लोगों ने जयघोष करके उनकी अभ्यर्थना की। पच्चीस-सत्ताइस वर्ष की उम्र इन्द्र के यौवन को देदीप्यमान बना रही थी। उनके गौर-वर्ण शरीर से सुनहरी प्रभा प्रस्फुटित हो रही थी। सुन्दर आभूषण धारण करनेवाली यह दिव्य मूर्ति ज्योंही यज्ञशाला में आयी हजारों की संख्या में वहाँ उपस्थित जनता ने खड़े होकर अभिवादन किया। आचार्य शुक्र ने भी खड़े होकर इन्द्र को प्रणाम किया। प्रसन्नवदन इन्द्र ने भी सबको नमस्कार किया। तपस्वी ऋषियों ने समवेत स्वर में इन्द्र की स्तुति गाना प्रारम्भ की। इन्द्र के सम्मानार्थ सभी एकत्रित समूह खड़ा हो गया था—वृत्र के साथ सारा असुर-संघ भी! खड़ी न हुई थी एकमात्र शची—असुर-सम्राट् की पुत्री! इस बात ने इन्द्र तथा सभी सभासदों का ध्यान आकर्षित किया।

यज्ञशाला में सबसे ऊँचे स्थान की ओर नहुष इन्द्र को ले जा रहा था। देव-संगीत के साथ नर्तकियों का नृत्य भी हो रहा था। वृत्र सब के साथ खड़ा हुआ और पुनः बैठ गया। उसके मुख से यकायक तिरस्कार भरो हुँकार-ध्वनि निकली।

"क्या हुआ वृत्र ?" शची ने धीमे स्वर से पूछा।

"कुछ नहीं ! आर्यों के इष्टदेव को मैं देख रहा था !" वृत्र ने उत्तर दिया।

"उसके व्यक्तित्व का तुम्हारे मन पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं हुआ ?"

"नृत्य-गीत से घिरा हुआ व्यक्ति मुझे प्रसन्द नहीं ! अप्सराओं का यह नृत्य भी कितना भद्दा है।"

"नृत्य तुम्हें पसन्द नहीं, तो क्या औरों को भी पसन्द न हो !"

"नहीं, मैं यह नहीं कहता। परन्तु हिलते-डोलते सभी समय ये अर्ध-नग्न अप्सराएँ कितनी वीभत्स मालूम पड़ती हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि युद्ध में भी इन्द्र के रथ के सामने अप्सराओं का नृत्य होता होगा !"

"क्यों न युद्ध छेड़कर हम लोग इस बात को देख लें ?" शची ने कहा। सुनकर वृत्र को आश्चर्य हुआ।

"क्या ? इन्द्र का युद्ध देखना चाहती हो ?"

"क्यों, हानि ही क्या है ?"

"तुम्हारे पिताजी ने तो देवों से सन्धि कर ली है।"

"आज से यह सन्धि टूटती है और विग्रह आरम्भ होता है।"

"किस प्रकार ?"

"मैं, सम्राट् पुलोमा की पुत्री, इन्द्र के आसन के नीचे कदापि न बैठूँगी।"

"तो क्या किया जाये ?"

"इन्द्र जब आसन ग्रहण करें तब तुम इस विरोध को प्रदर्शित करो और हम लोग अपने स्थान का त्याग करके यहाँ से निकल जायें। देखो, देखो ! इन्द्र अपने आसन पर बैठ रहे हैं। पहले से ही अपना विरोध प्रदर्शित कर दो।" शची ने कहा।

सभा के जय-जयकार के बीच इन्द्र ने आसन ग्रहण किया। मंडप का वह

सर्वोच्च आसन था। लोगों को इस बात का विचार तो था ही कि यज्ञ में कोई-न-कोई बड़े देव अवश्य पधारेंगे। इन्द्रदेव आनेवाले हैं, आ गये हैं, इस बात की चर्चा भी थी। परन्तु निश्चित रूप से किसी को कुछ मालूम न था। अन्त में इन्द्र स्वयं पधारे, और उन्होंने समस्त आर्य-समूह को अपने दर्शन से उपकृत किया—जिस दर्शन के लिए आर्य-जीवन-भर तरसते रहते थे! आँख-भर के आर्यों ने देवाधिदेव को देखा। इन्द्र का व्यक्तित्व सचमुच दर्शनीय था। यौवन, रूप, तप और दक्षता का मानो अवतार! तभी इन्द्र के दर्शन में तल्लीन लोगों को वृत्र की आश्चर्य में डालनेवाली वाणी सुनायी दी—"राजन्! निमन्त्रण के लिए आभार! परन्तु देवराज के आसन के नीचे असुर-राज का आसन नहीं होना चाहिए।"

"यहाँ असुर-राज कहाँ हैं?" नहुष ने पूछा।

"असुर-राज की पुत्री का स्थान असुर-राज जितना ही ऊँचा है। राजकुमारी शची पुलुमा का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे इन्द्रासन के नीचे नहीं बैठेंगी।" वृत्र ने उत्तर दिया।

यज्ञ-सभा में असुरों की उपस्थिति का विवाद छिड़ा ही हुआ था, कि इतने में असुर राजकन्या को देवों की बराबरी का स्थान देने का प्रश्न खड़ा हो गया! आर्य असुरों को कभी देवता की बराबरी का स्थान दे सकते थे? वृत्र की धृष्टता सभी को बुरी लगी।

इन्द्र बैठे-बैठे सस्मित वृत्र की बात सुन रहे थे। वृत्र का कथन पूरा होने पर इन्द्र ने अपनी देववाणी में कहा—"आर्य हम मेरुवासी देवताओं को अपना पूज्य मानते हैं। हम उनके सहायक बनकर उनकी रक्षा करते हैं, उनकी समृद्धि बढ़ाते हैं, और उनका जीवन रसमय बनाते हैं। असुरों की ओर से कुमारी शची ऐसा ही आश्वासन आर्यों को प्रदान करें तो उनका स्थान भी इन्द्रासन जितना ही ऊँचा हो सकता है।

"तब आप कहाँ बैठेंगे?" वृत्र ने जरा कटाक्ष में प्रश्न किया।

"साथ बैठेंगे। आवश्यकता हुई तो इन्द्रसान का त्याग कर उस पर शची को आसीन करायेंगे और हम तपस्या के लिए वन में चले जायेंगे।" इन्द्र ने

उत्तर दिया।

इन्द्र की वाणी में सामवेद के संगीत-सा माधुर्य था। शची का मुख कुछ लाल हो गया। वृत्र ने शची के इस भाव-परिवर्तन को देखकर भी न देखा और कहा—"देवराज! मैं भविष्य के लिए कोई माँग नहीं कर रहा हूँ। समकक्ष आसन की मेरी माँग इसी अवसर और इसी क्षण के लिए है। इन्द्र से नीचा पद असुरों को कदापि मान्य न होगा।"

"और वृत्र! साथ-साथ यह भी कह दो कि यज्ञ में देव-भाग के साथ असुर-भाग निकालकर देने का प्रारम्भ भी इसी यज्ञ से होना चाहिए, नहीं तो हमारे आने का उपयोग ही क्या?" सब लोग सुन लें इस हेतु उच्च स्वर में शची ने वृत्र को आदेश दिया। यह कथन इतने ऊँचे स्वर से कहा गया था कि वृत्र को उसे दोहराने की आवश्यकता न पड़ी।

"यह क्या? अभी स्थान का प्रश्न निश्चित ही नहीं हुआ और यज्ञ-भाग की बात उठा दी।" एक मुनि चिल्ला उठे।

"यदि असुरों को यज्ञ-भाग दिया गया, तो हम इस यज्ञ में सहयोग नहीं करेंगे।" दूसरे मुनि ने स्पष्टीकरण किया।

"असुरों को निमन्त्रण देनेवाले नहुष को शिक्षा देनी चाहिए।" तीसरे मुनि ने अपना मत व्यक्त किया।

"और इस यज्ञ को करानेवाले शुक्र का बहिष्कार किया जाये।" एक साथ आवाज उठी।

"मेरा आप बहिष्कार करें, उसके पहले ही मैं आप सबके बहिष्कार की घोषणा करता हूँ। आज से मैं असुरों को छोड़ अन्य किसी के यज्ञ-कार्य में भाग न लूँगा।....आर्यों के बीच यह मेरा अन्तिम यज्ञ है।" शुक्राचार्य ने उत्तर दिया।

"इस बात की भी घोषणा कर दो, वृत्र, कि इसी क्षण से असुर-प्रजा ने शुक्राचार्य को अपना गुरु स्वीकार किया।" शची ने कहा, और वृत्र ने इसी प्रकार की घोषणा कर दी।

दूर खड़े हुए शुक्राचार्य ने क्षण-भर शची को ध्यान से देखा। अपने आस-

पास जड़ दीवारें खड़ी करनेवाले आर्यों से असुर वृत्र और शची का मानस उन्हें अधिक विकसित दिखायी दिया।

"तपस्वी-मण्डली को मेरी आज्ञा है—विनती है कि इस शास्त्रोक्त यज्ञ को रोकें नहीं, आगे चलने दें। असुर-मित्रों से भी मेरी प्रार्थना है कि व्यक्तिगत प्रश्नों को खड़ा करके अनार्यों के आर्यत्व-प्रवेश को रोकें नहीं। मैं इस बात का आश्वासन देता हूँ कि असुरों के स्थान और यज्ञ-भाग के विषय में उचित निराकरण किये बिना मैं यहाँ से हटूँगा नहीं, और अपना यज्ञ-भाग भी न लूँगा।" इन्द्र ने गम्भीर वाणी में कहा।

चामरधारिणियों ने इन्द्र पर चँवर डुलाना शुरू किया। सारा ब्राह्मण-वर्ग शान्त हो गया। तपस्वियों के लिए यह देवाज्ञा अनुलंघनीय थी, यद्यपि उनके हृदय में इस आज्ञा को तोड़ने की वृत्ति प्रबल हो रही थी। असुर-वर्ग का भी इन्द्रदेव के शब्दों ने समाधान कर दिया; और नहुष के साथ अन्य सब लोगों को भी विश्वास होने लगा कि यज्ञ अब सरलता से सम्पूर्ण हो जायेगा। इतने में शची को खड़ी होते देख सब लोगों को आश्चर्य हुआ। सभा में शची के शब्द साफ-साफ सुनायी दिये—"इन्द्रदेव की आज्ञा और विनय मानकर मैं भी अपने असुर-मण्डल से प्रार्थना करती हूँ कि यज्ञ पूरा होने तक वे शान्त बैठे रहें, और यज्ञ को निर्विघ्न सम्पूर्ण होने दें। मैं सम्राट् पुलोमा का प्रतिनिधित्व कर रही हूँ, अतः इन्द्र से नीचा स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। परन्तु स्थान-परिवर्तन तुरन्त असम्भव मालूम होने से मैं स्वयं यज्ञ-स्थान छोड़कर चली जाऊँगी, और इस प्रकार यज्ञ-कार्य निर्विघ्न पूरा किये जाने में सहायता पहुँचाऊँगी।"

इतना कहकर शची ने गौरवपूर्ण रीति से अपने स्थान का परित्याग किया। उसके साथ उसके दो अंगरक्षक और वृत्र भी खड़े हो गये और पीछे-पीछे जाने लगे। यह सब देखकर नहुष विकल हो यज्ञासन से उठ खड़ा हुआ और शची की ओर दौड़ा। शची तब तक यज्ञ-मण्डप के द्वार पर पहुँच चुकी थी। नहुष ने उससे रुक जाने का बहुत आग्रह किया, परन्तु वह रुकी नहीं। जरा भी कटुता दिखाये बिना उसने अपने ग्रहण किये हुए मार्ग का औचित्य नहुष को समझाया। यह आर्यों का यज्ञ था; यज्ञ का पूरा फल बड़ी कठिनता से मिलता

था। यह व्यवहारिक था कि आर्य अपने देव—इष्ट पुरुष—को अन्य किसी से नीचा स्थान न देना चाहें। शची महान् असुर-सम्राट् पुलोमा की प्रतिनिधि होकर आयी थी, अतः इन्द्र से नीचा स्थान स्वीकार करना उसके लिए किसी भी तरह सम्भव न था। इन्द्र ने जब असुरों के स्थान और भाग के विषय में शीघ्र निर्णय करने की उदारता दिखायी तब ऐसी परिस्थित में अतिथि बनकर आये हुए असुर-मण्डल का धर्म था कि वे यज्ञ में किसी प्रकार विघ्न न डालें, और समस्त यज्ञ-कार्य की सरलतापूर्वक पूर्णाहुति में सहायक हों। वह स्वयं पुलोमा के महत्त्व की रक्षा के लिए वहाँ से जा रही थी; यज्ञ की पूर्णाहुति के लिए उसकी शुभेच्छाएँ सदा-सर्वदा रहेंगी!

"राजन्! जो मार्ग मैंने लिया है, वह सब के कल्याण के लिए है। आपका यज्ञ सफल हो! मेरे अतिरिक्त एक भी असुर यहाँ से नहीं हटेगा—मेरे अङ्गरक्षक और वृत्र भी नहीं। मैं अकेली ही जाऊँगी।" इतना कहकर शची ने अपने अङ्गरक्षक को और वृत्र को वहीं रुक जाने का आदेश दिया, और स्वयं गर्व से चलती हुई यज्ञ-मण्डप के बाहर निकल गयी। आर्य सैनिक, श्रेष्ठी और तपस्वी इस अद्भुत दृश्य को देखते ही रह गये। उसका दर्प और गर्व सभा में उपस्थित लोग जीवन-भर भुलाये न भूल सकेंगे। एक क्षण के लिए इन्द्र की भी पलकें झप गयीं। शुक्राचार्य के मुख पर प्रसन्नता दीख पड़ी। शची की उदारता के लिए उसने असुर राजकुमारी को आशीर्वाद दिया। नहुष म्लान वदन लौट आया। यज्ञ-कार्य पुनः आगे चला। मंत्रोच्चार होने लगे। सामगान शुरू हुआ। वादकों की वीणा पुनः झंकृत हुई, और घनवाद्यों ने साथ देना आरम्भ किया। घी, दूध, तिल, जौ, और श्रीफल की आहुतियाँ यज्ञ-कुंड में पड़ने लगीं। प्रत्येक आहुति निषादों को विशुद्ध करती गयी और वे एक-एक पग आर्यत्व की ओर बढ़ते गये। शुक्राचार्य यज्ञ-कर्म में एकाग्रचित हो रहे। प्रत्येक मंत्र के बाद ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः के उद्गार निकलने लगे। उस समय के लिए तो ऋषि-मुनियों का विरोध अदृश्य हो गया। इन्द्र की आज्ञा पाकर और उनकी उपस्थिति के कारण भी आर्यों ने शुक्र और नहुष का उस समय विरोध नहीं किया और सायंकाल होते-होते तो सौ निषादों ने पवित्र

होकर उपवीत धारण किया, तथा गायत्री मन्त्र का उच्चार करते हुए विशुद्ध आर्य बन गये। इन निषादों को आर्यत्व में दीक्षित करने का पुण्य अर्जित करनेवाले राजा नहुष का ब्राह्मणों ने कुंकुम, अक्षत तथा पुष्प से सत्कार किया, और पुण्याहवाचन के भव्य-उद्गार द्वारा आशीर्वाद दिया। इस प्रकार उत्साह और उल्लास के वातावरण में यज्ञ की समाप्ति हुई। नहुष ने प्रत्येक ब्राह्मण को दक्षिणा में गाय, वस्त्र और स्वर्ण दिया; कितने ही ऋषिकुलों को भूमि, गाँव और वन-विभाग दान किये; और आर्य बने हुए सौ निषादों को अपने राज्य के एक सीमान्त-स्थित महावन में आवश्यक वस्तुओं से भरे हुए आश्रम निर्मित कराकर दे दिये। यज्ञ के प्रधान आचार्य शुक्राचार्य को नहुष ने दक्षिणापथ का सुन्दर क्षेत्र दान में देना चाहा, परन्तु शुक्राचार्य ने उसको लेना स्वीकार न किया, ली केवल एक कपर्दिका!

"राजन्! तुम्हारा पुण्य निष्फल न जाये, इसलिए मैं यह कपर्दिका लेता हूँ। अन्य किसी वस्तु की मुझे आवश्यकता नहीं।" शुक्राचार्य ने कहा।

उपस्थित ऋषि-मण्डली स्तब्ध होकर देखने लगी।

"आपको दान की आवश्यकता नहीं, यह मैं जानता हूँ। मैं जो दान दे रहा हूँ, वह स्वेच्छा से देता हूँ। इस दान से आर्यत्व के प्रसार का पुण्य मुझे मिलेगा। आप सदृश्य महर्षियों को आश्रमों और ग्रामों का दान देने से मेरी सीमाओं पर आपके पवित्र निवास-स्थान स्थापित होंगे और चारों ओर होनेवाले वेदोच्चार से हमारी भूमि पावन बनेगी।" नहुष ने नम्रता से आग्रह किया।

"परन्तु मुझे दक्षिणापथ की ओर जाना नहीं है।" शुक्र ने कहा।

"आपके भार्गवों के आश्रम नर्मदा तक पहुँच गये हैं। उसे पारकर आप विन्ध्याटवी को यज्ञधूम्र से पवित्र करें, यही मेरी प्रार्थना है।" नहुष ने निवेदन किया।

"तुम जानते हो और तुमने सुनी भी है मेरी प्रतिज्ञा!"

"क्या? कौन-सी प्रतिज्ञा?"

"क्यों? सुना नहीं तुमने? आर्यों में यह मेरा अन्तिम यज्ञ होगा! इसके बाद मेरा यज्ञ-कार्य आर्य-कुल के बाहर हुआ करेगा।"

"गुरुवर ! उग्रता में कहे हुए शब्द उग्रता घटने पर भूल जाने चाहिए। अब तो सारा प्रसंग समाप्त हुआ। आपकी और इन्द्रदेव की कृपा से यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हुआ। आप पुनः विचार करें।"

"शुक्र जिस बात का निर्णय कर लेता है, उसी को अभिव्यक्त करता है। मैं आर्यत्व को असुरों में ले जाऊँगा। आर्यों के बीच संकुचित होकर वह जड़ बन गया है। उस जड़ता को भंग करने के लिए अब मैं अपना आश्रम असुर-भूमि में स्थापित करूँगा।"

एकत्रित ब्राह्मण-मण्डली और भी स्तब्ध हुई। आज तक आर्यत्व की निन्दा करनेवाला कोई आर्य उन्होंने देखा न था—सुना भी न था। आर्यत्व को असुर-प्रजा में ले जाकर उसका विस्तार करने की कल्पना इन ब्राह्मणों की समझ में न आयी। परन्तु इस कल्पनातीत विचार को मूर्तिमंत बनाने की महत्वाकांक्षा रखनेवाला शुक्र उनके सामने खड़ा था। और किसी भी आर्य-तपस्वी से उसकी तपस्या कम न थी।

नहुष ने बहुतेरी प्रार्थना की। परन्तु दान में अधिक धन या वस्तु लेना शुक्र ने स्वीकार न किया। यह बात सारे नगर में फैल गयी।

दूसरी महत्व की बात यह फैली कि इन्द्रदेव यज्ञ में स्वयं आये अवश्य, परन्तु यज्ञ-भाग के रूप में दी जानेवाली बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुओं को स्वीकार न कर केवल एक श्रीफल ही ग्रहण किया!

आर्यों के इष्टदेव की मनोदशा इतनी निर्बल हो गयी कि वे असुरों का यज्ञ-भाग स्वीकार करने को तैयार हो गये? कुछ तेजस्वी और बलशाली ऋषि-मुनियों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ। देवाधिदेव कहीं अकर्मण्यता की ओर तो नहीं जा रहे हैं?

यज्ञ का तितिम्बा खड़ा करके नहुष जो चाल चल रहा था, उसका अन्दाज भी कुछ राजाओं को लग गया था। निषादों को आर्य बनाकर सत्ता का लोभी यह नृपति अपनी सैन्य-शक्ति तो नहीं बढ़ा रहा था?

अन्य आर्य-नरेश इतना तो समझते ही थे कि नहुष इन्द्रदेव से मैत्री कर चक्रवर्ती बनने के अपने स्वप्न को मूर्त करना चाहता है, और देवों की सहा-

यता से दूसरे राजाओं को प्रभावहीन बनाकर स्वयं सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु इस अवसर पर उसने असुर-मण्डली को आमन्त्रित कर देवों पर भी अपनी धाक जमाने का प्रयत्न न किया हो, यह कौन कह सकता था ?

परन्तु एक अनुभवी राजा ने दूसरी ही बात की ओर इशारा किया—"प्रतिनिधि-मण्डल में शची क्यों आयी है, यह जानते हैं आप ?

"असुर-सम्राट् की पुत्री के नाते !"

"शची को देखकर नहुष की दृष्टि कितनी मधुर और रसपूर्ण हो जाती है, यह देखा है ?"

रात्रि के समय सोमरस का पानकर भोजन करते समय, अथवा भोजन के उपरान्त यज्ञ के विषय में राजा, ब्राह्मण और श्रेष्ठियों के बीच अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क हो रहे थे। सोमरस तैयार करने की विधि विशेषज्ञ ही जानते थे, और यह उत्तेजक रस पीनेवालों की कल्पनाओं को ऊपर—बहुत ऊपर ले जाकर उनमें मोहक रंग भर देता था। सोम-पान कर कोई योगी ब्रह्म से साक्षात्कार करता, कोई विचारक ऊषा और निशा की आकृतियों को मन में मूर्त कर उन्हें वाणी में उतारता। सोमरस पीकर कितने ही श्रेष्ठी समुद्रयात्रा की योजनाओं को सुगम बनाते। सोमरस पीने के बाद इन्द्र की इच्छा हुई कि वह असुरों को अपने अधिकार-क्षेत्र में मिला ले, और इस प्रकार सुर-असुर का भेद ही मिटा दे। सोमरस का पान कर शुक्र को मृतसंजीवनी का आविष्कार कर मृत्यु पर विजय पाने की धुन सवार हुई। नहुष शची के पीछे पागल हो रहा था। सोमपान तथा भोजन समारम्भ में शची भी निमंत्रित थी। लेकिन शची सम्मिलित क्यों नहीं हुई ?

"शची को मैं क्यों न बुला लाऊँ,....स्वयं जाकर।" नहुष को विचार आया।

शची के विषय में जो-जो इच्छा होती, उन सबको पूरा करने का नहुष प्रयत्न करता। अन्य आमंत्रित मेहमानों को उनके लिए आयोजित राग-रंग में तल्लीन देखकर वह अपने स्थान से उठा, और वेश बदलकर असुरों के निवास में पहुँच गया। उस समय मध्य-रात्रि का शीतल पवन बह रहा था। वहाँ

पहुँचकर उसने अपना वास्तविक परिचय दिया और शची से मिलने की इच्छा प्रदर्शित की।

"शचीकुमारी यहाँ नहीं हैं।" असुर प्रतिहार ने उत्तर दिया।

"कहाँ गयी हैं?"

"यहाँ से उन्होंने प्रस्थान कर दिया है—अपने देश की ओर!"

"ऐसा क्यों किया? मेरे यहाँ भोजन किये बिना मैं उन्हें नहीं जाने दे सकता।"

"क्यों गयीं, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु वे गयी हैं अवश्य, और हम लोगों को भी अपने पीछे तुरन्त आने की आज्ञा देती गयी हैं। हम सब भी जाने की तैयारी में लगे हैं।"

"इस प्रकार आप कैसे जा सकते हैं। अभी आप सब को भेंट देना है। मेरी ओर से विदाई का समारम्भ होना बाकी है।"

"यह आपकी कृपा है! परन्तु हमको तो आज्ञा मिल चुकी है, अतः जल्दी-से-जल्दी यहाँ से जाना होगा।"

"शची के साथ कौन गया?"

"उनका सखी-वृन्द!"

"और वृत्र?"

"वे राजकुमारी के पीछे गये—हम लोगों को तत्काल चले आने की आज्ञा देकर।"

"वह अकेला ही गया?"

"जी हाँ।"

"आप सब असुर-मण्डल मेरी विनती मानकर यहीं रुक जायें। मैं शची और वृत्र को वापस बुला भेजता हूँ।"

"हमें तो महाराज, आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा। शचीकुमारी वापस आयीं तो हम भी उनके साथ लौट आयेंगे।" प्रतिहार ने उत्तर दिया।

नहुष समझ गया कि जाने की आज्ञा मिलने के बाद सैनिक अथवा सरदार उसकी प्रार्थना स्वीकारकर रुक नहीं सकते। परन्तु शची क्यों चली गयी?

वह विचार में पड़ गया। स्थान के प्रश्न ने क्या उसको इतना विक्षुब्ध कर दिया कि वह बिना सूचना दिये ही अपने सारे प्रतिनिधि-मण्डल को लेकर चली जाये ? आर्य और असुरों के बीच सामाधान कराने की अपनी नीति नहुष को असफल होती नजर आयी। उसी नीति के द्वारा वह शची को प्राप्त करने का स्वप्न देख रहा था !

भले ही यह नीति सफल न हो ! परन्तु देव-श्रेष्ठ इन्द्र के स्थान से उच्चतर स्थान आर्य-जाति अन्य किसी को कैसे दे सकती है ? ऐसा करने से सारा स्वर्ग-प्रदेश नहुष का शत्रु बन जाता, और हिमालय के प्रत्येक शृङ्ग से देव-समूह उसके ऊपर टूट पड़ता ! असुर-प्रजा की मित्रता प्राप्त किये बिना देवताओं से विरोध करने की नहुष की हिम्मत न थी। मगर असुरों को अपना कैसे बनाया जाये ? शची, विचित्र शची तो देव, असुर अथवा आर्य किसी का भी प्रेम स्वीकार करने को प्रस्तुत न थी ! यदि वह असुर-सम्राट् की पुत्री के प्रेम को जीतने में सफल होता तो सारा असुर-साम्राज्य उसकी सहायता में खड़ा हो जाता; और वह देवताओं की अवगणना करने का साहस कर सकता था ! परन्तु अब ? देव, असुर और आर्यों को एक स्थान में एकत्रित करने का उसका प्रयत्न निष्फल हुआ। देवताओं की, विशेषतः इन्द्र की सहायता से आर्यों में तो वह प्रायः चक्रवर्ती बन ही चुका था। व्रात्यस्तोम यज्ञ के बाद राजसूय यज्ञ करके वह सहज ही में आर्यों के चक्रवर्ती महाराज की पदवी प्रत्यक्ष रूप से धारण कर सकता था ! यही उसकी महेच्छा थी ! परन्तु शची तो उसके हाथ से निकल ही गयी।

तभी उसके मन में एक विचार आया !

शची अकेली ही अपनी सखियों के साथ रथ में बैठकर गयी है ! वृत्र अवश्य शीघ्रता से उसके पीछे गया होगा ! वह शची के पास पहुँच भी जाये तो क्या ? तीन-चार व्यक्तियों का समूह कर ही क्या सकता है ? असुर प्रतिनिधि-मण्डल और उसके साथ के सैनिक तो अभी यहाँ से जाने की तैयारी ही कर रहे हैं ! नहुष की निजी सेना क्यों न यकायक आगे कूच करके शची को पकड़ ले आये ? असुर-सेना की छोटी टुकड़ियाँ कदाचित् मार्ग में मिलें और उसका सामना करें ! परन्तु नहुष के चुनिन्दा सैनिकों के आगे उनकी क्या चलेगी ?

इस प्रकार शची को वापस लाना सम्भव हो सकता है। तब उसे समझाने का अवसर मिलेगा। न समझेगी तो बन्धन में रखी जायेगी। बहाना यह किया जा सकता है कि नहुष का आतिथ्य स्वीकार किये बिना उसे कैसे जाने दिया जाये ? और इस प्रकार नहुष के सौजन्य की भी धूम मच जायेगी।

और यदि शची मिल गयी, तब तो सारी असुर दुनिया उसी की हो रहेगी !

असुरों की शक्ति साथ रहने पर तो उसे देवों का भी कोई भय नहीं। फिर तो वह देव-भाग देना बन्द भी कर दे तब भी उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

और यदि देव अपने भाग का आग्रह न छोड़ें ?

तो आर्यों का अग्रणी तो वह था ही ! शची के मिलने पर वह असुरों का अग्रणी भी बन जायेगा ! और देव-वर्ग ने यदि उसको दंड देने का प्रयत्न किया तो क्या वह देवों को युद्ध में हराकर स्वर्ग पर भी अपना अधिकार नहीं जमा सकता ?

और इन्द्रासन ? आज इन्द्र भले ही नहुष का मित्र हो, शुभेच्छु हो; लेकिन नहुष यदि चाहे तो स्वयं भी उस पर आसीन हो सकता है !

तब तो शची को पकड़कर लाना ही होगा।

नहुष शीघ्र ही वहाँ से लौटा।

[१४]

यज्ञ की धूम्रशिखा दूर-दूर तक फैल रही थी, और सन्ध्या इस बात की सूचना दे रही थी कि अब पूर्णाहुति की तैयारी है। शची पौलोमी यज्ञशाला से निकलकर अपने निवासस्थान पर आ गयी थी, और आराम कर रही थी। असुर, देव और मानव तीनों ही कश्यप-सृष्टि की सन्तानें ! परन्तु इन तीनों की देह-रचना और मानसिक विकास एक दूसरे से भिन्न तथा अप्रिय। तीनों परस्पर हिल-मिल जायें, ऐसा होने ही न पाता था। क्या ये तीनों जातियाँ अपने अस्तित्व

काल में एक दूसरे से लड़ती ही रहेंगी ? इस प्रकार के युद्ध में निश्चय ही एक जाति का सम्पूर्ण विनाश होगा ? बच रहेंगी अन्य दो जातियाँ ! वे लड़ेंगी और उनमें से भी एक जाति लुप्त हो जायेगी ! तब तो केवल एक ही जाति बच रहेगी ! वह बची हुई जाति किससे झगड़ेगी और क्यों झगड़ेगी ?

इस तरह के आपसी घर्षण द्वारा विनाशक युद्ध को रोकना उचित होगा; अथवा इन्द्र की सूचना मानकर देव, दानव और मानव तीनों जातियाँ अपने-अपने मनोविकारों को दबाकर एक दूसरे के मार्ग में अवरोध न डाल ऊपर उठें, और एक विशाल समूह बनकर रहें, यह उचित होगा ? तीनों यदि अपना भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व कायम रखें, तो बिना युद्ध के जीवित नहीं रह सकतीं। और यदि जीवित रहीं तो लड़ने-मरने की ओर जाना ही पड़ेगा !

इतने में चन्द्र ने आकाश में झाँककर देखा।

चन्द्र और इन्द्र के रंग कहीं एक-जैसे तो नहीं हैं ? वृत्र, नहुष और इन्द्र ये तीनों शची की मनोसृष्टि में कभी-कभी आकर अदृश्य हो जानेवाले धूमकेतु थे। वे भले ही आयें और चले जायें ! परन्तु न जाने क्यों इस समय इन्द्र की याद उसके मन में देर तक बनी रही। उसने निषादों द्वारा बलिदान दिये जाने से उसे बचाया था, क्या इसलिए ? या देवाधिदेव होने के कारण तो नहीं ? अथवा उसकी तपस्या ने उसे कंचन की काया प्रदान कर दी थी, इसलिए ?

"रक्षा ! चलो। रथ तैयार करके हम घूमने चलें।" शची ने अपनी सखी से कहा।

"इस समय रात में, और रथ में बैठकर !" रक्षा ने आश्चर्य के साथ पूछा।

"हाँ ! इसी समय रात में चाँदनी देखने की इच्छा हुई है।" शची ने उत्तर दिया।

"साथ में और भी कोई आयेगा ?"

"अवश्य ! अंगरक्षक न हों और वृत्र भी न हो, तब तुम्हें, मन्थरा को और विनता को तो साथ में रहना ही चाहिए।"

"लौटकर कब आओगी ?"

"लौटकर यहाँ आना ही नहीं है।"

"परन्तु राजा नहुष के यहाँ भोजन का निमन्त्रण है; याद है न ? उसका क्या होगा ?"

"उसमें सम्मिलित न होंगे। मुझे यहाँ एक-एक क्षण भारी हो रहा है।"

"तो क्या हमारा प्रतिनिधि-मण्डल भी साथ चलेगा ?"

"नहीं, अभी नहीं; परन्तु हमारे रवाना हो जाने के बाद तुरन्त चल पड़ेगा। मैं इस तरह की आज्ञा दिये चलती हूँ।"

"तुमने तो शची, अपनी उदारता के लिए ख्याति-प्राप्ति की है, तब इस तरह यदि विधिवत् विदा लिये बिना हम चले जायेंगे, तो लोग क्या कहेंगे ? आज तो तुमने इन्द्र की उदारता को भी मात कर दिया।"

"इन्द्र के साथ मेरी तुलना मुझे जरा भी पसन्द नहीं। तुम लोगों को तो जाने क्यों इन्द्र के नाम की रट लग रही है।"

"क्या तुम मानती हो कि हमें या तुम्हें कोई मोहित कर सकता है ?"

"वृत्र भी नहीं ?" सहज मुस्कराकर शची ने पूछा।

"जा-जा आयी बड़ी वृत्रवाली ! जब देखो तब मेरे सामने वृत्र का नाम लेती है।"

"मेरी एक बात का सच-सच जवाब देना। वृत्र हमारे असुर-पौरुष की पराकाष्ठा और इन्द्र देवों के पारुष की पराकाष्ठा। दोनों में तुम्हें कोई भेद दिखायी पड़ता है ?"

"इन्द्र का रूप जरा लड़की-जैसा मालूम पड़ता है ! कदाचित् देवकन्याओं को यही रूप प्रिय हो ! परन्तु मुझे तो असुर-पौरुष की कठोरता ही अधिक प्रिय लगती है।" रत्ना ने अपना मत प्रदर्शित किया।

"यदि देवकन्याओं को इन्द्र प्रिय लगता हो तो अभी तक उसे कोई इन्द्राणी क्यों नहीं मिली ?"

"सुना है कि राज-कार्य से जो समय बचता है, उसमें इन्द्र तप-साधना ही किया करता है। लोग कहते हैं कि वैभव की उसे बिलकुल ही कामना नहीं है।"

"वृत्र जैसी ही वृत्ति हुई न ?"

"बेचारे नहुष को तो तुम याद भी नहीं करती! एक-न-एक बहाना खोज-कर वह तुमसे मिलने का प्रयत्न किया ही करता है।"

"अब चलना भी है, या यहीं बैठे-बैठे पुरुषों की प्रशस्तियाँ गाते रहना है।"

"तुम कहो सो करें; परन्तु शची, मानो या न मानो, इधर कुछ समय से तुमको भी पुरुषों की लौ लगी हुई है।"

"हाँ। तुम्हारा कहना कदाचित् सत्य ही हो। परन्तु उसके पीछे मेरी भावना क्या है, यह तुम शायद ही समझ सकी हो।"

"जो सब स्त्रियों की भावना होती है वही तुम्हारी भावना होगी!"

"तुम भूलती हो, रत्ना। पुरुषों की अधीनता स्वीकार करने की वृत्ति से मैं परे हूँ। मैं पुरुषों का खिलौना बनना नहीं चाहती। उनकी लोलुपता, उनके भोग-विलास और क्षुद्रता का साधन बनने को मैं तैयार नहीं! मैं पुरुष से श्रेष्ठ होना चाहती हूँ, उसे पराजित करना चाहती हूँ।"

"सब स्त्रियाँ ऐसा ही सोचती हैं...."

"मगर पुरुषों के हाथ का खिलौना बनकर, पुरुषों की शोभा बनकर! मैं आज यह निश्चय करके बैठी हूँ कि घर में, राज्य में और युद्ध में पुरुषों को पराजित करूँगी।"

"इसी लिए तुम यहाँ से भाग रही हो?"

"तभी तो मुझे देवों के साथ युद्ध करने का मौका मिलेगा।"

"सीधे देवों के साथ युद्ध? मानव की तो तुम्हारे मन कोई गिनती ही नहीं।"

"बिलकुल नहीं। देव-भाग बन्द कर, मैं असुर-भाग लेने की योजना बना रही हूँ, और वह भी हो सके उतना जल्दी। इसलिए चल, शीघ्रता कर, रथ तैयार ही है। सबको जाकर मेरी आज्ञा सुना दे, और मन्थरा तथा विनता को बुलाती आ!" शची ने कहा।

"परन्तु यह सब है क्या? होगा कैसे?" रत्ना को शची की इच्छा और योजना समझ में नहीं आयी।

"तुम्हें मेरी बात का जो अंश समझ में न आये, उस पर विचार करना

बन्द कर दो, और जैसा मैं कहती हूँ, करती जाओ। जल्दी करो।" शची ने कहा, और रक्षा उसका आदेश असुर प्रतिनिधि-मण्डल को सुनाने के लिए चल दी।

थोड़ी ही देर बाद असुर-निवास में से एक सुन्दर रथ बाहर निकला। शची और उसकी तीनों सखियाँ रथ पर बैठी हुई चन्द्र के निर्मल प्रकाश का आनन्द ले रही थीं। शची ने अपनी सखियों को भी रथ-चलाने में कुशल बना दिया था, इसलिए उन्हें किसी पुरुष-रथी की आवश्यकता नहीं थी। चारों सशस्त्र सखियाँ नहुष का नगर छोड़कर चली गयीं। यज्ञ के कारण नगर में लोगों का आवागमन इतना अधिक बढ़ गया था कि रात्रि के प्रथम प्रहर में जानेवाले इस रथ की ओर किसी का ध्यान तक नहीं गया। फिर प्रायः सारा नगर यज्ञ के बाद होनेवाले नाच-गान और भोजन-पान के समारम्भ में मग्न था। इसलिए शची का रथ बिना किसी रोक-टोक के नगर के बाहर निकल गया।

उसकी सखियों के हृदय एक प्रकार की अनिश्चित चिन्ता का अनुभव कर रहे थे। लड़कपन से ही मनस्वी और एक हद तक हठी शची कितनी ही बार ऐसी बातें कहती और कार्य करती, जो उसकी सखियों की समझ में न आते। सामान्यतः सुशील, गम्भीर, प्रेममयी और कहना माननेवाली असुर राज-कन्या, कभी-कभी दूर तक अकेली ही घूमने चली जाती; सिन्धु नदी के विस्तार को अकेली तैरकर पार करती; हाथी और गैंड़े आदि भयानक जान-वरों के भ्रमण-स्थानों को देखने के लिए घने जंगलों में घुस जाती, और वृक्षों के ऊपर बैठकर व्याघ्रों के आवागमन के दृश्य देखती। वह शस्त्रास्त्र चलाने में भी निपुणता प्राप्त कर रही थी, और कभी-कभी साहस के ऐसे कार्य करती, जिन्हें देख उसकी सखियाँ कलेजा थाम लेती थीं। साथ ही असुर-प्रदेश में प्रचलित सभी विद्याओं में पारंगत होने का प्रयत्न भी करती रहती थी। इसी ज्ञान-पिपासा ने आर्यों की विशेष विद्याओं को सीखने का मोह भी उत्पन्न कर दिया था, और इसी लिए आर्यों के सहवास की वृत्ति जागृत हुई थी। पुलोमा का वात्सल्य पुत्री को इन कार्यों में बाधा डालने से रोकता। राजनीतिक परि-

स्थिति भी अनुकूल थी। प्राचीनकाल से होता आया देवासुर-संग्राम रुक गया था, और आर्यों को असुर-प्रदेश में आने-जाने की बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त हो गयी थीं। पणि जैसे आर्यश्रेष्ठी असुर-राज्य से होकर व्यापार के लिए समुद्र पार जाते थे। आर्य अपनी विद्या असुरों को सिखाने के लिए तैयार नहीं होते थे। इस कार्य के लिए वे यथासम्भव असुर-प्रदेश में जाते न थे। इतना ही नहीं, वे इस प्रवृत्ति का सक्रिय विरोध भी करते थे।

यदि आर्यों का यह विरोध मिट जाता, तो शची-जैसी प्रतिभावान असुर-कन्या आर्यों की सभी विद्याओं को हस्तगत कर उनके प्रकट और प्रच्छन्न घमंड का मुँहतोड़ जवाब दे सकती थी। शची इस दिशा में जोरदार प्रयत्न कर रही थी। नहुष के यज्ञ में भी वह इसी उद्देश्य से आयी थी; और वहाँ आर्यों के भव्य यज्ञ-समारम्भ को उसने बड़े ध्यान से देखा था। देव-भाग और असुर-भाग, देव-स्थान और असुर-स्थान, अनार्यों का आर्यत्व-प्रवेश, तथा देवों और आर्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, ये सब बातें कुछ-कुछ उसकी समझ में आने लगी थीं। अपने को पवित्र माननेवाले आर्य असुर युवतियों की ओर आकर्षित होते हैं, यह बात भी उसने प्रत्यक्ष देखी, और अनुभव भी की। अपनी ओर छिप-छिपकर देखनेवाले ब्राह्मणों और क्षत्रियों की लालसापूर्ण आँखें वह भूली न थी। इन बातों की याद आते ही चन्द्रधौत रात्रि के एकान्त में जाते हुए रथ में व्याप्त शून्यता उसकी खिलखिलाहट से भंग हो गयी।

"क्यों हँसती हो, शची !" विनता ने पूछा।

"मुझे आर्य बननेवाले निषादों की याद आ गयी।"

"कभी देवों को असुर भी ऐसे ही लगते होंगे ?"

"इसी लिए देवों के देवत्व को निर्मूल करने का मैंने निश्चय किया है।" हँसी रोककर शची ने उत्तर दिया।

"देवत्व को निर्मूल करना है ? मगर किस प्रकार ?"

"स्वर्ग-लोक का स्वामित्व प्राप्त करके !"

"क्या यह सम्भव है ?"

"हम लोगों के कितने ही पूर्वज स्वर्ग के द्वार तक पहुँच गये थे, यह मैं

और सभी लोग बहुत अच्छी तरह जानते हैं।"

"और उसके बाद किसी सुन्दर अश्विनीकुमार अथवा सूर्य के साथ विवाह कर शची देवी बन जायेगी !" सब सखियों में बड़ी मन्थरा ने हँसकर ताना दिया।

"तब तुम्हें कुछ भी मालूम नहीं है मन्थरा ! मेरे असुर-लोक में पहुँचने-भर की देर है...." शची ने कहा।

"वहाँ पहुँचकर क्या करोगी ?" विनता ने पूछा।

"मैं केवल आर्यों से ही नहीं, देवों से भी असुर-भाग माँगूँगी और वह भी शस्त्र की धार पर !" शची ने उत्तर दिया।

"और यदि वह न मिला ?"

"तो देवत्व का नाम-निशान मिटानेवाला भयंकर युद्ध छेड़ दूँगी।"

"असुर-सभा इस युद्ध की सम्मति देगी ?"

"वह तो कभी से तैयार बैठी है। केवल पिताजी की आज्ञा से रुकी हुई है।"

"पिताजी की आज्ञा यदि तुम्हें रोके ?"

"अन्तिम निर्णय करने ही के लिए तो पिताजी ने मुझे और वृत्र को नहुष के यज्ञ में भेजा था ! हमारा मन्तव्य ही उनके अन्तिम निर्णय का आधार होगा।" शची ने अपनी बात का स्पष्टीकरण किया।

"तुम दोनों की क्या सलाह होगी ?" मन्थरा ने पूछा।

"असुर-भाग माँगने का आग्रह करेंगे। वह स्वीकृत होगा, इसलिए युद्ध अनिवार्य हो जायेगा।" शची ने अपना मन्तव्य ही नहीं उसका परिणाम भी बता दिया।

"तुम्हें विश्वास है कि आर्यों और देवों का समस्त कौशल असुरों ने हस्तगत कर लिया है ?"

"जो कुछ कमी रह गयी होगी, उसे शुक्राचार्य पूरी कर देंगे।"

"शुक्राचार्य ! आज के यज्ञ के महायज्ञिक ?"

"तब तुमने सुना हो क्या ? उसने आर्यों का आचार्य पद छोड़ दिया है।

असुर उसे अपना गुरुपद प्रदान करेंगे।" शची ने भविष्य के कार्यों का निर्देश किया।

"परन्तु वह तो असुरों को आर्य बनाने का स्वप्न देख रहा है।"

"क्या तुम मानती हो कि शुक्राचार्य द्वारा बनाये गये असुर-आर्यों को वे घमंडी आर्य स्वीकार करेंगे? देखा नहीं, उन सौ निषादों को, जिन्हें आर्य बनाने के लिए आयोजित यज्ञ में कितने झगड़े हुए थे! आर्यों और असुरों के बीच की खाई किसी भी तरह पाटी नहीं जा सकती।" शची ने कहा।

रथ में बैठी हुई सखियाँ चुप हो गयीं। चन्द्रमा के प्रकाश में रथ चला जा रहा था। अश्वों की टाप के सिवाय और कोई आवाज सुनायी नहीं देती थी। रथ चला जा रहा था, वन-उपवन और पर्वत-उपत्यकाओं को पार करता हुआ। एक स्थान पर पहुँचकर रथ खड़ा हो गया। शची को लगा कि वह रास्ता भूल गयी है। जिस मार्ग से वह आयी थी वह एक टूटे-फूटे आश्रम में जाकर समाप्त हो जाता था। चन्द्रमा के प्रकाश में यह जराजीर्ण आश्रम भी सुन्दर लग रहा था।

"इस आश्रम में कोई रहता न होगा!" विनता ने कहा।

"तो हमीं लोग आज रात यहाँ रह जायें। सवेरे आगे बढ़ेंगे। हमारे पीछे आनेवाली असुर सेना कदाचित् रास्ते में मिल जाये।" रत्ना ने अपना मत प्रदर्शित किया।

"कुमारी! अभी से रास्ता भूल रही हो! अभी तो आगे सारा युद्ध संभालना पड़ा है!" मन्थरा ने ताना कसा।

"देखो! ये नक्षत्र हमको बराबर मार्ग दिखला रहे हैं। हमारा मुख्य मार्ग यहाँ से अधिक दूर नहीं होना चाहिए। चलो, अन्दर चलें। इस आश्रम में कदाचित् कोई रहता हो। सोया होगा तो उसे जगाकर रास्ता पूछ लेंगे।" कहती हुई शची रथ से नीचे उतर गयी। हाँफते हुए घोड़ों की पीठ उसने स्नेह से थपथपायी और उसके बाद अपनी सखियों को साथ लेकर आश्रम का द्वार खोलकर अन्दर प्रवेश किया।

"कौन है इस मध्य-रात्रि में?" जीर्ण आश्रम के आँगन में से प्रश्न पूछा

गया। पूछनेवाले का स्वर उसके बुढ़ापे को सूचित करता था।

"पथिक हैं, मार्ग भूल गये हैं।" शची ने उत्तर दिया।

"बेटा! कोई पुरुष साथ में नहीं है? अकेली हो? चली आओ सीधे इस ओर।" वृद्ध ने ससत्कार अन्दर बुलाया।

"हम चार स्त्रियाँ हैं। साथ में कोई पुरुष नहीं है।" आँगन की ओर बढ़ते हुए शची ने कहा। उन्हें एक धवलकेशी विशालकाय वृद्ध सम्मुख आता हुआ दिखायी दिया।

"आओ, आओ, बेटियो! आधी रात में कहाँ रास्ता भूल गयीं? भूख-प्यास से व्याकुल होगी, बैठो!" वृद्ध ने वहाँ बिछे हुए एक दर्भासन की ओर अँगुलि-निर्देश किया। फिर शीघ्र ही मिट्टी के पात्र में जलनेवाले मन्द दीपक की ज्योति को उकसाया और उसके प्रकाश में चारों युवतियों को देखा। देखकर वृद्ध के नेत्रों में प्रसन्नता नाच गयी।

"असुर-कन्याएँ लग रही हो?" वृद्ध ने पूछा।

"जी हाँ!"

"कोई बात नहीं। आर्य-ऋषि के आश्रम में किसी को भी भय नहीं।" वृद्ध ने आश्वासन दिया।

"यह किसका आश्रम है?"

"मेरा है पुत्री! यदि नाम जानने की उत्सुकता हो तो वह भी बता दूँ। यह भग्न, विस्मृत और परित्यक्त आश्रम त्वष्टा का है।"

"हम प्रणाम करती हैं, महर्षि!" चारों सखियों ने प्रणाम किया।

"सुख-सौभाग्य से सम्पन्न हो, पुत्रियो!" कहते हुए मुनिराज उठे, और खड़ाऊँ खट-खटाते हुए पास की पर्णशाला में जाकर पानी का कमण्डलु, धातु-पात्र और थोड़े बैर तथा कदली-फल ले आये। इन सब वस्तुओं को युवतियों के सम्मुख रखकर उन्होंने मीठी आवाज से कहा—"पहले कुछ खा-पी लो।"

"हमें कुछ न चाहिए, मुनिराज!"

"यह हो नहीं सकता। दूर से आयी होंगी! मार्ग भूल गयी हो! साथ में कोई है नहीं। चलो, खाना शुरू करो। उसके बाद मैं मृगचर्म बिछा देता हूँ,

उस पर सो जाना। सवेरे उठोगी तब पूछूँगा कि तुम सब कौन हो।" त्वष्टा ने आग्रह किया। त्वष्टा की आज्ञा माननी पड़ी। असुर देह को भी भूख और प्यास तो सताती ही है। मीठे फल खाते-खाते मन्थरा ने पूछा—"आप तो आर्य महर्षि हैं, और आप यह भी जान गये हैं कि हम सब असुर-कन्याएँ हैं फिर भी आप हमारा इतना सत्कार करते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है।"

"सुर-असुर तथा आर्य-अनार्य के भेद से तपस्वी परे रहते हैं। बहुत समय से हमारे ऋषि-वर्ग के एक समुदाय की यह मान्यता दृढ़ हो गयी है कि यदि आर्यत्व को, वेद को, परमपुरुष को और ब्रह्म को विश्वव्यापी बनाना है, तो हम आर्यों को वर्ण और जाति से परे होना होगा—ऊपर उठना पड़ेगा।" त्वष्टा ने कहा।

"सब ऋषि इस बात को कहाँ मानते हैं?" शची ने कहा।

"इसी कारण से तो इस वृद्धावस्था में भी मैं सबसे दूर इस एकान्त में अकेला रहता हूँ।"

"आपके शिष्य नहीं हैं?"

"हैं; थोड़े-से। कभी-कभी आकर प्रश्न अथवा प्रयोग समझ लेते हैं।"

"क्या छिपकर आते हैं?"

"मेरे यहाँ कुछ भी छिपा हुआ नहीं है। परन्तु हाँ, किसी प्रकार का झमेला न हो, इसलिए मैं ही अलग रहता हूँ।"

"त्वष्टा को हमारा असुर-प्रदेश आज भी याद करता है।" विनता बोली।

"अच्छा! पर मैं तो एक असफल आदमी हूँ। सुरों और असुरों को एक करने के मेरे प्रयत्न निष्फल हो गये। यहाँ अकेला बैठा-बैठा भूतकाल को देखता हूँ, और उसमें से भावी की कल्पनाएँ कर जीवन को आनन्द में व्यतीत करता हूँ। मेरा इतिहास पूछने योग्य नहीं है।" त्वष्टा ने कहा।

असुर-युवतियाँ फल खाती जाती थीं और इस वृद्ध को बार-बार देखती जाती थीं। वृद्ध की सात्विक मूर्ति में उन्हें अनेक राजसी और उग्र रेखाएँ छिपी हुई दिखायी दीं। त्वष्टा एक महान आर्य-महर्षि था, जिसने असुरों के साथ मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न किया था, और इसी लिए आर्य उसकी अव-

गणना करते थे। असुरों के इस आर्य-मित्र के बारे में अनेक दन्तकथाएँ शची और उसकी सखियों ने सुनी थीं। आर्य, अनार्य तथा असुरों के बीच मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के अनेक प्रयत्न हुए थे; उनमें कितने ही सफल हुए, और कितने ही निष्फल; निष्फल अधिक हुए। ऐसा ही एक प्रयत्न करनेवाला त्वष्टा निष्फल होकर आज एकान्तवास कर रहा था! और ये असुर-कन्याएँ रात्रि के समय उसी के एकान्त आश्रम में राह भूलकर पहुँच गयी थीं।

"ऋषिवर! अब हमें आज्ञा दें।" शची ने कहा।

"नहीं बेटा! रात्रि के समय जाने नहीं दूँगा। मुझे डर है कि कहीं नहुष के यज्ञ में से नाराज होकर तो तुम सब नहीं चली आ रही हो!" त्वष्टा ने शंका प्रदर्शित की।

"आपको कैसे मालूम हुआ?"

"यज्ञ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मुझे भी मिला था। असुर प्रतिनिधि-मण्डल भी गया था। मुझे विश्वास था कि इन्द्र का प्रयोग शायद ही सफल हो। तुम्हें देखकर लगता है कि मेरी धारणा सत्य ही हुई।"

"वह इन्द्र का प्रयोग था, या नहुष का?" शची ने आश्चर्य से पूछा।

"इन्द्र के अनुसार ही देवों और आर्यों के व्यवहार हुआ करते हैं। इस समय इन्द्रासन पर जो इन्द्र विराजमान हैं वह पहलेवाले इन्द्र से अधिक तापस, तेजस्वी और उदार....अरे! यह क्या? घोड़े की टापें सुनायी दे रही हैं! कोई आश्रम की ओर आ रहा है!" त्वष्टा ने अपनी बात बीच ही में रोककर सबका ध्यान इसकी ओर आकृष्ट किया। त्वष्टा की बात सच थी। असुर-कन्याओं के मुख पर जरा भी भय का भाव न था, तथापि त्वष्टा ने सान्त्वना दी—"इस आश्रम में किसी को कोई भय नहीं...."

यकायक बाहर खड़े हुए रथ के अश्व हिनहिनाने लगे, और उनका उत्तर एक तीसरे अश्व ने दिया। देखते-ही-देखते आश्रम के द्वार पर एक अश्वारोही रुका, और कूदकर पर्णशाला में घुस गया। असुर-कन्याओं ने देखकर पहचाना कि वृत्र उनके सामने खड़ा था।

"वृत्र! तुम?" शची ने पूछा।

"हाँ। भय दिखायी पड़ते ही मैं आगे बढ़ आया। तुम सब रास्ता भूल गयी हो।" वृत्र ने कहा।

"हाँ, ऐसा ही हुआ। सेना कहाँ है?"

"पीछे आ रही है, थोड़ी ही दूर है। उसे सेना नहीं कहा जा सकता। वह तो मात्र एक टुकड़ी है।"

"सच है, हमारे रथ और तुम्हारे अश्व के साथ सेना चल नहीं सकती! बोलो, अब क्या करना है? तुमको किस बात का डर दिखायी दिया।"

"नहुष की सेना का।"

"क्या मतलब?"

"मतलब जो भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि नहुष के चुने हुए सैनिक तुम लोगों के पीछे दौड़े आ रहे हैं और सो भी हमारे सैनिकों से कहीं अधिक त्वरित गति से। इस बात का पता लगते ही अपनी टुकड़ी को पीछे छोड़ मैं घोड़े पर यहाँ दौड़ा आया। हम लोगों को चाहिए कि शीघ्र चल पड़ें और प्रभात के पहले ही अपनी सरहद में पहुँच जायें।" वृत्र ने कहा।

"यदि नहुष ने युद्ध की घोषणा कर दी है तो हम सेना को छोड़कर अकेले नहीं जा सकते।" शची ने कहा।

"हाँ, यह तो सच है। परन्तु मेरी यह इच्छा है कि तुम चारों रथ में चली जाओ। मैं यहाँ रुककर अपनी टुकड़ी का रास्ता देखूँगा।" वृत्र ने अपनी इच्छा प्रदर्शित की।

"असुर-स्त्रियाँ भी युद्ध करना जानती हैं। आर्यों की विदुषी स्त्रियों और सुख की सेज में सोनेवाली देवियों की तरह वे कोमल नहीं होतीं!" शची ने कहा।

अभी तक चार आँखें वृत्र की ओर लगी हुई थीं—दो आँखें रक्षा की और दो त्वष्टा की! रक्षा की आँखों से प्रेम की फुहारें उड़ रही थीं और त्वष्टा के नेत्रों से वात्सल्य की!

"वत्स! मेरे आश्रम में स्थान पानेवाले को कोई देव या आर्य छू तक नहीं सकता। मेरा स्थान एक रक्षित आश्रम है। यहाँ कोई भय नहीं।"

"असुरों को भी ?" शची ने पूछा।

"हाँ, उनको भी नहीं ? इन्द्रदेव की आज्ञा है कि आर्य-लोक के कुछ ऋषि-आश्रम ऐसे रखे जायें जहाँ शत्रु भी मिलकर रह सकें। ऐसे आश्रमों में मेरा आश्रम मुख्य है। आर्यों के बहुत से झगड़े यहाँ सुलझाये गये। तुम लोग यहाँ आनन्द से रहो। नहुष की सेना से मैं समझ लूँगा।" त्वष्टा ने पुनः सान्त्वना दी। इस समय महर्षि की वाणी में ओज और तरुणाई बोल रही थी।

"आपको वर्तमान इन्द्र पसन्द है?" शची ने सहज स्मित करते हुए पूछा।

"मेरी स्मृति में आज तक इन्द्रासन पर ऐसा सुयोग्य इन्द्र दूसरा नहीं आया। आर्यों और देवों का वह गौरव है। उसके समय में देव और असुरों के बीच समाधान होने की संभावना है—आज नहीं तो कल! आप आराम से यहाँ रात बितायें।" त्वष्टा ने कहा।

नहुष की सेना असुर-प्रतिनिधियों के पीछे आ रही थी यह बात सच थी। असुर-सेना की वह टुकड़ी पूरी सामर्थ्य लगाकर भी नहुष के चुनिन्दा सैनिकों को रोक नहीं सकती थी। न यही संभव था कि शची अपने सैनिकों को छोड़कर चली जाती। वृत्र जानता था कि यदि चारों कन्याओं को सुरक्षित रखना हो, तो उन्हें एक भी क्षण गँवाये बिना यहाँ से आगे चले जाना चाहिए। परन्तु शची के स्वभाव से भी वह परिचित था। असुर-राजकुमारी भय से भागनेवाली लड़की न थी। अतः उसने भी यही निश्चय किया कि त्वष्टा के आग्रह को मानकर असुर-सेना की टुकड़ी आने तक उसी आश्रम में रहा जाये। बाहर निकलकर उसने अपने घोड़े को बाँधा। रथ के घोड़े छोड़कर उन्हें भी ठीक से बाँध दिया। रक्षा ने वृत्र को फल दिये। इतने में त्वष्टा ने सब के लिए चर्म और पर्ण की शैया तैयार कर दी। सब लोग चुपचाप पड़े रहे। सोने का प्रयत्न सभी ने किया, परन्तु नींद किसी को नहीं आयी।

अभी सवेरा होने भी न पाया था, कि अश्वों की हिनहिनाट से सब लोग उठ बैठे। बाहर नजर डालते ही मालूम हुआ कि आश्रम सैनिकों से घिर गया है। त्वष्टा ने बाहर निकलकर आश्रम-द्वार पर खड़े हुए एक सैनिक-नेता से पूछा—"कौन हो तुम लोग ? और आश्रम को क्यों घेर लिया है?"

"मैं नहुष का सेनापति हूँ। उनके मेहमानों को वापस लेने आया हूँ।"

"मेहमानों को इस प्रकार सेना भेजकर वापस ले जाना कहाँ की रीति है ?"

"मुझे तो आज्ञा है कि उनको साथ में लिये बिना वापस न लौटूँ।"

"कारण ?"

"उनको भोजन कराये बिना और भेंट दिये बिना राजा नहुप का यज्ञ अधूरा रहेगा। इस जरा-सी बात के लिए यज्ञ को अपूर्ण क्यों रखा जाये ?"

"लेकिन उनकी वापस जाने की इच्छा नहीं है।"

"हमें उनकी इच्छा जानने के लिए नहीं भेजा है। हम भेजे गये हैं उनको लौटा लाने के लिए। उनके बिना हम लौट नहीं सकते। आज्ञा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है।"

"यदि वे न लौटना चाहें ?"

"हम उनको उठाकर ले जायेंगे। यज्ञ यदि अधूरा रह गया तो निषादों का आर्यत्व भी अपूर्ण कहा जायेगा। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आश्रम में ठहरे हुए मेहमानों को हमें सौंप दें।"

"सेनापति ! पागल हुए हो ? त्वष्टा अपने आश्रम में ठहरे हुओं को कभी सौंप सकता है ?"

"तो हम इस आश्रम का घेरा डाले खड़े रहेंगे।"

"इस कार्य से आर्यों और असुरों के बीच जो वैमनस्य अभी ही शान्त हुआ है वह पुनः जाग्रत हो जायेगा।"

"यह प्रश्न हमारे विचारने का नहीं है। हम तो आज्ञा-पालक सेवक हैं।"

"यदि ऐसी ही इच्छा है, तो आश्रम को अनन्त काल तक घेरकर खड़े रहो। मैं आश्रम से किसी को बाहर न जाने दूँगा; और देखो, मेरी अनुमति के बिना कोई भी सैनिक अन्दर प्रवेश न करे।"

इतना कहकर त्वष्टा अन्दर चले गये। दिन के प्रकाश में त्वष्टा को देखकर वृत्र को आश्चर्य हुआ। उसे त्वष्टा की मुद्रा परिचित-सी लगी। उसने पूछा—"आप तो, महर्षि त्वष्टा मालूम पड़ते हैं। क्या आप पहले कभी असुर-

प्रदेश में भी रह चुके हैं ?"

"हाँ ! त्वष्टा नाम बदलकर मैं पाँच वर्ष तक पुलोमा के गुरुपद पर था।" त्वष्टा ने कहा।

"और हम लोग पुलोमा के ही प्रतिनिधि हैं। यह है शची, पुलोमा की पुत्री, ये इनकी सखियाँ, और मैं वृत्र।"

"वत्स वृत्र, बहुत बड़े हो गये ! अब मुझे याद आया कि तुमको और शची को मैंने साथ-ही-साथ शालिहोत्र की शिक्षा दी थी और अश्व-विद्या की भी। उस समय तुम दोनों बहुत छोटे थे। उस समय के देवराज इन्द्र और मुझमें सौहार्द न था। अतएव आर्यों ने मेरा बहिष्कार कर दिया।"

"इतना होने पर भी आप आकर आर्यों में ही बसे !"

"क्या करता बेटा ! मेरे शरीर में रुधिर आर्यों का है !"

"आर्य और अनार्यों के रुधिर एक नहीं हो सकते, महर्षि ?" शची बीच ही में पूछ बैठी।

वृत्र ने चकित होकर शची की ओर देखा। रत्न के मुख पर मुस्कराहट फैल गयी। वृत्र की नजर उस मुस्कराहट की ओर गयी। त्वष्टा की छोटी, परन्तु तेजस्वी आँखें एक बार सब की ओर घूम गयीं।

"मेरा आज तक का यही प्रयत्न रहा है; परन्तु सफलता न मिली। नहुष और इन्द्र को व्रात्यस्तोम यज्ञ करने की प्रेरणा मैंने ही की थी। आर्यों और अनार्यों को एक दूसरे के निकट लाना ही उद्देश्य था ! लेकिन दोनों निकट आते हैं, और फिर शीघ्र ही शत्रु बनकर पृथक् हो जाते हैं। तुम लोगों ने भी इस बार यही किया।"

"और क्या हो सकता था ? नहुष को यज्ञ के फल की आकांक्षा न थी, उसे आकांक्षा है शची की !" वृत्र ने कहा।

"अच्छा ? मगर उसमें बुराई ही क्या है ?" त्वष्टा ने प्रश्न किया।

"देवों को भाग देनेवाले उनके अधीनस्थ सामन्त को मैं अपना हाथ अर्पण करूँगी ?" शची ने उत्तेजित होकर कहा।

"आत्म-प्रतिष्ठा को इतना तीव्र बनाना उचित नहीं है पुत्री ! पर यह तो

बताओ कि तुम अपना हाथ किसे सौंपोगी?" त्वष्टा ने पूछा।

"जो मेरा हृदय जीते उसे!" शची ने उत्तर दिया।

"अभी तक ऐसा कोई पुरुष मिला नहीं?"

"नहीं। अभी तक तो नहीं। नहुष मुझे किसी-न-किसी बहाने से बुलाता है। स्वयं मुझे बन्दी बनाने या किसी अन्य द्वारा बन्दी बनाये जाने की युक्तियाँ रचता है। और वह यह सोचने की भी मूर्खता करता है कि मैं उसकी युक्तियों में फँस जाऊँगी! मुनिराज! मैं ऐसे आर्य की ओर कैसे देखूँ? इसलिए मेरे हृदय में उसके प्रति तिरस्कार पैदा हुआ और मैं वहाँ से चली आयी।" शची ने कहा।

"और तुम्हें पकड़कर ले जाने के लिए उसने सेना भेजी है!" हँसकर त्वष्टा ने कहा।

"मेरी लाश ही उसके हाथ लगेगी! आर्य हमेशा भूल जाते हैं कि उनकी कितनी ही सेना को असुर खड़े-के-खड़े ही निगल गये हैं।" हँसकर शची बोली।

तभी सेनाओं की गर्जना सुनायी पड़ी। वृत्र समझ गया कि उसके पीछे आनेवाली असुर टुकड़ी और नहुष की सेना में मुठभेड़ हुआ ही चाहती है। त्वरित गति से अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर वह बाहर निकला। वृत्र के पीछे शची और उसकी तीनों सखियाँ भी दौड़ीं। उन्होंने भी लपककर रथ में से अपने शस्त्रास्त्र उठा लिये। वृत्र के शरीर में उत्साह की बिजली दौड़ गयी। आज आर्य-सैनिकों को अपना हाथ दिखाने का उसे अवसर मिला था। शची भी इसी प्रकार के उत्साह से प्रेरित थी। त्वष्टा ने देखा कि उसके असुर अतिथि रक्षित आश्रम के बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहे थे। उसने उनको रोका और स्वयं बाहर जाकर दोनों सेनाओं को समझाने की इच्छा प्रदर्शित की। परन्तु युद्ध का आवेश कभी समझाने से रुका है। वृत्र कूदकर अपने घोड़े पर चढ़ गया और आश्रम-द्वार के बाहर जाने के लिए उसने एड़ लगायी। यकायक नहुष के सैनिकों ने शस्त्र नीचे कर लिये—वृत्र के भय से नहीं, परन्तु दूर पर दिखायी पड़नेवाले इन्द्र के ध्वज-चिन्ह के सम्मान में।

युद्ध रोकने ही के लिए तो इन्द्र शान्ति-ध्वज नहीं दिखा रहा था?

इन्द्र-ध्वज को सब लोग पहचानते थे। वह शान्ति का संकेत करे, तब आर्य और असुर दोनों को एक क्षण के लिए तो रुकना ही पड़ता। दोनों ओर से निकले हुए शस्त्रास्त्र जहाँ-के-तहाँ रुके रह गये, और दर्पण में चमकने-वाले सूर्य सदृश्य इन्द्र का रथ निकट आ पहुँचा। उसमें से इन्द्र और नहुष कूदकर नीचे उतरे। मुकुट की मणियाँ इन्द्र की प्रभा को बढ़ा रही थीं। शची को वह प्रभा सुन्दर लगी, और वह क्षण-भर के लिए उसी ओर देखती रही।

"अच्छा ही हुआ कि हम आ पहुँचे! नहुपराज ने उतावलेपन में जो आज्ञा दी उससे भ्रान्ति हो सकती थी, और हम लोग व्यर्थ ही युद्ध-स्थिति में फँस जाते।" मुख पर स्मित लाकर इन्द्र ने कहा।

"युद्ध के लिए हम सर्वदा तैयार रहते हैं।" वृत्र ने कहा।

"वृत्रकुमार! यह हम जानते थे, इसी लिए हमें शीघ्रता करनी पड़ी। परन्तु मेरी सभी असुर मित्रों से प्रार्थना है कि वे हमारे अतिथि के रूप में भोजन ग्रहण करें, और हमारे—नहुष के यज्ञ को सफल बनायें।" इन्द्र ने विनती की।

"अब हम अपनी सीमा पर पहुँचकर पुनः आर्य-बस्ती में नहीं जायेंगे, शची की ऐसी ही आज्ञा है।" वृत्र ने कहा।

"महर्षि त्वष्टा से प्रार्थना है कि वे ही न्याय करें। एक भी अतिथि भोजन बिना रहे यह हम आर्यों के लिए घोर पातक है। इससे यज्ञ का फल अपूर्ण रहेगा। आर्य बस्ती में न लौटना चाहें तो मेरे स्वर्ग-लोक का एक संस्थान समीप ही है, वहीं पधारें!" इन्द्र ने विनम्र शब्दों में कहा।

"किसी के बुलाने से स्वर्ग में मैं पैर न रखूँगी, स्वर्ग के द्वार तो मैं अपने हाथ से खोलूँगी, किसी के खुले हुए द्वार में मैं प्रवेश नहीं करती।" शची ने दर्प से कहा।

"जैसा आप कहें, वैसी ही व्यवस्था की जाये।" कुछ हँसकर इन्द्र ने कहा।

"प्रार्थना करके मैं स्वर्ग का द्वार खुलवाना नहीं चाहती, आज्ञा देकर खुलवाऊँगी।" शची ने कहा।

"आपने आज्ञा दी है, ऐसा मैं मान लूँ?" स्मित करते हुए इन्द्र ने कहा।

"मैं उपाय बताता हूँ। सब लोग सेना-सहित मेरे आश्रम में ही भोजन करें,

और इस प्रकार यज्ञ संपूर्ण हो।" त्वष्टा ने बीच-बचाव किया। इस तरह आर्य और असुरों के बीच युद्ध होते-होते रुक गया। वृत्र को दुःख हुआ, क्योंकि वह युद्ध चाहता था।

त्वष्टा के आश्रम में एक महोत्सव की तैयारी हुई। आर्य और असुरों ने साथ बैठकर भोजन किया।

अतिथि को भोजन किये बिना न जाने देने की भावना कहीं युद्ध का कारण न बन जाये यह विचार आते ही और को नहुष की योजना मालूम होते ही, इन्द्र उसे साथ में लेकर निकल पड़ा और असुर प्रतिनिधि-मण्डल के पास पहुँच गया। इन्द्र का यह कार्य नहुष को पसन्द आया या नहीं, इसका तो पता न चला, परन्तु इन्द्र के साथ उसे जाना अवश्य पड़ा।

तीसरे पहर जाने की तैयारी करते हुए इन्द्र से त्वष्टा ने पूछा—"देवराज! यहाँ से कहाँ पधारेंगे?"

"मेरु की ओर! मित्र नहुष को अभी वह प्रदेश दिखाया नहीं है।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

एक ओर इन्द्र का रथ चला; दूसरी ओर शची का। जाते-जाते शची ने पीछे फिरकर देखा। नहुष भी घूमकर शची को देख रहा था; उसने मैत्री-सूचक हाथ भी उठाया।

'इन्द्र ने मेरी ओर एक बार देखा तक नहीं! उसके स्वर्ग-द्वार को मैं अपने हाथों से खोलूँगी।' शची ने मन-ही-मन सोचा और निश्चय किया।

[१५]

"इन्द्र का बहुत बखान हो रहा है!" रथ में मन्थरा ने बातचीत प्रारम्भ की।

"और इस बखान में एक बात बार-बार सामने आ रही है और वह यह कि इन्द्र एक महान तपस्वी है!" विनता ने कहा।

"वह देवों का राजा है, अथवा उनको अपनी तपश्चर्या का फल देनेवाला ब्राह्मण ?" हँसकर रक्षा ने इन्द्र का उपहास किया। तीनों सखियाँ हँस पड़ीं। परन्तु शची का मुख गम्भीर ही रहा। उसे मानो इन्द्र की बात में कोई रस ही न हो!

"तुम कुछ बोलती क्यों नहीं शची ?" मन्थरा ने पूछा।

"मैं ? किस विषय में बोलूँ ?" शची ने प्रश्न किया।

"क्यों ? इन्द्र के विषय में तुम्हारा क्या मत है ?" विनता ने कहा।

"मेरे मत की इन्द्र को कोई आवश्यकता भी होगी ?" शची ने बे-मन से पूछा।

"यह तो तुम्हीं बता सकती हो। उसके साथ तुम्हीं अधिक घूमी-फिरी हो। तुम उसे अधिक पहचानती हो। तुम्हें देवताओं का वह राजा कैसा लगा ?" रक्षा ने पूछा।

रक्षा के ये वाक्य उसके मन के भाव को अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करते थे। वह चाहती थी कि वृत्र इस बात को जान ले कि इन्द्र और शची किसी-न-किसी बहाने से एक दूसरे के अधिकाधिक संसर्ग में आते रहे हैं। इसी लिए वह ऐसे प्रश्न पूछती थी जिससे वृत्र वास्तविक परिस्थिति से अवगत होकर रक्षा की ओर आकृष्ट हो सके।

"जो तुम्हारा वही मेरा मत! देवों ने उसे इन्द्रासन के लिए पसन्द किया, तब उसमें कोई विशिष्ट गुण तो देखा ही होगा।" शची ने उत्तर दिया।

"हमको तो उसमें क्षत्रियत्व से अधिक ब्राह्मणत्व ही दीख पड़ता है।" मन्थरा बोली।

"पर मुझे तो वह योद्धा के बदले कूटनीतिज्ञ लगता है—जहाँ-तहाँ झुक जाता है, और समझौता कर लेता है।" विनता ने कहा।

"वृत्र! इन्द्र के बारे में तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?" रथ चलाते हुए वृत्र से रक्षा ने पूछा। वह उसे भी बातचीत में सम्मिलित करना चाहती थी।

"मैं उसे समझ नहीं सका।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"जब तक युद्ध में वृत्र और इन्द्र एक दूसरे के सामने न आयें, वृत्र इन्द्र

का मूल्यांकन नहीं कर सकता !" शची ने कहा । उसे अपनी कल्पना में युद्ध-भूमि में एक दूसरे के सामने खड़े हुए वृत्र और इन्द्र दिखायी पड़े । जिस पुरुष की मूर्ति उसकी कल्पना में घूमती रहती उसे युद्ध-विजेता तो अवश्य होना चाहिए। वृत्र युद्ध के लिए तैयार था; परन्तु इन्द्र युद्ध को दूर हटाता था ! इन्द्र में वीरता होगी भी ?

"इन दोनों का द्वन्द्व-युद्ध दर्शनीय होगा ।" रत्ना मन्द मुस्कराहट के साथ बोली ।

"कैसा दृश्य होगा वह ?" मन्थरा ने पूछा ।

"भाला उठाये हुए वृत्र के सामने इन्द्र आँखें बन्द किये प्राणायाम करता होगा !" रत्ना ने कहा । रत्ना के इस काल्पनिक चित्र का आनन्द सब सखियों ने लिया और वे हँस पड़ीं । वृत्र जैसे वीर के सामने तप करते हुए इन्द्र का दृश्य सब को हास्यास्पद लगा ।

लेकिन वृत्र हँसा नहीं । वह बोला—"तुम सब भले ही इन्द्र पर हँसो, मैं नहीं हँस सकता ।"

"क्यों ?" शची ने पूछा ।

"वह तपस्वी है, इसलिए ।" वृत्र ने उत्तर दिया ।

"तात्पर्य ?" मन्थरा ने पूछा ।

"तात्पर्य यह कि समस्त देव-गणों के बल का स्रोत सन्निहित है इन्द्र की तपश्चर्या में ।" वृत्र ने उत्तर दिया ।

"और असुरों का बल ?" रत्ना ने पूछा ।

"उसे भी तपश्चर्या की आवश्यकता है—पूर्णता प्राप्त करने के लिए ।" वृत्र ने कहा ।

"लगता है कि तुम भी तपश्चर्या करना चाहते हो ।" रत्ना ने कहा ।

"हाँ, तुम लोगों को हरियुपीय पहुँचाकर मैं तपस्या करने चला जाऊँगा ।" वृत्र ने कहा ।

"चले जाओगे ? कहाँ ?" शची ने पूछा ।

"जहाँ मुझे स्वर्ग जीतने की शक्ति मिलेगी ।" वृत्र ने उत्तर दिया ।

"तुम्हें स्वर्ग जीतना है ? क्यों ? किस उद्देश्य से ?" शची ने पूछा ।

"असुर-सिंहासन के सामने स्वर्ग की भेंट रखने के लिए ।" वृत्र बोला ।

"इस समय तो दोनों के बीच सन्धि है और युद्ध का कोई कारण दीख नहीं पड़ता, तब स्वर्ग-विजय होगी कैसे ?" शची ने प्रश्न किया ।

"तुम्हारा और मेरा निश्चय है, पृथ्वी पर एकछत्र राज्य स्थापित करना ! इन्द्र का भी यही निश्चय है, और नहुष का भी ! मेरा छत्र असुरों का, तुम्हारा भी वही; इन्द्र देवों का एकछत्र चाहता है, और नहुष आर्यों का ! इन चार महेच्छाओं की टकराहट अनिवार्य है—आज नहीं तो कल ! मेरी तो मान्यता है कि एक प्रकार से युद्ध प्रारम्भ हो ही गया है ।" अश्वों को हाँकते-हाँकते वृत्र ने अपनी बात का स्पष्टीकरण किया ।

चारों युवतियों ने आश्चर्य के साथ एक-दूसरे की ओर देखा । कुछ क्षण चुप रहकर शची ने पूछा—"युद्ध का प्रारम्भ किसने किया ?"

"तुम्हीं ने । और किसने ?" वृत्र ने उत्तर दिया ।

"मैंने युद्ध की आज्ञा तो अभी तक दी नहीं है ।"—शची ने कहा ।

"यज्ञ-भाग की माँग घोषित करके तुमने यज्ञ छोड़ा और नहुष के नगर का भी परित्याग किया । इन कार्यों का और क्या अर्थ हो सकता है ?" वृत्र ने समझाया ।

"हमको यज्ञ-भाग देना वे स्वीकार करेंगे भी ?" शची ने प्रश्न किया ।

"तुम्हें यह सम्भव लगता है ? यदि सम्भव होता, तो त्वष्टा के आश्रम में ही उसकी स्पष्ट स्वीकृति मिल जाती । जिस दिन नहुष असुर-भाग स्वीकार करेगा आर्यावर्त की क्रोधाग्नि उसके विरुद्ध भभक उठेगी । युद्ध के बिना अब कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है ।"

"परन्तु इन्द्र की ओर से युद्ध की घोषणा कहाँ हुई ? वह तो युद्ध रोकने का प्रयत्न कर रहा है । देखा नहीं, उसने किस प्रकार त्वष्टा के आश्रम में पहुँचकर युद्ध को रोक दिया ?" शची ने वस्तु-स्थिति की ओर संकेत किया ।

"तुम नहुष और इन्द्र की चाल को अभी समझी नहीं ।" वृत्र ने कहा ।

"नहुष की चाल में कुछ समझने-जैसा है ही नहीं ! उसकी तो इच्छा है

कि....'' शची आगे बोल न सकी।

उसके वाक्य को वृत्र ने पूरा किया—''कि अन्त में तुमको प्रसन्न करके, अथवा बन्दी बनाकर भी वह पुलोमा का जमाता बन जाये !''

''लेकिन क्या मैं उसकी चाल को सफल होने दूँगी ?'' शची ने कुछ क्रुद्ध होकर कहा।

''जब तक सफल न होगा, प्रयत्न तो करता ही रहेगा। एक प्रयत्न तो अभी ही किया था। इन्द्र न होता तो युद्ध में क्या बाकी रह गया था।''

''अच्छा होता यदि युद्ध प्रारम्भ हो जाता ! नहुष की भी समझ में आ जाता कि असुर किस प्रकार युद्ध कर सकते हैं। परन्तु वृत्र, युद्ध को रोकने में इन्द्र की क्या चाल हो सकती है ?'' शची ने अपनी युद्धाकांक्षा व्यक्त करते हुए वृत्र से प्रश्न किया।

हाथ की लगाम ढीली करके वृत्र ने अश्वों को अपनी मर्जी पर छोड़ दिया और पीछे घूमकर शची से कहा—''मैंने अभी तक इन्द्र की चाल को समझा नहीं। तुम्हारी कुछ समझ में आता हो तो बताओ।''

''मेरी समझ में भी कुछ नहीं आता....''

''तुम्हारा रथ त्वष्टा के आश्रम की ओर कैसे गया, यह जानती हो ?''

''हम मार्ग से थोड़ा भटक गये।''

''तुम लोग मार्ग नहीं भूले, भुलावे में डाले गये।''

''क्या मतलब ?''

''हम लोगों के आर्य-प्रदेश में आने के बाद सारा मार्ग ही अदृश्य कर दिया गया !''

''सारा मार्ग क्यों ? किस उद्देश्य से ? और इतने थोड़े समय में ?''

''लौटने के समय तुम लोगों को देर हो और कठिनाइयाँ सहनी पड़ें और असुर-सेना सीधे मार्ग से तुम्हारी सहायता को न पहुँच सके, इस उद्देश्य से ! तुम लोग मार्ग नहीं भूले, आर्यों के बदले हुए मार्ग से ही आगे बढ़े। नहुष ने तो एक प्रकार से हम सब को घेर ही लिया था; इन्द्र न होता तो युद्ध अनिवार्य था !'' वृत्र ने कहा।

"परन्तु मैं यह जानना चाहती हूँ कि इन्द्र ने युद्ध क्यों रोका।" शची ने पूछा।

"यह तो मैं भी ठीक से नहीं जानता, परन्तु एक नयी बात सुनने में आयी है। वह यह कि इन्द्र नहुष को स्वर्ग की दूसरी राजधानी में ले जानेवाला है। वहाँ जाने के लिए दोनों ही यज्ञ के दूसरे दिन रवाना होने को थे।" वृत्र ने कहा।

"स्वर्ग की दो राजधानियाँ हैं!"

"हाँ। एक अमरापुरी, और दूसरी मेरु के ऊपर। इन्हीं दोनों स्थानों से आकर देव-गण आर्यों की इच्छा पूर्ण करते हैं।"

"इसका यह तात्पर्य है कि यदि देवों से युद्ध हुआ, तो हमें दोनों राजधानियाँ जीतनी पड़ेंगी।"

"हाँ।"

रथ आगे चला जा रहा था और बातचीत भी होती जा रही थी। अब वार्त्तालाप में गम्भीरता आ गयी थी। तभी सब लोग चुप हो गये। सब का ध्यान दूर से आनेवाली ध्वनि की ओर आकृष्ट हुआ। रुक-रुककर किसी प्रचंड ढोल के बजने की आवाज दूर से आ रही थी। पाँच-दस क्षण बीतते न बीतते तो दबी हुई परन्तु स्पष्ट ध्वनि आने लगी।

"क्या समाचार पहुँच गये?" ढोल की आवाज को दो-तीन बार सुनकर शची ने पूछा।

"हाँ।" वृत्र ने कहा।

"कैसे पहुँचे?"

"जब मैंने देखा कि हमारे मार्ग को अवरुद्ध किया गया है, तो मैंने शीघ्र ही अपनी सीमा में आदमी दौड़ाये। मालूम होता है कि वे पहुँच गये। इस ढोल की आवाज को सुनते ही असुर लोग शस्त्र धारण करके त्वष्टा के आश्रम की ओर चढ़ आयेंगे।"

"क्या अब भी इसकी आवश्यकता है?"

"नहीं। मैं भी यही सोच रहा हूँ कि देखते-ही-देखते यह ध्वनि हमारी

राजधानी में पहुँच जायेगी और महाराज पुलोमा चिन्तित हो उठेंगे। यद्यपि सेना के तैयार होने के पहले ही हम वहाँ पहुँच जायेंगे।"

ढोल तो एक ही स्थान पर बज रहा था; परन्तु उसकी प्रतिध्वनि पाँच-सात कोस तक सुनायी देती थी। वहाँ से दूसरा ढोल बजाया जाता, जो संकेत को आगे पहुँचा देता। इस प्रकार देखते ही-देखते सारे असुर-प्रदेश में यह नाद गूँजने लगता, और जहाँ-जहाँ सेना की छावनियाँ होतीं, सेना तैयार होकर नाद के संकेत पर आगे बढ़ने लगती। अन्य स्थानों के असुर नागरिक अपने काम-काज बन्द कर देते, और शस्त्र धारण कर सेना की सहायता के लिए दौड़ पड़ते। ऐसी व्यवस्था वृत्र द्वारा ही की गयी थी। इसमें सतर्कता भी अत्यधिक बरती जाती। इसलिए त्वष्टा के आश्रम में घिरे हुए असुर-प्रतिनिधि-मंडल को सहायता मिलने में देर न होती। शची को यह देखकर अपार सन्तोष हुआ कि असुर-प्रदेश और असुर-सेनापति दोनों ही प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने के लिए प्रस्तुत हैं। असुर-प्रदेश की ओर से कुछेक सैनिक टुकड़ियाँ आकर उससे मिली भी, जिन्हें आवश्यकता न होने के कारण उसने लौटा दिया। इस घटना से वृत्र को अपनी सेना की सन्नद्धता को कसौटी पर कसने का अवसर मिल गया। शची अपने राज्य की ऐसी सुव्यवस्था देखकर प्रसन्न हुई। उसने वृत्र से कहा—"शाबाश वृत्र! सुरक्षा का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया है तुमने।"

"हाँ; परन्तु इस व्यवस्था की तत्परता और सुचारुता देखकर मुझे एक आशंका हो रही है।" वृत्र ने कहा।

"कौन-सी?"

"इस ध्वनि के राजधानी में पहुँचते ही तत्काल देवों और आर्यों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा हो जायेगी।"

"इसे रोका नहीं जा सकता?"

"ढोल की ध्वनि बदलने की आज्ञा तो मैंने सैनिकों को दे दी है; परन्तु बदली हुई ध्वनि के पहुँचने के पहले ही सम्भवतः आर्य-प्रदेश पर आक्रमण शुरू हो गया होगा।"

"तो क्या इन्द्र और नहुष पकड़े जायेंगे ?" शची ने पूछा।

"अभी तो यह सम्भव नहीं है।"

"क्यों ?"

"नहुष अकेला होता, तो अवश्य पकड़ जाता; परन्तु इन्द्र को पकड़ना आसान नहीं है। और सो भी इस समय की परिस्थिति में।"

"क्यों ?"

"वह महारथी है, जहाँ कोई न जा सके, वहाँ वह अपना रथ ले जा सकता है, यकायक अदृश्य हो सकता है, और कोई कल्पना भी न कर सके ऐसे स्थान पर प्रकट हो सकता है।" वृत्र ने कहा। शची को नदी-किनारे स्थित इन्द्र का गुप्त स्थान याद आया, जिसमें उसने भी प्रवेश किया था।

"हुँः।" कहकर शची हँस पड़ी। उसकी हँसी में तिरस्कार था। सखियों को आश्चर्य हुआ। वृत्र ने भी ध्यान से उसके उद्गार को सुना, और स्वस्थ होकर रथ आगे चलाया। शची का ध्यान इन्द्र के महारथीत्व में उलझा रहा। देवों के चतुर्दिक् कितना विस्मयकारक वातावरण रचा गया था। इन्द्र यदि महारथी था तो शची में भी उससे दुगुनी सामर्थ्य थी। इन्द्र के अदृश्य हो जाने के रहस्य का पता वह अकेली खोज लायी थी। एक बार युद्ध में इन्द्र का सामना-भर हो जाये, फिर तो वह उसके बल की सच्ची थाह भी पा लेगी। और सिवा युद्ध के उससे भेंट करने का दूसरा अवसर मिलेगा भी कहाँ ? नहुष की नगरी में नदी-किनारे जब एकान्त में उससे भेंट हुई थी, तब इन्द्र ने न तो कोई अवांछनीय बात कही थी और न कोई अवांछनीय व्यवहार ही किया था। यदि वह ऐसा करता तो शची ने वहीं तत्काल एक असुर-राजकन्या की सामर्थ्य का परिचय भी दे दिया होता।

वह इन्द्र का बल था, अथवा निर्बलता ?

यदि निर्बलता हो, तो वह तिरस्कार का पात्र है।

परन्तु यदि सबल हो ?

शत्रु न होकर भी जो मित्र नहीं है ऐसे राज्य की तरुणी राजकुमारी इन्द्र को एकान्त में मिले, और इन्द्र का पौरुष उसका अपहरण करने पर उद्यत

न हो, इसे इन्द्र का संयम कहा जाय या क्लीवता? शची को इन्द्र शक्तिहीन, निश्चय-रहित, लोलुप और स्त्रियों के साथ छल-कपट करनेवाला प्रतीत नहीं हुआ। सभी उसको महान तपस्वी कहते थे। वह कौन-सा तप कर रहा है? उसका तपोबल कैसा होगा? यही तपस्वी इन्द्र आर्यों और देवों का सर्वानुमति से माना हुआ इष्टदेव है। शची ने भी बहुत से देवों को देखा था। एक था अश्विनीकुमार, बहुत ही सुन्दर—परन्तु अति स्वरूपवान पुरुष का शरीर लड़कियों-जैसा लगता है। उसने एक-आध प्रमुख मरुत को भी देखा था, लगता था जैसे देवों का कोई अनुचर हो! वरुण के भी दर्शन हुए थे—पानी भरा, पसीजता हुआ, चप-चप शरीरवाला! सूर्य बहुत तेजस्वी; परन्तु निरा एकमार्गी! उसकी लाल-लाल आँखें एक ही ओर देखा करती हैं! इन्द्र अवश्य इन सब में श्रेष्ठ था! उचित व्यक्ति ही देवाधिदेव निर्वाचित किया गया था।

अगर यह इन्द्र असुरों के बीच आकर रहे और असुरों से स्नेह करे, तो कैसा रहे?....वेणीपाल,....ऊँहुँ! अक्कड़!...रामाशिष*....ये सब हैं; परन्तु इन्द्र-जैसे कांचन-वर्ण का इनमें कोई नहीं! और इन्द्र की वह संस्कृत निरपेक्षिता तो किसी में भी नहीं। वृत्र भी कुछ कम नहीं है, इन्द्र के बहुत निकट पहुँच जाता है! परन्तु अभी उसकी देह से तप की तेज-किरणें प्रस्फुटित नहीं होतीं, और न वह अभी पुलोमा की दासता से मुक्त ही हो पाया है। उसके पास राज्य भी नहीं है। पुलोमा उसको नृपति-पद देना चाहते हैं, परन्तु वह लेने को तैयार नहीं। वह तेजस्वी अवश्य है। किसी का दान दिया हुआ राज्य वह लेगा नहीं। और जीतने के लिए तो केवल आर्यों और देवों के ही राज्य बचे हैं। वृत्र इन्द्र को पराजित कर सकता है? यदि तप करे तो सम्भव है कि कर सके! यदि वृत्र इन्द्र को नहीं जीत सकता, तो स्वयं शची ही उसे क्यों न जीते? इन्द्र की पराजय का अर्थ होगा शची की स्वर्ग-विजय! परन्तु मान लो

*असुर बेनीपाल—सीरिया का एक प्राचीन राजा; अक्कड़ एक पुरातन जनता का नाम—यहाँ व्यक्ति के नाम के लिए प्रयुक्त। रामाशिष—रेमेसिस, मिस्र का एक प्राचीन राजा। ये सब असुर-संस्कृति के प्रतिनिधि थे, ऐसी कल्पना यहाँ की गयी है।

इन्द्र पराजित न हुआ, विजयी हुआ ? तब तो वह शची को दासी भी बना सकता है ! क्या शची को दासत्व स्वीकार होगा ?

"नहीं !" शची ने सिर हिलाकर जोर से कहा ।

"यह क्या ? किस बात की ना कह रही हो ? क्या यहाँ उतरना नहीं है ? आज की रात यहीं रहना होगा ।" मन्थरा ने कहा ।

तब शची को खयाल आया कि सायंकाल का समय हो गया है । वृत्र ने मार्ग पर स्थित एक विश्रामगृह के सामने रथ को खड़ा कर दिया था । यह विश्रामगृह असुर सीमा में स्थित था । रथ को देखते ही विश्रामगृह में से बहुत-से सेवक बाहर निकल आये और अभ्यर्थनापूर्वक रथ की ओर दौड़े ।

"मैं तो सोच रही थी कि रुकने के बदले हम आगे ही बढ़ते चलेंगे।" शची ने कहा और अपने कथन तथा अपनी विचार-धारा और वास्तविक परिस्थिति के बीच बड़ी कुशलता से सामंजस्य स्थापित किया ।

"वृत्र पर भले ही हम दया न करें, परन्तु रथ के इन अश्वों को तो देखो चलते-चलते थक गये हैं ।" विनता ने कहा ।

"चार-चार मंजिलें पार कर चुके हैं ।" रम्भा ने कहा ।

"अच्छा ! चार मंजिलें पार कर आये ! आश्चर्य है ! मैं तो रथ की गति में इतनी तल्लीन हो गयी थी मानो तपस्या में बैठी हूँ !" शची ने कहा । वृत्र ने घूमकर उसकी ओर देखा, और उसके बाद रथ से नीचे उतर वह अश्वों की पीठ थपथपाने लगा ।

"तप ! तप ! तप ! तुम्हें यह आर्यों का पागलपन कहाँ से लग गया ? अगर ऐसा ही है तो छोड़ो महल, और जा बसो पर्णकुटि में !" विनता बोली । सखियाँ अक्सर आर्यों के प्रति शची के आकर्षण का उपहास किया करतीं और उपालंभ भी देती थीं ।

"तुम लोगों में से किसी को भी खबर नहीं कि आर्यों के प्रति मेरे आकर्षण का उद्देश्य क्या है ?" शची ने कहा ।

"कहो तभी न हम जानें ।" रम्भा बोली ।

"मुझे आर्यों पर विजय प्राप्त करनी है ।" शची ने उद्देश्य बताया ।

"आर्यों पर विजय तो असुरों ने बहुत बार प्राप्त की है।" मन्थरा ने कहा।

"मैं ऐसी विजय प्राप्त करना चाहती हूँ जो सनातन हो, जिसमें हमेशा के लिए आर्य मेरा स्वामित्व स्वीकार करें।" शची ने गर्व-भरे भाव से कहा।

"अब नीचे भी उतरना है या तप, आर्य और इन्द्र के मायाजाल में ही पड़े रहना है ?" विनता बोली।

"मैं किसी भी मायाजाल में पड़नेवाली नहीं, मेरा मन तो विजय के मुहूर्त्त को निर्धारित करने में लगा है।" रथ से उतरती हुई शची ने कहा। नीचे उतरकर उसने एक अश्व की पीठ थपथपायी।

"अब क्या विचार है ? आगे बढ़ना है, या इसी स्थान पर विश्राम करना है ?" रक्षा ने पूछा।

"तुम्हारा क्या विचार है, वृत्र ?" शची ने वृत्र से पूछा।

"जैसी तुम्हारी आज्ञा !" वृत्र ने उत्तर दिया।

"मैं तुम्हारा विचार जानना चाहती हूँ। आज्ञा उसके बाद दूँगी।" शची ने कहा।

"हमें न हो, परन्तु घोड़ों को तो आराम की आवश्यकता है।" वृत्र ने कहा।

"तब आज की रात यहीं रहा जाये।" शची ने आज्ञा दी।

सब लोग उसी विश्रामगृह में ठहरे। घोड़े रथ से छोड़ दिये गये। वहाँ के नौकरों ने शीघ्रता से सब की सुख-सुविधा की व्यवस्था कर दी। आस-पास की असुर-बस्तियों के स्थानीय नेता राजकुमारी और सेनापति के दर्शन के लिए आये, और सब तरह की सुविधाएँ उन्होंने कर दीं। आर्य और असुरों के बीच युद्ध आरम्भ होने का वातावरण सर्वत्र दिखायी दे रहा था, यद्यपि बाकायदा लड़ाई नहीं छिड़ी थी, केवल सीमाओं पर सैनिक छेड़-छाड़ या सीमा-सुरक्षा सम्बन्धी छोटी-मोटी झड़पें हो जाती थीं। नियमानुसार महायुद्ध का आरम्भ नहुष, इन्द्र और पुलोमा की नीति पर निर्भर करता था।

मनुष्य की प्रवृत्तियाँ सब-कुछ कर सकती हैं, परन्तु रात-दिन के क्रम को रोकने में असमर्थ हैं। पहली रात शची ने सखियों के साथ आर्यों के रक्षित आश्रम में बितायी; आज की रात वह असुर-प्रदेश में बिता रही थी। इस प्रकार

रातें बिताने में उसे जरा भी भय न हुआ। सोने के पहले शची ने वृत्र से पूछा—"युद्ध सीमा पर ही रुक जायेगा या आगे बढ़ेगा?"

"मेरी योजना तो यह है कि युद्ध का वातावरण बनते ही पहल करना और शत्रु-प्रदेश में दूर तक घुस जाना।"

"युद्ध की घोषणा समयोचित होगी?"

"सारा असुर-प्रदेश युद्ध चाहता है। जन-सभा की भी यही माँग थी। युद्ध इतने दिन रुका रहा, यही बहुत हुआ।"

"परन्तु युद्ध के लिए कोई उचित कारण तो होना चाहिए। या अकारण ही लड़ाई छेड़ दी जाये?"

"कारण कौन पूछता है और कौन बताता है?" वृत्र ने पूछा।

"कोई न पूछे, परन्तु अपने मन को तो विश्वास दिलाना ही होगा कि युद्ध अकारण नहीं है।"

"शची! अभी तक तुम्हें कारण नहीं दिखायी दिये?"

"उचित कारण नहीं दीखा; जिनकी ओर तुम संकेत करते हो, वे सब तो गौण बातें हैं—क्षुद्र! उपेक्षणीय!"

"असुर-सम्राट् की पुत्री को आर्य-सेना ने घेर लिया, इससे अधिक बड़ा कारण युद्ध के लिए क्या हो सकता है?"

"घेरने के बाद भी हम लोग कुशलपूर्वक हैं, स्वतन्त्र हैं।"

'त्वष्टा का आश्रम न होता, और इन्द्र समय पर न आता, तो क्या होता?"

"तब वास्तव में युद्ध शुरू होता। इन्द्र ने तो युद्ध को रोका।"

"तुम्हें बन्दी बनाने की नहुष की योजनाओं का विचार न भी करें, तब भी नाट्य-गृह और यज्ञशाला में हमारे स्थान को लेकर किया गया अपमान और असुर-भाग देने की अस्वीकृति आदि कितने ही कारण बताये जा सकते हैं।"

"मगर ये योजनाएँ सफल कहाँ हुईं?"

"यदि युद्ध की घोषणा न की जाये, तो ये योजनाएँ अवश्य सफल हो जायेंगी! शत्रुओं को अवकाश देना उचित नहीं।"

"क्यों?"

"कारण पूछती हो ? युद्ध न करने का भ। कोई कारण होता है ?"

"लाखों सुर, असुर और आर्यों की उसमें बलि चढ़ेगी ! वृत्र ! तुम्हें युद्ध का इतना आग्रह क्यों है ?"

"इसका कारण किसी दिन बताऊँगा ! परन्तु मैं तो यह मानता रहा हूँ कि मेरी अपेक्षा तुम्हीं युद्ध के लिए अधिक उत्सुक हो !"

"इसका कारण भी तुम जानते ही होगे। क्या किसी दिन उसे भी नहीं बताओगे ?"

"हम नहीं कहेंगे, तब भी सब लोग जान जायेंगे।"

"मैं युद्ध के लिए क्यो उत्सुक हूँ, इसे तुम जानते हो ?"

"जाने दो इस बात को। युद्ध न हो, मैंने ऐसा भी प्रयत्न किया है।"

"अच्छा ?"

"हाँ।"

"अब सब बातें हरियुपीय जाकर ही तय होंगी—पिताजी के समक्ष पूरा वृत्तान्त निवेदन करने के बाद। अभी सरहद पर भले ही छोटी-मोटी लड़ाइयाँ चलती रहें।" कहकर शची चुप हो गयी।

रात बढ़ गयी थी, इसलिए सब लोग सोने चले गये।

बिछौने में पड़े-पड़े शची पुनः विचारों में डूब गयी। मैं युद्ध के लिए उत्सुक हूँ, यह वृत्र ने कैसे जान लिया ? वृत्र को युद्ध की इतनी चाह क्यों है ? क्या वह इन्द्र की वीरता की थाह लेने का अवसर तो नहीं खोज रहा ? और खोज रहा है तो आखिर क्यों ? उसका उद्देश्य तो असुरों के वर्चस्व को बढ़ाना ही रहा है। कदाचित् दूसरा भी कोई कारण हो। सारी असुर-प्रजा को इस बात का विश्वास था कि कभी-न-कभी शची और वृत्र विवाह-बन्धन में बँधेंगे। दोनों के मिलने के अनेक अवसर आते थे। राजकार्य में पुलोमा कई बार शची से परामर्श करते, और सेनापति होने के कारण कभी-कभी वृत्र को भी शची के पास जाना पड़ता था। विवाह के लिए बहुत से असुर-वीर और नृपतियों के नाम शची के सामने रखे गये गये थे, परन्तु उन सब के सम्बन्ध में उसने अपनी अनिच्छा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दी थी। यद्यपि वृत्र का नाम

उसके सामने रखा नहीं गया था, यथापि पुलोमा की यह इच्छा अवश्य थी कि इन दोनों के बीच गहरा सद्भाव और स्नेह उत्पन्न हो सके तो अच्छा। वृत्र—युद्धप्रिय महारथी वृत्र भी शची के प्रति प्रेम का अनुभव करता था और उसे पूर्ण आशा थी कि उसका अद्वितीय पौरुष शची के मन को उसकी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहेगा। शची को भी वृत्र के प्रति सम्मान, सद्भाव और स्नेह था। परन्तु यह स्नेह कितना गहरा था, इसका पता किसी को न था। शची के मन में वृत्र के लिए मान और मैत्री-भाव अवश्य था, लेकिन उसके व्यवहार से प्रेम का पता न लगता था। शची स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को समझने लगी थी। वृत्र उससे प्रेम करता है, यह बात भी वह जानती थी, फिर भी न जाने क्यों उन दोनों में प्रेम की निकटता नहीं होने पायी थी—दुनिया चाहे जो भी समझे।

युद्ध का विचार करती हुई शची सोने के लिए गयी थी। लेकिन बिछौने में पड़े-पड़े भी उसे वे ही विचार आते रहे। देवासुर-संग्राम की मोरचेबन्दियों की वह मन-ही-मन रचना कर रही थी। युद्ध के लिए उसने अपनी तैयारियाँ कर ली थीं। देश के महान योद्धा और रथियों में शची का मूर्धन्य स्थान था। असुर-प्रजा जानती थी कि यदि युद्ध छिड़ गया, तो आर्यों और देवों के विरुद्ध शची भी वृत्र के समान ही भयंकर संग्राम करेगी।

परन्तु युद्ध किस लिए? असुरों की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए? सिन्धु और शतद्रु से लेकर सारी पश्चिमी दुनिया असुरों के ही अधिकार में थी। पूर्व और उत्तर में देवों और आर्यों के बड़े-बड़े संस्थान थे। एक दूसरे पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए बहुत-सी लड़ाइयाँ हो चुकी थीं। परन्तु युद्ध का कोई अन्तिम परिणाम नहीं हुआ था। एक युद्ध में असुर सौ कोस के भूमि-भाग पर अधिकार कर लेते तो दूसरे युद्ध में देव सौ कोस आगे धँस आते। न स्वर्ग के ऊपर असुर-ध्वज लहराया था, और न हरियुपीय पर देव-ध्वज फरकने लगा था। यदि असुर-ध्वज देवनगरी पर लहरा सके?

शची की आँखें बन्द हो गयीं।

शची ने इन्द्र को देखा, और देखा उसका अनुपम कान्तिवाला रूप!

स्वर्ग पर ध्वज स्थापित करता हुआ वह शची को निमन्त्रण क्यों देता था? हँसते मुख से, हाथ का स्पष्ट इशारा करते हुए? इशारा करनेवाला पुरुष क्या दुष्ट होगा? इन्द्र ऐसा दुष्ट क्यों नहीं लगता? क्या वह ध्वज स्थापित करने के लिए बुला रहा है? क्या असुरों ने स्वर्ग जीत लिया है? क्या इन्द्र असुरों को कर-प्रदान करनेवाला एक सामन्त बन गया है? इन्द्र का असुरों अथवा किसी का भी सामन्त बनना शची को क्यों प्रिय न लगा? पौरुष का पतित होना उचित नहीं! इन्द्र का केशकलाप! उसका भव्य ललाट! पर्वत के शिखर के समान सुदृढ़ स्कन्ध! विशाल वक्षस्थल! सिंह-कटि! अरे, अरे! असुर-कन्या शची स्वर्ग पर ध्वज लहरायेगी! अथवा एक शत्रु के शरीर-सौन्दर्य की प्रशस्ति लिखेगी? वृत्र जैसे असुर-यौवन के सम्पूर्ण आदर्श की अवगणना कर क्या शची इन्द्र की ओर आकर्षित हो रही है?

"शची! शची!" इन्द्र का सम्बोधन सुन पड़ा। पुरुष के उद्‌गार कभी-कभी इतने प्रिय क्यों लगते हैं?

घबराहट में शची ने आँखें बन्द कर लीं, परन्तु यह क्या? जब वह जागृत हुई, तब आँखें मसलती हुई शय्या में क्यों बैठी थी? इन्द्र कहाँ गया? इन्द्र उसके सपने में क्यों आया? शची ने बेचैनी का अनुभव किया। इन्द्र! इन्द्र! इन्द्र!—जब से उसे देखा वह बराबर शची के हृदय में प्रवेश करता जाता था। इस बात का प्रमाण उसे मिल गया! शची को अपनी निर्बलता पर क्रोध आया।

इतने में उसे पुनः सुनायी दिया—"शची! शची!"

वह भ्रम न था, किसी का आर्जवभरा उद्‌बोधन ही था। परन्तु था वह वृत्र का। द्वार में खड़ा हुआ वही उसको पुकार रहा था।

"क्या है, वृत्र? सोने क्यों नहीं देते?" शची ने मुख चढ़ाकर उत्तर दिया। पास में सोयी हुई सखियाँ जागकर शय्या में बैठ गयीं।

"तुम्हारी आज्ञा चाहिए।" वृत्र ने कहा?

"तुमको सब अधिकार प्राप्त हैं। जो योग्य समझो वह करो।" शची ने कहा।

"जहाँ तुम, महाराज पुलोमा और अमात्यमंडल उपस्थित हो, वहाँ पूछे बिना मैं अपने किसी भी अधिकार को उपयोग में नहीं लाता।"

"ऐसी कौन-सी बात पूछनी है? बाहर यह कैसी आवाज हो रही है? मालूम पड़ता है जैसे पशुओं का कोई भारी यूथ हो।"

"हाँ, पशुओं का यूथ हो है। हमारे सैनिक आर्यों की गायों के एक बड़े समूह को पकड़ लाये हैं।"

"अब क्या हो?"

"जैसी तुम आज्ञा दो, किया जाये। कहो तो यहीं बाँध रखें और यदि तुम्हारी आज्ञा हो, तो आर्यों को लौटा दें।" वृत्र ने कहा।

"यदि न लौटायें?"

"तो युद्ध अनिवार्य हो जायेगा। फिर हम पीछे हट न सकेंगे। यही समय है जब हमको निर्णय करना होगा कि आर्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा जाये या नहीं। गायों को लौटा दें तो ये सीमावर्ती झड़पें रोकी जा सकती हैं।"

"गायों को लौटाने की आवश्यकता नहीं।" शची ने आज्ञा दी।

"आर्यों की दृष्टि में गाय एक अति पवित्र प्राणी है। उनको छुड़ाने के लिए आर्यों के झुंड-के-झुंड प्रभात होते ही यहाँ पहुँच जायेंगे। हमारे न देने पर युद्ध होगा—महाभयंकर और संहारक और एक बार छिड़ जाने पर उस युद्ध में से पीछे हटना असम्भव हो जायेगा।"

"युद्ध का भय लगता है?"

"सैनिक युद्ध के लिए सर्वदा तैयार रहता है। भय का तो कोई प्रश्न ही नहीं। मैं तो भविष्य का विचार कर रहा हूँ।"

"भविष्य क्या इतना भयंकर है?"

युद्ध में देव भी आयेंगे।"

"क्या हुआ?"

"रात्रि के प्रथम पहर में तुम्हारी बातों से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो युद्ध तुमको पसन्द नहीं।"

"यह धारणा कैसे हुई?"

"तुम्हारी बातों से। मुझे ऐसा लगा मानो इन्द्र की शान्ति-प्रियता तुम्हें पसन्द आयी।"

"इन्द्र यदि शान्ति चाहे तो हमसे माँग सकता है। इस समय उस बात से क्या लाभ ?"

"मुझे ऐसा भी आभास हुआ था कि तुम इन्द्र को नाराज करना नहीं चाहती।"

"इन्द्र को प्रसन्न या अप्रसन्न करने का मेरे लिए कोई विशेष प्रयोजन ?"

"यह तो तुम्हीं जानो ! मैं क्या बताऊँ ?"

"तुम्हारे कहने का तात्पर्य मैं समझी नहीं।"

"तात्पर्य कुछ विशेष नहीं। गायों को हरियुपीय हाँक ले जाना कठिन है। और सशस्त्र आर्यों के समूह यहाँ पहुँचते ही होंगे। युद्ध छिड़ जाने पर वह चलता रहेगा। इस समय ऐसे युद्ध के लिए महाराज की सम्मति प्राप्त करना भी असम्भव है। बाद में मुझे दोष न दिया जाये। परामर्श के लिए यदि आवश्यकता हो, तो इन्द्र अभी उपलब्ध हो सकता है, वह दूर न गया होगा।"

"तुम लोगों को क्या हो गया है ? हमेशा इन्द्र-इन्द्र किया करते हो ? उसके साथ भी युद्ध करना पड़े, तो डर क्या है ! अच्छा, जरा गायों को मैं भी देख लूँ।" कहती हुई शची खड़ी हो गयी।

बाहर गायों का झुंड तरह-तरह की आवाजें कर रहा था। रात प्रायः पूरी होने आयी थी। सबको साथ लेकर शची बाहर आयी। उसने देखा कि कुछ असुर-सैनिकों के बीच में सौ-सवा सौ गायें अस्थिर खड़ी थीं। शची को आते देखकर गायों के इस झुंड ने पूँछ ऊँची करके, कान हिलाते हुए, चारों पाँव उछाले और मस्तक नीचे करके सींग तानकर सैनिकों पर भयंकर आक्रमण कर दिया। रस्से और लाठियों से सज्ज सैनिक यदि सावधान न होते, तो गायें उनको घायल करके भाग जातीं। सैनिकों ने बड़ी कठिनाई से लाठियों से मारकर, गले में रस्सों के फन्दे डालकर, और भालों की नोकें शरीर में चुभोकर गायों को काबू में रखा। इतना होने पर भी गायें क्रुद्ध तो दीख ही पड़ रही थीं।

शची को ये गायें बहुत प्रिय लगीं। हस्ति-शावक समान इन गायों में कोई शुभ्र रंग की थी, कोई काली, कोई कपिला, और कोई मिश्रित रंग की। गायों की आँखों में क्रोध था, मरने-मारने की उनकी तैयारी थी। रज्जु-बन्धन को तोड़ने का ये बराबर प्रयत्न कर रही थीं।

"आर्यों की तो गायें भी बड़ी लड़ाकू हैं।" हँसकर शची ने कहा।

"शची की आवाज सुनकर गायों के कान खड़े हो गये, और वे एकटक उसको देखने लगीं।

"छोड़ दो इस पाप को!" मन्थरा बोली।

"नहीं, नहीं; हम इन्हें पालेंगे।" शची ने कहा।

"मन्थरा! गाय को यदि पाप के नाम से सम्बोधित किया और किसी आर्य ने सुन लिया तो वह जहाँ खड़ा होगा, वहीं से बाण द्वारा तुम्हें बींध डालेगा।" वृत्र ने हँसकर कहा—"आर्यों की दृष्टि में गाय केवल धन ही नहीं उनकी पूज्य माता है, आधार देनेवाली पृथ्वी!"

वृत्र का यह कथन पूरा भी नहीं हो पाया था कि सचमुच पास की पहाड़ी के पीछे से एक बाण सनसनाता हुआ आया, और शची तथा मन्थरा के बीच में से होता हुआ विश्रान्तिगृह की दीवाल में घुस गया। वृत्र भी तैयार हो गया। उसने विश्रान्तिगृह की दीवाल पर लटकायी हुई ढाल और भाले को हाथों में लिया, और हुंकार करता हुआ सीधा पहाड़ी की ओर दौड़ा। उसके साथ दस-बारह सैनिक भी दौड़ पड़े। असुर सैनिकों पर बाण-वृष्टि होने लगी, और चार-पाँच असुर घायल भी हुए। वृत्र दौड़ता हुआ पहाड़ी के दूसरी ओर निकल गया था। कुछ देर बाद वह दो घायल आर्यों को घसीटता हुआ शची के सामने ले आया। इनको देखते ही गायों ने पुनः रँभाकर उछलने की कोशिश की। पकड़े गये आर्यों में से एक ने मीठा पुचारा दिया, जिसे समझकर गायें शान्त हो गयीं।

"तुम कौन हो?" शची ने उन दोनों आर्यों से पूछा।

"हम आर्य हैं, इन गायों की रक्षा करनेवाले!" एक आर्य ने उत्तर दिया।

"हमारे प्रदेश में क्यों आये?"

"आपके सैनिक हमारी गायों का अपहरण कर यहाँ ले आये हैं। उनका

यह कार्य हम सहन नहीं कर सकते ।"

"तुम दो व्यक्ति क्या कर लोगे ?"

"हम, दो ही नहीं हैं । हमारे पीछे समस्त आर्य-बस्तियाँ हैं ।"

"थोड़े से पशु हमारे हाथ में आ गये, इसके लिए इतनी धमकी देते हो ?"

"आप जो भी हों ! परन्तु इतना आपको बता दूँ कि गाय पशु नहीं, हमारी माता है, हमारा सौभाग्य है । जब तक हमारे शरीर में प्राण रहेगा, तब तक इनका अपहरण न होने देंगे ।" दूसरे आर्य ने उत्तर दिया ।

"ये गायें हमारी हद में चर रही थीं, इसलिए पकड़ लाये ।" एक असुर ने कहा ।

"झूठ ! अपनी हद छोड़कर ये गायें कहीं जा नहीं सकतीं ।" आर्य ने कहा ।

"झूठ कैसे ! गायों के आधे समूह की पूँछें हमारी सरहद के अन्दर उछल रही थीं !"

शची खिलखिलाकर हँस पड़ी । सरहद के झगड़े कितने हास्यास्पद होते हैं ? गाय की देह आर्य-हद में और पूँछ असुर-हद में ! यह झगड़ा भी खूब रहा । उसने पूछा—"ऐसा क्यों हुआ ?"

"अकस्मात् किसी व्याघ्र का सामना करना पड़े, तो नहीं कह सकते, परन्तु साधारणतः ये गायें अपनी हद छोड़कर आगे नहीं जातीं । ऐसी कोई असाधारण घटना घट गयी हो, तो आपको क्षमा करना चाहिए ।" आर्य ने विनती की ।

"मैं क्षमा न करूँ, तो ?"

"तो...." आर्य ने एक संकेत किया, जिसे सुनते ही सब-की-सब गायें उत्तेजित हो गयीं । गायों ने इतना उपद्रव मचाया कि वह स्थान युद्ध-भूमि-सा दीख पड़ने लगा । दो-चार गायें घायल होकर मृत-प्रायः भी हो गयीं । अन्त में उनको और आर्यों को बन्दी करना पड़ा । शची ने इन सब बन्दियों को आगे ले जाने की आज्ञा दी । साथ ही उसने इस बात की भी सूचना दी कि जिस आर्य को और जिन गायों को चोट लगी हो, उन्हें विश्रामगृह में रोककर योग्य चिकित्सा की जाये, और स्वस्थ होने पर चौकी-पहरे में आगे भेजा जाये ।

रथ में बैठकर वृत्र, शची और सखियाँ आगे चलीं।

"गायों के चरानेवाले भी यज्ञोपवीत पहनते हैं?" मन्थरा ने पूछा।

"आर्य-बस्तियों में सभी उपवीत धारण करते हैं....स्त्रियाँ भी।" वृत्र ने कहा।

"क्या गायें भी उपवीत पहनती हैं?" हँसकर रत्ना ने पूछा।

"कितनी हृष्ट-पुष्ट गायें हैं! वृत्र, हमारे प्रदेश में भी इसी तरह गोपालन होना चाहिए।" शची ने कहा।

"शुक्राचार्य के आने के बाद यह भी हो सकेगा।" वृत्र ने कहा।

"उनको कोई—इन्द्र या नहुष—रोकेगा तो नहीं?" शची ने पूछा, और एकाएक अपने होठ दबा लिये।

'फिर वही इन्द्र!' शची मन में बोल उठी।

"शुक्र को कोई रोक नहीं सकता! देखा नहीं, सारा यज्ञ उसने किस भाँति कराया?" वृत्र ने कहा। और इस बात की भी चर्चा की कि वह शुक्राचार्य से किस प्रकार मिला था। उसने इस बात पर भी अपनी राय दी कि असुर-नगर में कहाँ और किस प्रकार उनके आश्रम की स्थापना करना चाहिए। राजधानी में पहुँचते-पहुँचते दिन तो पूरा हो ही जाना था। मार्ग में युद्ध की व्यापकता के समाचार बराबर मिलते जाते थे।

युद्ध-प्रेरक ढोल के संकेत पर सारा असुर-देश युद्ध की तैयारी में लग गया था।

और युद्ध की तैयारी का अर्थ भी युद्ध ही होता है!

बहाना चाहे कोई भी क्यों न हो। गाय की पूँछ या सींग ने सरहद पार की या आर्य अथवा असुर के श्वासोच्छ्वास ने सीमोल्लंघन किया। तब तो दृष्टि को भी सरहद का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। आक्रमण और युद्ध की आकांक्षा रखनेवाले आर्यों और असुरों को आखिर युद्ध का बहाना मिल ही गया—फिर वह हवा में से, यज्ञ में से, यज्ञमंडप में बैठने के स्थान में से ही क्यों न उद्भवित हुआ हो। नहुष की शची-कामना ने उस युद्धेषणा को और धारदार बना दिया।

[१६]

असुरनगरी के पास बहनेवाली नदी के तट पर महाराज पुलोमा ने शुक्राचार्य को अपना आश्रम बनाने की सब सुविधाएँ प्रदान कीं। शुक्राचार्य को आर्य अथवा असुर-प्रदेश में रहने के लिए भी महल-मन्दिरों की कमी न थी। परन्तु उन्हें महलों की आवश्यकता न थी। उन्हें अपने धर्म-कार्य और पठन-पाठन के लिए एक यज्ञशाला, एक पाठशाला और एक दालान पर्याप्त थे। रहने के लिए तो मात्र एक पर्णकुटी की आवश्यकता थी। इस आश्रम में उनका मुख्य कार्य था असुरों को आर्यों की शैली से विद्याभ्यास कराना। इस अभ्यास-क्रम में युद्ध-विद्या का भी समावेश होता था। आर्यत्व को तथाकथित आर्यों तक सीमित रखने की संकुचित वृत्ति का बहुत से तेजस्वी आर्य विरोध करते थे। महर्षि त्वष्टा भी उनमें से एक थे। अपने विचारों और आदर्शों के लिए उन्होंने तरह-तरह की यातनाएँ भुगती थीं; यहाँ तक कि अपने होनहार पुत्र विश्वरूप को भी उन्हें गँवाना पड़ा था। यह सब जानते-बूझते हुए भी शुक्राचार्य आर्यभूमि को छोड़कर असुरों के देश में आये थे। आर्य और असुरों के बीच युद्ध छिड़ गया था। बहुत बार ऐसा होता है कि जब तक जातीय अथवा राष्ट्रीय अभिमान को धक्के नहीं लगते, उनमें मृदुता नहीं आ पाती। कभी-कभी इच्छा न होने पर भी युद्ध की घोषणा करनी पड़ती है और आर्यों और असुरों के बीच अनेक बार ऐसे अवसर आ जाते थे। दोनों के अहंकार के बीच में पड़नेवाले उदार-मना व्यक्ति को अनेक आपत्तियाँ सहन करनी पड़ती थीं। वर्तमान इन्द्र के पूर्ववर्ती इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का वध किया था। शुक्राचार्य को वर्तमान इन्द्र का स्वभाव, आचरण तथा विचार सभी कुछ अनुकूल मालूम होते थे, और आशा थी कि उनके युग में आर्य उदार हो सकेंगे, और आर्य-असुर झगड़े बन्द हो जायँगे।

कुछ समय के लिए दोनों जातियों में शान्ति भी स्थापित हुई। परन्तु आर्यों द्वारा इन्द्र को श्रेष्ठ स्थान दिया जाना असुरों को मान्य न हुआ।

"हम आपका स्वागत करते हैं। यहाँ आप निर्भय होकर अपने आश्रम-धर्म

का पालन करें। मात्र एक ही बात की मनाही रहेगी, इन्द्र के प्रीत्यर्थ यज्ञ यहाँ न हो सकेगा।" महाराज पुलोमा ने शुक्राचार्य का स्वागत करते हुए कहा।

"हम यज्ञ किसी स्थल-रक्षक, गुण-रक्षक, कृपालु अथवा किसी जाति-विशेष के देवों के प्रीत्यर्थ नहीं करते। हम यज्ञ करते हैं विश्वरूप यज्ञ-पुरुष को प्रीत्यर्थ!" शुक्राचार्य ने आर्यों के यज्ञ-हेतु का स्पष्टीकरण किया।

"यह हमें मान्य है। परन्तु आर्यों द्वारा स्वीकृत किसी भी देव के प्रीत्यर्थ आप यज्ञ न करें, यही हमारा अनुरोध है।"

"देवाधिदेव ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के सम्मुख देव, असुर, आर्य अथवा अनार्य का भेद नहीं है। मैं असुरों को यज्ञ-कार्य की शिक्षा दूँगा। मैं तो सब जातियों में एकता बढ़ाने आया हूँ। और एतदर्थ जो-जो प्रयोग मैंने प्रारम्भ किये हैं, उन्हें शान्तिपूर्वक पूरा करना चाहता हूँ।" शुक्र ने कहा।

"आपके कौन-से प्रयोग हैं!"

"मैं मृत-संजीवनी विद्या को प्राप्त करने के अपने प्रयोग में काफी आगे बढ़ गया हूँ। उपलब्धि होते-होते रह जाती है। आर्य प्रदेश के अनुदार वातावरण में सतत मानसिक अशान्ति बनी रहती थी, यहाँ भी यदि शान्ति न मिली, तो मेरा प्रयोग निष्फल हो जायेगा।"

"मृत-संजीवनी विद्या!"

असुरों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने शुक्राचार्य को अपना गुरु बनाया, और उनके प्रयोग में जरा भी विघ्न न हो, ऐसा प्रबन्ध कर दिया। शुक्राचार्य का यह प्रयोग यदि सफल हो गया, तो आर्य और देवों पर विजय प्राप्त कर एक नयी चीज असुरों के हाथ में आ जायेगी।

असुरों के साथ रहने की शुक्राचार्य की भी दो शर्तें थीं—एक तो यह कि असुरों के गुरु रहते हुए भी वे अपने आर्यत्व का परित्याग नहीं करेंगे; और दूसरी यह कि आर्य-असुर युद्ध में वे पूर्ण रीति से तटस्थ रहेंगे। यद्यपि दोनों प्रजाओं को एक-दूसरे के निकट लाने के अपने प्रयत्न सतत करते ही रहेंगे!

नहुष के यज्ञ के बाद आर्य और असुरों की सीमाई झड़पें शुरू हो गयी थीं। परन्तु अभी तक किसी ओर से विशाल पैमाने पर आक्रमण नहीं हुए थे। कारण

यह था कि एक ओर नहुष की अनुपस्थिति में युद्ध के लिए आवश्यक संगठन नहीं हो पाया था। इन्द्र के साथ स्वर्गभूमि में गया हुआ नहुष अभी लौटा न था, और अपने चक्रवर्ती राजा की अनुपस्थिति में विशाल पैमाने पर युद्ध छेड़ना आर्यों को उचित नहीं लग रहा था। दूसरी ओर शुक्राचार्य का प्रभाव भी असुरों को भयंकर युद्ध छेड़ने से रोकता था। असुर-नेता अपने आर्य-गुरु और उनकी भावनाओं को समझने में इतने तल्लीन थे कि तत्काल घमासान युद्ध शुरू करने की प्रवृत्ति नहीं हो रही थी। इस समय तो सरहद पर साधारण झड़पें होती थीं। सीमावर्ती छावनियों से निकलकर असुरों की टोलियाँ आर्यों की हद में घुस जातीं, उनकी गायें पकड़ लातीं, यज्ञ का ध्वंस करतीं और जनपद की कृषि तथा धान्य-भंडारों में आग लगा देतीं। आर्य असुरों के आक्रमण को रोकते, अपनी गायें वापस छीन लाते, यज्ञ-स्थानों को अधिक सुरक्षित बनाते और मैदानों में स्थापित अपने आश्रमों को पर्वत-शृंगों के ऊपर ले जाते! आर्यों की युद्ध करने की परिपाटी विलक्षण थी। वे आक्रमणों का उचित रीति से सामना करते थे; अपनी गायों को पुनः प्राप्त करने के लिए वीरता से लड़ते थे; परन्तु युद्ध के लिए आनेवाले सैनिकों को छोड़कर न तो वे और किसी को मारते, और न कष्ट ही पहुँचाते थे। अन्न को वे देवस्वरूप मानते थे, अतः शत्रुओं के अन्न को भी न तो वे जलाते और न लूटते ही थे। पशुओं को भी पशुपति द्वारा रक्षित मानकर उनका संहार नहीं करते थे। इस प्रकार प्रारम्भ में बस्तियों का स्थानान्तरण होना और पुनः बसना, यही युद्ध का रूप रहा। इसका कोई बुरा परिणाम भी न हुआ। मानो बड़े पैमाने पर युद्ध की शिक्षा जनता को मिल रही हो, इस प्रकार की गति से प्रारम्भिक लड़ाइयाँ चल रही थीं।

ऐसे ही समय में एक बार गुरु शुक्राचार्य अपनी प्रभात-सन्ध्या से निवृत्त होकर नदी-तट से आश्रम की ओर आ रहे थे। उस समय सामने से वृत्र आता हुआ दीख पड़ा।

"कहो असुर-श्रेष्ठ! प्रभात में इधर कैसे आना हुआ?" प्रणाम करते हुए वृत्र को आशीष मुद्रा के साथ शुक्राचार्य ने पूछा।

"असुर-श्रेष्ठ हम हैं या नहीं, यह तो नहीं जानते; परन्तु आर्य-श्रेष्ठ बनने

की प्रबल इच्छा अवश्य है, गुरुजी !"

"तुम्हारे व्यक्तित्व में वह भव्य शक्ति पहले से विद्यमान है, इसे मैं जानता हूँ। तुमको आर्य-श्रेष्ठ बनने में बहुत देर न लगेगी।"

"आय-श्रेष्ठ बनने में मुझे कितना समय लगेगा ?"

"असुरों में उपनयन संस्कार की विधि तो त्वष्टा ने शुरू कर ही दी थी ! इस संस्कार को सम्पन्न करके तुम आयं बन सकते हो।"

"मुझे आर्य नहीं, आर्य-श्रेष्ठ बनना है।"

"आर्य-श्रेष्ठ का अर्थ जानते हो? आर्यों में श्रेष्ठ होते हैं महर्षि अथवा ब्रह्मर्षि-सप्तर्षि में जो स्थान प्राप्त कर सकें ! राजाओं में श्रेष्ठ होते हैं चक्रवर्ती ! और देवों में इन्द्र !"

"मैं इन्द्र बनूँगा।"

"इन्द्र-पद तो तपश्चर्या का फल है, जन्म-जन्मान्तरों के सत्कार्यों का फल है; इस जन्म में वह मिल नहीं सकता।"

"क्यों ?"

"देवताओं का समूह सर्वानुमति से जिसे पसन्द करे वही इन्द्र-पद प्राप्त कर सकता है। और इस समय तो इन्द्र हैं ही।"

"उन्हें निकालकर स्वर्ग जीत लूँ और अपने पराक्रम से इन्द्रासन पर बैठूँ, तो ?"

"यहाँ क्या बुराई है ?" वृत्र की योजना सुनकर थोड़े आश्चर्य का अनुभव करते हुए शुक्राचार्य ने पूछा।

"यहाँ तो मैं सेवक हूँ !

"तुम्हें शीघ्र असुर-राजपद प्राप्त होगा और पुलोमा उसे स्वीकार करेंगे।"

"परन्तु छत्र तो पुलोमा का ही होगा न ? मुझे तो अपना छत्र चाहिए। असुरों के प्रति मेरी पूर्ण निष्ठा है। उनके राज्य अथवा राज्य-भाग की मुझे कामना नहीं।"

"इसका यह तात्पर्य कि तुम स्वर्ग के अधिपति बनना चाहते हो।" हँसकर शुक्राचार्य ने पूछा। स्वर्ग का कोई मोह शुक्र के मुख पर दिखायी न दिया।

"जी हाँ, और यह राज्य मुझे किसी के चरणों पर रखना है।"

"कोई सुन्दरी तो नहीं है ?" छोटी वय के होने पर भी अनुभवी शुक्र ने पूछा।

"हाँ ! आप जानते ही हैं कि आर्य और असुरों के बीच युद्ध आरम्भ हो चुका है।"

"परन्तु आर्यों को देवों की सहायता प्राप्त है।"

"भले ही हो। हमें देवों का कोई भय नहीं !"

"देवों के साथ युद्ध केवल शस्त्र-युद्ध नहीं, तप-युद्ध भी है और इस समय के इन्द्र-जैसा तप पहले के किसी इन्द्रासनधारी ने नहीं किया है।"

"मैं भी तप-युद्ध करूँगा।"

"कठिन है, वृत्र !"

"मेरी समझ में कोई भी कार्य कठिन नहीं।"

"क्यों ?"

"शस्त्र-युद्ध में मैं किसी भी व्यक्ति को जीतने न दूँगा—वह चाहे देव हो, मानव हो या दानव ! इतनी शक्ति मैंने अवश्य प्राप्त कर ली है। अब रहा तप-शक्ति का प्रश्न।....आपने एक बार समझाया था कि देवों के भी देव हैं। वे हैं ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ! और वे किसी के पक्षपाती नहीं- न देव के, न असुर के। अब कृपया मेरा मार्ग-दर्शन करें कि मुझको किस देवता की तपस्या करनी चाहिए।"

"सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ब्रह्म देवों के भी देव और समस्त जड़-चेतन के भी देव हैं ! जब ये स्रष्टा बनते हैं, तब ब्रह्मा कहलाते हैं, पोषण की इच्छा करते हैं, तब विष्णु और संहार करने पर तत्पर होते हैं, तब रुद्र ! परन्तु उनकी कला की यह खूबी है कि संहार में से सृष्टि होती है, और सृष्टि में से पोषण मिलता है; पोषण पुनः संहार की ओर ले जाता है ! वृत्र, युद्ध की आकांक्षा न करो। सृष्टि, पोषण तथा संहार के नियन्ता, सृजनहार ब्रह्म को पहचानो।" शुक्र ने कहा। इन शब्दों का उच्चारण करते-करते यह आर्य दार्शनिक समग्र विश्व के चमत्कार का रहस्य देख रहा हो, ऐसा भाव उसके मुख और नेत्रों पर आया। आसपास की सृष्टि का भान भूलकर मानों उसके नेत्र

किसी दिव्य प्रकाश को देख रहे हों! वृत्र ने भी शुक्र के इस भावावेश को देखा। वह उसे पसन्द भी आया।

"गुरुवर्य! मैं यह भी करूँगा, परन्तु तपश्चर्या में मुझे एक-एक सीढ़ी चढ़ने दें। पहले मुझे स्वर्ग का सिंहासन प्राप्त करने दें। यह आसन मैं अपने लिए नहीं, किसी दूसरे के लिए चाहता हूँ।"

"और यह 'दूसरा' भी है तो तुम्हारे ही लिए न।" वात्सल्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ शुक्र ने वृत्र का ध्यान उसके कथन की निर्बलता की ओर आकर्षित किया।

"मेरी सिद्धि इसी में है। इतना न हुआ, तो मैं जहाँ हूँ वहीं रह जाऊँगा, आगे न बढ़ सकूँगा, यहीं भटकता फिरूँगा और सृष्टि, पोषण तथा संहार की एकता समझ में न आयेगी।" वृत्र ने उत्तर दिया।

"तुम्हारे जैसे दृढ़ निश्चयी युवक का मार्ग निश्चित हुआ ही समझना चाहिए। साक्षात् ब्रह्म भी उस मार्ग से तुम्हें विचलित नहीं कर सकते। तुम्हें अब किसी के मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं। जैसी तुम्हारी इच्छा! देवों के साथ युद्ध को तेज करो। परन्तु याद रहे कि युद्ध का अन्त जय अथवा पराजय नहीं, सन्धि, सन्धि-विच्छेद और पुनः युद्ध—यही परम्परा है!"

"मेरे इन्द्रासन पर बैठने के बाद देवासुर-विग्रह सदा के लिए शान्त हो जायेगा।"

"हो सके तो अच्छा ही है! परन्तु मेरी दृष्टि इस परिणाम को नहीं देखती...."

"यह परिणाम मैं आपके चरणों में अर्पित करूँगा। हाँ, आप यह बताने की कृपा करें कि मैं किस देवाधिदेव को प्रसन्न करके आगे बढ़ूँ? देवों की भाँति असुरों के प्रति भी उनकी कृपा मैं प्राप्त कर सकूँगा या नहीं?"

"क्यों नहीं? ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की दृष्टि में तुममें और इन्द्र में कोई भेद-भाव नहीं होना चाहिए।"

"तो आप मुझे बतायें कि मैं किस देव की तपश्चर्या करूँ! हमेशा इन्द्र की तपश्चर्या का उदाहरण दिया जाता है। मुझे विश्वास है कि मैं भी तप का ऐश्वर्य

प्राप्त कर सकूँगा।"

"संहार के देव के पास जाओ। वे आशुतोष हैं। तुम्हारी इच्छा शीघ्र ही पूर्ण करेंगे। परन्तु इतना ध्यान रहे कि ये देव जितने सरल हैं, उनका वरदान उतना ही कठिन होता है। तपश्चर्या जितनी स्वार्थमय होगी, वरदान उतना ही अधूरा रहेगा। इसे निस्सन्देह मानकर चलो।"

"आचार्य! मैं आपको आर्य-प्रदेश से यहाँ ले आया हूँ। आप विश्वास रखें कि मैं कोई काम ऐसा न करूँगा, जिससे आपकी साधना में विघ्न पहुँचे।"

"वत्स! मुझे तो अमृत का निर्माण कर सब लोगों को पिलाना है—भले ही वे आर्य हों, अनार्य हों, देव हों, या दानव!" शुक्राचार्य ने अपना आदर्श वृत्र के सामने दुहराया।

वृत्र को यह आदर्श प्रिय लगा। परन्तु उसका लक्ष्य दुहरा था। हिमालय के मार्ग से उसे अलकापुरी पर आक्रमण करना था। महाराज पुलोमा की योजना मेरु पर धावा करके वहाँ गये हुए इन्द्र को वहीं रोक रखने की थी। इस प्रकार जब देवभूमि पर दो ओर से अचानक हमले किये जायें, उस समय शची राजधानी में रहकर आर्यों को दबाये रखे, यह सर्वसम्मति से निश्चित हुआ था। सरहद पर जो लड़ाइयाँ चल रही थीं, वे तो छोटी-छोटी झड़पें ही थीं। परन्तु उनकी ओट में भयंकर युद्ध करने की असुरों की तैयारियाँ हो रही थीं। आर्य और देवों को अभी तक इसका पता न था। इन्द्रदेव की शान्तिप्रियता सर्व-विदित थी। नहुष की अनार्य-प्रीति का भी सबको पता था। आर्य और असुरों के बीच, देव और असुरों के बीच मंत्रणाएँ भी होती ही रहती थीं, और वृद्ध त्वष्टा जैसे देवासुर-मैत्री के इच्छुक कितने ही आर्य महर्षि आर्यों के उग्र समुदाय को शान्त रखने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे।

आर्य नृपति नहुष इन्द्र के साथ स्वर्गभूमि में गये थे। वे अभी तक लौटकर आये नहीं थे, इसलिए भी आर्य-संगठन ने अभी जोर पकड़ा न था।

ऐसी परिस्थिति में असुर नेताओं ने गुप्त मंत्रणा करके त्रिपक्षीय आक्रमण की पूरी योजना बना डाली—देवों को दो ओर से रोकना, उनकी भूमि पर आक्रमण करके;-और आर्य तो असुर-राज्य की सीमा पर ही रहते थे, इसलिए

उनकी सारी शक्ति सीमावर्ती झगड़ों में फँसाकर नष्ट की जा सकती थी!

मेरु भूमि के ऊपर किये जानेवाले आक्रमण को सफल बनाने के लिए विशाल पश्चिम प्रदेश के असुर राज्य भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ तैयार थे। इस प्रकार देवों पर विजय प्राप्त करने का असुरों ने यह अन्तिम महान् प्रयास शुरू किया। इस प्रयास को सफल बनाने के लिए पूरी योजना बन गयी थी, और तदनुसार सर्वप्रथम वृत्र गुप्त रीति से अलकापुरी की ओर प्रयाण करनेवाला था। असुरों के लिए भी परिस्थिति भय से मुक्त न थी। पश्चिम की ओर असुरों के विस्तृत राज्य होने से उस ओर से वे निश्चिन्त थे, और उनको यह भी विश्वास था कि उधर से बराबर सहायता मिलती रहेगी। आर्य-वृन्द असुरों के बीच में—असुरों के पास रहकर आर्यावर्त का निर्माण करते जाते थे, तथा अपने पूर्व की ओर रहनेवाले देवों की सहायता से असुर-सीमा को संकुचित करते जाते थे। युद्ध-बल में वे अपने को असुरों से कम न मानते थे। अपने संस्कारों का उन्हें इतना अधिक गर्व था कि अनार्यों को वे निम्नकोटि का समझते, और अपने संस्कार गर्व का इस प्रकार प्रदर्शन करते थे कि असुर सहित अन्य अनार्य प्रजा उसको सहन न कर सके। आर्यों का असुरों के प्रति तिरस्कार बलवान असुर प्रजा को असह्य हो उठा था।

बीच-बीच में दोनों पक्षों की ओर से युद्ध-निवारण के प्रयत्न होते रहते थे; परन्तु आत्माभिमान, संस्कार-गर्व और महत्वाकांक्षा की भावनाएँ इतनी व्यापक हो गयी थीं कि पारस्परिक युद्ध अनिवार्य हो गया था। पानी भरे बादलों में अपूर्व बल संचित हो गया था, विद्युत-रूप से, अथवा वर्षा-रूप से निकले बिना। इस बल के निस्सरण का अन्य कोई मार्ग दिखायी न देता था। हुआ भी ऐसा ही। बलि-भाग के अधिकार और स्थान-नियोजन के प्रश्न को लेकर युद्धाग्नि भभक उठी। पुलोमा के नेतृत्व में असुरों की एक विशाल वाहिनी उत्तर में मेरु की ओर दौड़ पड़ी, और दूसरी सेना को लेकर वृत्र ईशान कोण में हिमालय की ओर बढ़ा।

राजधानी छोड़ने के पहले जब वृत्र अश्वारूढ़ हुआ, तब शची ने उसे अपने पास राजमहल में बुलाया।

"शची ! मुझे क्यों बुलाया ?" वृत्र ने पूछा ।

"मध्यकेन्द्र से अब मुझी को समस्त आज्ञाएँ प्रदान करनी होंगी न ?" शची ने उत्तर दिया ।

"अभी ही क्यों ? तुम जब से पट्टकुमारी मान्य हुई, तभी से तुमको यह अधिकार है कि जहाँ से जब चाहो आज्ञा दे सकती हो।।"

"मेरी आज्ञा कभी भ्रममूलक तो सिद्ध नहीं हुई न ?"

"नहीं । इस समय कौन-सी आज्ञा देने के लिए मुझे बुलाया है ?"

"कुछ पूछने के लिए बुलाया है । आज्ञा बाद में दी जायेगी । मुझे पूछना है कि हिमालय में जाते हुए क्या तुम कैलाशपर रुकोगे ?"

"हाँ, मार्ग वहीं से बदलेगा । सेना आगे बढ़ेगी, परन्तु मैं शंकर के सान्निध्य में जाऊँगा, गुरु शुक्राचार्य की सूचनानुसार ।"

"शंकर का सान्निध्य क्यों ? वे तो देवताओं के देव हैं । असुरों को उनसे क्या मतलब ?"

"वे असुरों के भी इष्ट हैं । उनके सामने देव-दानव का कोई भेद नहीं। कितने प्रलय-तांडवों के पश्चात् उनको देव-भाग मिलना निश्चित हुआ, यह तुम जानती ही हो ? प्रजापति दक्ष का वध करने के बाद ही शंकर को देवताओं में स्थान मिला है ।"

"यह बात तो अब काफी पुरानी हो गयी है ।"

"पर एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि कैलाश का हिमासन प्राप्त करने-वाले किसी शंकर ने कभी देवकन्या अथवा आर्यकन्या से विवाह नहीं किया—वे सदा पसन्द करते रहे हैं पार्वती को—पर्वतीय कन्या को ही !" वृत्र ने कहा ।

शची के नेत्र नये प्रकाश से चमक उठे ।

"तुम क्या माँगोगे, शंकर से ?" शची ने पूछा

"देवों के विरुद्ध उनकी सहायता, अथवा उनकी तटस्थता ।"

"न दिया तो ?"

"तब देव और असुर दोनों का इष्ट प्राप्त करनेवाले ये तीनों महादेव—अरे तीनों महासुर—तटस्थता का अपना विरुद गँवा देंगे ।"

"महर्षियों में से ब्रह्मा का निर्वाचन होता है, देवों में से विष्णु का और पशुपतियों में से शंकर का। हम सब लोगों का समावेश पशुपतियों में था, जो अब कितने ही समय से बन्द हो गया है। शिव का पूजन हम अवश्य करते रहे, परन्तु शिव को छोड़ दिया। उनको देवों ने अपनाया।" शची ने कहा। शची जानती थी कि शंकर असुरों के इष्ट थे जो कालान्तर में देवों के इष्ट हो गये थे। दक्ष के वध के पश्चात् शंकर देव बन गये थे।"

"इतिहास जो भी हो! इन महादेवों की विशेषता यह है कि ये देव और असुर दोनों के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। तब शंकर का सान्निध्य मैं क्यों न प्राप्त करूँ?"

"मान लो कि शंकर ने तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया।"

"तब मैं एक ही छलाँग में अमरापुरी के द्वार पर पहुँच जाऊँगा।"

"इन्द्र पराजित होगा तभी न?"

"इन्द्र अभी मेरु के ऊपर ही है। सम्राट् पुलोमा उसे वहीं रोक रखेंगे। और यदि शंकर के रुद्रगण बीच में न आये, तो तुम मुझे शीघ्र ही स्वर्ग का अधीश्वर बना हुआ देखोगी।"

"तुम्हें राजा बनने की आकांक्षा है?"

"हाँ, शची!"

"क्यों?"

"बताऊँ? सच्चा कारण बताऊँ?"

"इसी लिए तो तुमको बुलाया है।"

"तो सुनो शची! स्वर्ग का राज्य प्राप्त करके उसे तुम्हारे चरणों में अर्पित करना है।"

"क्यों?"

"मेरी योग्यता में जो न्यूनता है, उसे दूर करने का यही एकमात्र उपाय समझ में आता है।"

"असुर-प्रदेश का कोई राज्य क्यों नहीं लेते?"

"असुरों के साथ रहकर मैं बड़ा हुआ हूँ। उनके विरुद्ध हाथ उठाने की

कृतघ्नता मुझसे न होगी।"

"और यदि स्वर्ग जीतने में निष्फल हुए?"

"तो मेरा कटा हुआ मस्तक तुम्हारे चरणों पर गिरेगा।"

"तुमको रक्षा का विचार नहीं आता?"

"आता है, वह है तुम्हारी दासी। और मैं पुलोमा का दास। तुमने ठीक ही हम दोनो को एक कक्षा में रखा है।" कहते हुए वृत्र तिरस्कारपूर्वक मुस्कराया।

"तुम्हीं एक ऐसे व्यक्ति निकले, जो रक्षा को मेरी दासी बताता है। और तुम पुलोमा के दास हो, यह किसने कहा?"

"बुरा न मानना, शची। यद्यपि हम दोनों में से किसी ने भी दासत्व का अनुभव नहीं किया, तथापि हमको यह तो समझना ही चाहिए कि हमारा यथार्थ स्थान कहाँ है?"

"वृत्र! क्या तुमको यह विश्वास है कि स्वर्ग के स्वतन्त्र राजा बनने के बाद मैं तुम्हें स्वीकार कर लूँगी?"

"आज तक की तुम्हारी बातचीत से तो यही ध्वनि निकलती रही है।"

"कदाचित् रक्षा ने तुमसे कहा होगा।"

"रक्षा ने कहा हो, या किसी ने कहा हो। मैं स्वयं भी तुम्हारे तर्क को समझ सकता हूँ।"

"एक सम्भावना की ओर तुम्हारा ध्यान गया ही नहीं।"

"कौन-सी।"

"तुम स्वर्ग के स्वतन्त्र राजा बनकर आओ, और फिर भी मैं तुम्हें अस्वीकार कर दूँ?"

"तो फिर तुम किसी को भी स्वीकार न करोगी। मेरे लिए इतना ही बस है।"

"तुम जानते हो कि मुझे तपस्वी प्रिय लगते हैं।"

"हाँ, मैंने भी शुक्राचार्य से तप की दीक्षा ली है। और इस बात को भी ध्यान में रखना, शची, कि स्वर्ग का राज्य प्राप्त करने के बाद इन्द्र भी मैं ही

बनूँगा।"

"तो क्या तुम भी इसी भ्रम में पड़े हो कि मैं इन्द्र पर मोहित हूँ?"

"कितने ही भ्रम सत्य साबित होते हैं। और तुम भी समझ लो कि मैं इन्द्र बनने के भ्रम में ही पड़ा हूँ।"

"इन्द्र को मैंने अपना शत्रु बनाया है, यह तुम जानते हो न? युद्ध की आज्ञा मैंने ही सबसे पहले दी।"

"जो भी हो। परन्तु इतना अवश्य है कि जब स्वर्ग पर मैं विजय प्राप्त करूँगा, तब वहाँ के सिंहासन पर इन्द्र न रहेगा। इतना ही नहीं, वह जीवित भी न रहेगा।"

"इसका यह अर्थ हुआ कि तुम असुर प्रतिनिधि के रूप में युद्ध करने नहीं जा रहे।"

"तब किस रूप में?"

"मेरा प्रेम जीतने के लिए प्रतिद्वन्द्वी बनकर?"

"दोनों बातें सच हैं, शची! और स्वर्ग का राज्य भी तो तुम्हारे ही चरणों पर रखा जायेगा?"

"अब तुम जा सकते हो। और अपने साथ इतना विश्वास भी लेते जाओ।"

"कैसा विश्वास?"

"कि मैं इन्द्र पर मोहित नहीं हूँ।"

"मुझे इसका विश्वास कैसे हो?"

"इस युद्ध की घोषणा से ही तुम्हें विश्वास होना चाहिए।"

"तुम क्या यह कहने को तैयार हो, शची, कि मैं जीता रहूँ, या मर जाऊँ, तब भी इन्द्र के साथ तुम्हारा युद्ध चालू रहेगा?"

"मैं वचन देती हूँ कि जब तक मैं अपना पाँव इन्द्रासन पर न रखूँगी, सुर-असुर का यह युद्ध रुकेगा नहीं, फिर उस पर बैठनेवाला इन्द्र कोई भी क्यों न हो—तुम हो या कोई और! असुरों के वर्चस्व का अंगीकार कराये बिना शची शस्त्र-कवच उतारेगी नहीं! बस? अब जाओ। युद्ध में विजय प्राप्त करो, शची और रक्षा दोनों को भूलकर! स्त्रियों की याद लेकर युद्ध नहीं होता, यही कहने

के लिए मैंने तुम्हें बुलाया था।'

"अच्छा! स्त्रियाँ भी इसे न भूलें कि युद्ध के समय पुरुष का स्मरण भी पाप है!" वृत्र ने उत्तर दिया।

"भयंकर से भयंकर क्षण में मैं तुम्हारे समीप ही युद्ध करती रहूँगी वृत्र!" कहती हुई शची खड़ी हो गयी और वृत्र की ओर से मुख घुमाकर पास के खंड में चली गयी। क्षण-भर रुककर वृत्र भी लौटा और अपनी सेना के साथ हो गया।

अन्तरगृह के झरोखे से शची की सखियाँ सेना को देख रही थीं। इस खंड में एक ओर से शची आयी; और इस खंड के दूसरी ओर से निकलकर वृत्र ने सेना के अग्रभाग में अपना स्थान लिया। शची ने भी असुर-वाहिनी को देखा।

"रक्षा! मैं अभी भी कहती हूँ कि तुम वृत्र की सेना के साथ जा सकती हो।" शची ने कहा।

"नहीं, शची! अब मुझे स्त्री-सैनिकों की टुकड़ी का नेतृत्व नहीं चाहिए।" रक्षा बोली।

"क्यों?"

"वृत्र की इच्छा नहीं है कि मैं उसके साथ जाऊँ।"

"तब?"

"मैं यहीं रहूँगी।"

"आवश्यकता पड़ने पर मेरे साथ तो चलोगी न?"

"नहीं; मुझे अपने पर ग्लानि आ रही है। मैं यहीं रहूँगी।"

"अकेली रहकर क्या करोगी?"

"शुक्राचार्य के पास वेदाध्ययन करूँगी।"

"और आर्यों की-सी एक ब्रह्मवादिनी बनोगी क्यों?"

"ब्रह्मवादिनी पर आर्य या अनार्य की छाप लगे, तो वह नाम निरर्थक ही है। शुक्र ने कहा है कि ब्रह्मवादिनी बनने के लिए मेरा असुरत्व बाधक न होगा।"

रक्षा की बात सुनकर शची ने सहज गर्व का अनुभव किया। उसकी सखी पुरुष की भर्त्सना का उत्तर रोकर नहीं, आँसू बहाकर नहीं, लम्बी साँसें छोड़कर नहीं, अपने नारीत्व के अभिमान से दे रही थी! स्त्री के प्रेम को पुरुष स्वीकार

न करे, तो स्त्री आँसू बहाती बैठी रहे, ऐसा स्त्री-धर्म शची को मान्य न था।

असुरों की श्रेष्ठता का अस्वीकार किये जाने पर आर्य और देवों के विरुद्ध युद्ध छिड़ गया। असुरों ने ऐसी तैयारी की थी कि आर्य और देवों का दर्प-भंजन हो, और वे असुरों की शरण में आयें, तथा उनके सम्राट् पुलोमा और उनकी पुत्री शची इन्द्रासन पर आसीन हो सकें।

इतना ही नहीं, पुरुष की श्रेष्ठता को भी शची इस युद्ध में धूल में मिला देगी! आज तक बड़े-बड़े असुर, आर्य और देवों के प्रेम को उसने ठुकराया था। प्रेम में पुरुष की ही विजय क्यों मानी जाये? शची इस प्रकार पुरुष को विजयी न होने देगी। देवत्व का प्रतीक इन्द्र, वृत्र असुरत्व का प्रतीक। अन्य पुरुषों में यही दोनों शची को विशिष्ट लगते थे! ऐसे पुरुषों के साथ मैत्री करना उसे प्रिय लगता था। परन्तु स्नेह करना और स्नेह करके उन्हें प्राप्त करना अलग-अलग है। इच्छित वस्तु को या इच्छित व्यक्ति को प्राप्त करने के दो ही मार्ग हैं—स्वपराक्रम से उसे हस्तगत करना अथवा उस वस्तु या व्यक्ति की शरण में जाना। मानव-जाति का पुरुष-वर्ग यही माने बैठा है कि स्त्रियों को प्रत्येक पुरुष अच्छा ही लगना चाहिए! और स्त्री को उसकी कीमत उसके हाथ का खिलौना बनकर चुकानी चाहिए! शची इन मान्यताओं को कभी स्वीकार नहीं करेगी। वृत्र के प्रति उसका मन कोमल हो रहा था। वृत्र ने भी यह सोचकर कि शची उसकी शरण में अवश्य आयेगी, अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था। वृत्र के मन में ज्योंही पुरुष-श्रेष्ठता का यह भाव आया, शची ने स्पष्ट कर दिया कि वह पुलोमा का एक सेवक है, यद्यपि वृत्र उसका बाल-सखा था, और शची उसके गुण तथा पुरुषार्थ से भी परिचित थी।

देवराज इन्द्र भी शची को प्रिय लगा था। वृत्र से वह कुछ अधिक प्रिय इस कारण लगा कि उसने प्रेम का प्रदर्शन न करके शिष्टाचार का प्रदर्शन किया था। केवल शिष्टाचार ही नहीं, सौम्यता भी दिखायी! इन दोनों गुणों से पुरुष स्त्री को पराजित करे, यह कल्पना भी शची के लिए असहनीय थी। परन्तु शची ही यदि इन्द्र की ओर आकर्षित होकर समर्पण की निर्बलता दिखाये, तो इस परिस्थिति को रोकने के लिए शची ने युद्ध छेड़ा और उसकी तीव्रता

को बढ़ाया था ।

अब वृत्र और इन्द्र का द्वन्द्व होगा ! और इसमें यदि इन्द्र पराजित हुआ, तो वृत्र स्वर्ग जीतकर शची के चरणों पर रखने का निश्चय करके ही रवाना हुआ है । स्वर्ग-विजय करने के बाद वह समान स्तर पर शची से मिलेगा ! परन्तु क्या इन्द्र वास्तव में हार जायेगा ? फिर इन्द्र का ध्यान आया ! बार-बार पुरुष का ही ध्यान ! शची ने तत्क्षण सारी पुरुष जाति को धक्का देकर अपने मन से बाहर निकाल दिया ।

[१७]

देव और असुरों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया था । सम्राट् पुलोमा प्रबल सेना लेकर देवों के मुख्य धाम मेरु की ओर बढ़ गये थे । राज्य की व्यवस्था के लिए शची हरियुपीय नगर में ही रही, जहाँ से वह अग्रिम मोरचों पर शस्त्र, साधन और सैनिक भी बराबर भेजती थी । वृत्र अमरावती की ओर दौड़ गया था । इन्द्र की अनुपस्थिति के कारण देवलोक में चिन्ता व्याप्त हो गयी । वृत्र का नाम देवों ने भी सुना था । इन्द्र के समान तपवाला यह असुर वीर युद्ध-बल में भी इन्द्र के बराबर ही माना जाता था,—यद्यपि अभी तक समर-स्थली में उनका आमना-सामना नहीं हुआ था । हिमाच्छादित पर्वतों को पार-कर, वन-उपवनों को कुचलती, नदी-नालों का उल्लंघन करती वृत्र की सेना आर्य-प्रदेश को चीरती हुई देव-भूमि की सीमा के पास पहुँच गयी । बीच में जो-जो आर्य-आश्रम मिले, उनका वृत्र ने विध्वंस किया । जनपद-निवासी अपने यज्ञ अधूरे छोड़कर भाग गये । देव-भूमि की सरहद पर पहुँचकर असुर-सेना रुक गयी । अगले कदम की आज्ञा अभी सेनानायक वृत्र ने दी न थी । वृत्र और उसकी आज्ञा की राह देखती हुई असुर-सेना वहीं रुककर आगामी आक्रमण की व्यवस्था में संलग्न हुई । परन्तु वृत्र कहाँ रह गया ? अपने सहायक उप-सेनापतियों को प्रारम्भिक आज्ञाएँ देकर वह किसी गुप्त योजना को चरितार्थ

करने के लिए तो कहीं नहीं चला गया ? किस योजना को सफल बनाने के लिए वह यों गायब हो गया था ?

हिमालय का प्रदेश एक विशाल भूमि-खंड है । वहाँ योजनों तक फैले हुए मैदान हैं, और इन मैदानों के आसपास अनुल्लंघनीय गगनचुम्बी पर्वत स्थित हैं । पास में दीख पड़नेवाले स्थल पर पहुँचने के लिए सैकड़ों कोस की परिक्रमा करनी पड़ती है, और सैकड़ों कोस चलने पर भी अप्राप्य लगनेवाला स्थान किसी छोटे से घाट द्वारा हाथ फैलाते ही मिल जाता है । किसी पर्वतमाला के पीछे सागर जैसा सरोवर हिलोरें लेता दिखायी पड़ता है, और किसी पर्वत के पीछे उछलती-कूदती मन्द रव करती सुन्दर सरिता बहती हुई नजर आती है,—मानो जल-परी नृत्य कर रही हो ! हिम के तो ढेर-के-ढेर; ढेर ही नहीं, पहाड़-के-पहाड़ !

कैलाश के धवलगिरि शिखर पर दो आकृतियाँ बिना बोले ही आरोहण कर रही थीं । दोनों में से किसी को भी थकावट न मालूम होती थी । फिर भी शिव के गण नन्दी ने पूछा—"थोड़ी देर बैठना है ? थकावट मालूम होती होगी ।"

"नहीं; मुझे थकावट मालूम ही नहीं होती । और शिव-दर्शन के निमित्त थकावट लगे भी, तो मैं उसकी परवाह न करूँ ।" वृत्र ने कहा ।

शान्त एकान्त स्थल में बातचीत अथवा शब्दोच्चारण कभी-कभी वातावरण के प्रतिकूल मालूम पड़ते हैं । बिना कुछ अधिक बोले दोनों आगे चले जा रहे थे । चारों ओर शान्ति थी, और उसमें वृद्धि करनेवाला हिमराशि का विस्तार था । सूर्य इस प्रदेश को प्रकाश-मात्र ही देता था, उष्णता नहीं । इस ठण्डे प्रदेश में वृत्र को उष्णता दे रही थी शिव-दर्शन की सम्भावना ! देह को कम्पायमान बनानेवाली शीतलता और हृदय को हिला देनेवाला एकान्त दोनों ही वृत्र को विचलित न कर सके । एक शृङ्ग को पारकर ज्योंही वृत्र और उसका साथी दूसरे शृङ्ग पर चढ़े हिम-सृष्टि की एकविधता अलोप हो गयी और बहुत दूरी पर एक विशाल सरोवर दृष्टिगोचर हुआ । इस सरोवर के आगे बस्ती का आभास भी हो रहा था ।

"अब कैलाश दूर नहीं है।" नन्दी ने कहा।

"भले ही दूर हो! मेरे हृदय के तो वह पास ही है।" वृत्र ने अपना भाव प्रदर्शित किया।

नन्दी ने एक स्मित-भरी दृष्टि से वृत्र को देखा। दोनों के चढ़ने-उतरने का क्रम चलता रहा। हिम-मार्ग से उन्होंने सरोवर को पार किया। थोड़ी दूर जाने के बाद एक पहाड़ी के पीछे छोटे-छोटे मन्दिर और बस्ती दीख पड़े। बरफ की सीढ़ियाँ! बरफ का ही दुर्ग और बरफ के दरवाजे! यह सब स्फटिक निर्मित तो नहीं था? वृत्र को भ्रम हुआ। वृत्र ने उनको हाथ से छूकर देखा। फिर भी वह निश्चय न कर सका कि यह रचना हिम, काँच या स्फटिक में किसकी थी? दरवाजे में घुसते ही व्याघ्र जैसे एक कुत्ते ने जोर-जोर से भोंकना शुरू किया और उसके निकट एक अति भयंकर आकृतिवाला अर्धवस्त्राच्छादित पुरुष उसे पुचकारता हुआ दिखायी दिया।

"हर महादेव! भैरवनाथ! मैं ले आया हूँ इस तपस्वी को!" नन्दीश्वर ने कहा। वृत्र समझ गया कि शिव-आलय के यह विशालकाय द्वार-रक्षक शिव के दूसरे गण भैरवनाथ थे।

"हर महादेव! नन्दीश्वर! पशुपतिनाथ तुम दोनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" कहकर भैरवनाथ ने वृत्र और नन्दी को कैलाश में आने दिया।

यहाँ देव-धाम या असुर-धाम जैसी समृद्धि और वैभव न दीख पड़ा। वृत्र ने देखा कि कौपीनधारी पुरुष और कंथाधारिणी स्त्रियाँ अपने काम कर रहे हैं। विचित्र मुख और परिधानवाले मानवों—प्राणियों—को देखकर वह चकित हुआ। ऐसे विकृत मानव उसने कभी नहीं देखे थे। शिव के पास रहनेवाले भूत-प्रेत तो ये न हों!

यकायक किसी चर्मवाद्य के बजने की आवाज आयी। शंकर का डमरू तो नहीं? कड़ंग-कड़ंग बजनेवाले इस वाद्य से धीरे-धीरे ऐसी ध्वनि निकलने लगी जिससे हिमालय की शान्ति हिल उठी, और सारा प्रदेश गति और शक्ति से भर गया। वृत्र के शान्त और तपस्वी मन ने भी आवेग का अनुभव किया। थोड़े ही क्षणों में वृत्र ने जीवन-भर न भूलनेवाला एक अद्भुत दृश्य देखा!

सामने एक ऊँचे स्थान पर चार-पाँच सीढ़ियों के ऊपर एक महा बलवान वृषभ खड़ा हुआ जोर-जोर से फुँफकार रहा था। दूसरे कोने पर स्फूर्ति और चपलता का अवतार एक व्याघ्र सीढ़ियाँ चढ़नेवाले नन्दी और वृत्र को एक-टक देख रहा था। वृषभ और व्याघ्र कब आक्रमण कर बैठेंगे इसका कोई ठिकाना न था। वृत्र ने अपने जीवन में कभी भय का अनुभव नहीं किया था। परन्तु लोकोक्ति में सुने हुए शिव और पार्वती के इन वाहनों को देखकर एक क्षण के लिए वृत्र के पैर रुक गये। बल के भंडार जैसे ये प्राणी कहीं वृत्र का आगे बढ़ना रोक न दें! तभी वृत्र ने शिव की स्थिर मूर्ति को गज-चर्म पर बैठे हुए देखा। हिम से भी अधिक धवल स्फटिक समान शुभ्र देह व्याघ्र-चर्म से आच्छादित था। मुख पर नवोदित यौवन की कान्ति थी। गले में एक भुजंग लिपटा हुआ बार-बार विद्युत जैसी जिह्वा निकालकर अपने सजीवन होने का प्रमाण दे रहा था। ललाट पर भस्म-लेपन ऐसा मालूम होता था मानो हिमराशि पर हिम के ताज़े फेन गिरे हों। कपाल के ठीक मध्य भाग में शोभित चिन्ह को देखकर यह भ्रम होता था कि वह तिलक है अथवा नेत्र! जटा के ऊपर द्वितीया के बाल-चन्द्र की रेखा चमक रही थी, और उसी जटा की एक-दो लटों में से थोड़ा-थोड़ा पानी टपक रहा था। यहीं से तो गंगा का उद्गम नहीं हुआ है? पास ही में बरफ से ढका त्रिशूल स्थिर खड़ा था। शिव की आँखें अभी बन्द थीं। उग्रता का साक्षात् अवतार एक जटाधारी गण अपने अंगारे जैसे नेत्रों से नन्दी और वृत्र को देखता हुआ डमरू बजा रहा था।

तभी त्रिभुवनमोहिनी, जगत्सुन्दरी, अपरूप पर्वत-कन्या पार्वती ने पैर दबा-कर चलते हुए वहाँ प्रवेश किया, और डमरू बजानेवाले गण से कहा—"वीर-भद्र! अब डमरू बजाना बन्द करो। यह वाद्य शंकर को जगाने के बदले उन्हें और भी ध्यान-मग्न कर रहा है।"

पार्वती कहाँ से आयीं, इसे वृत्र समझ न सका। उसका ध्यान तो शिव पर लगा हुआ था। पार्वती का वीणा सदृश मधुर स्वर सुनकर वृत्र की एका-ग्रता टूटी, और उसने शिव की अर्धांगना को देखा।

डमरू-वाद्य बन्द हो गया। उसके बन्द होते ही ऐसा प्रतीत हुआ मानो उस

स्थान में व्याप्त शान्ति ही शंकर को जागृत कर रही हो। शंकर के नेत्र धीरे-धीरे खुल रहे थे। विश्व से परे रहनेवाले किसी परमतत्व का दर्शन करने के लिए अन्तर्मुख हुई आँखें मानो अभी इस विश्व को पहचानती ही न हों, ऐसी गहन हो रही थीं।

वीरभद्र ने गर्जना की—"जय सांब !"

और इस गर्जना की प्रतिध्वनि हिमालय के शिखर-शिखर पर गूँज उठी। सारी पर्वतमाला सांब के जयकार से जागृत हो गयी।

तभी वृत्र ने दौड़कर शिव के चरणों में प्रणिपात होकर साष्टांग दण्डवत् किया।

शिव के लाल और गहन नेत्र अभी विश्व को पहचानने का प्रयत्न ही कर रहे थे।

"कौन हो वत्स ?" शंकर के कण्ठ से प्रश्न निकला। प्रश्न का नाद अस्खलित माधुर्य-भरा था।

"एक तपस्वी है, नाथ ! कैलाश के एक कोने में बैठा तप कर रहा था। आपने जगाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह जागा नहीं। तब नन्दी को भेजकर आपने उसे यहाँ बुलाया है !" पार्वती ने उत्तर दिया—मानो कोई वीणा बज उठी हो।

'यह तपधाम है या संगीतधाम ?' दण्डवत् प्रणाम करते हुए वृत्र के मन में विचार आया।

"अरे हाँ ! कैसी थी इसकी एकाग्रता ! घूमता हुआ मैं इसके पास पहुँचा, तब भी यह जागा नहीं। धन्य है ! एकाग्रता बिना सिद्धि नहीं मिलती। वत्स ! मैं प्रसन्न हूँ। बैठ जाओ। तुम्हारे मुख को देखने की इच्छा है।" शंकर ने कहा। प्रत्येक शब्द से मानों मृदंग की गूँज उठ रही थी।

वृत्र साष्टांग प्रणाम कर हाथ जोड़े शिव और पार्वती के सामने खड़ा हो गया। उसकी आँखें चमक रही थीं। उग्र तप के बिना शंकर के द्वार नहीं खुलते और शंकर के द्वार खुले बिना ईप्सित प्राप्त नहीं होता। तप वृत्र की आँखों में आकर खड़ा हो गया। वृत्र यकायक बोल उठा—"प्रभो ! दर्शन से

कृतार्थ हुआ !"

"कौन हो तुम, बेटा ?" शंकर ने पूछा। देखने में शंकर वृत्र से अधिक वय के न लगते थे।

"मैं वृत्रासुर, सम्राट् पुलोमा का सेनापति !"

"हूँ, असुर के बिना इतना उग्र तप कौन कर सकता है ? बड़ी ही शक्तिशाली प्रजा है असुरों की। वाह ! भोग में लिप्त देव-प्रजा तो तप को भूलती जाती है। असुरों के तप में स्वार्थ के बदले कल्याण होता तो देव और असुरों के स्थान बदल जाते !" शंकर ने कहा। शंकर बोल रहे थे, आँखों से देख भी रहे थे, और साथ-ही-साथ मृगजल जैसी इस जड़ सृष्टि के रहस्य को समझने का प्रयत्न भी करते जाते थे। उनको देखनेवाले सब को यही आभास होता था कि उनकी खुली हुई आँखें प्रतिक्षण गहनता में उतरकर परमतत्व के दर्शन कर आती हैं। शांभवी मुद्रा शम्भू के मुख की सनातन चर्या है।

"इन्द्र को न भूलें। देव होकर भी उसने तपश्चर्या द्वारा इन्द्रासन प्राप्त किया है ?" पार्वती ने कहा।

"वृत्रासुर ने भी वैसा ही उग्र तप किया है, पार्वती !....वत्स ! तप के पीछे किस बात की कामना रही है ? माँग लो ! वरं ब्रूहि !" शंकर ने कहा।

शंकर का तप करते समय जो इन्द्र और इन्द्रासन वृत्र को भूल गया था वह वृत्र को पुनः याद आया, शची याद आयी, और अपने तप का उद्देश्य भी याद आया। सभी इन्द्र के तप की वृत्र से तुलना करते थे। इस समय साक्षात् शंकर के मुख से भी उसने सुना कि तप की उग्रता में वह इन्द्र के समकक्ष हो गया है। अब देर थी केवल एक पाँव आगे बढ़ाने की और तब इन्द्रासन उसके चरणों में था। क्या वह सीधा इन्द्रासन ही माँग ले ? अथवा इन्द्र पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य ? या शची ? यकायक वृत्र को शुक्राचार्य के शब्द याद हो आये—ये देव जितने सरल हैं, उतना ही उनका वरदान कठिन होता है; तप-कार्य जितना स्वार्थमय होगा, वरदान उतना ही अधूरा रहेगा।

मानो शुक्राचार्य उसके कानों में वरदान का रहस्य फिर से समझा रहे थे।

वृत्र विचार में पड़ गया। सीधे इन्द्रासन माँगने से बढ़कर स्वार्थ क्या होगा ?

प्रत्यक्ष रूप से इन्द्र के पराजय की कामना करना भी उचित नहीं; क्योंकि वह भी स्वार्थ-भरी माँग कही जायेगी ? कदाचित् ऐसी माँग का शिव कारण पूछें तो क्या जवाब देगा ? और कहीं उन्होंने तप के सामने तप के युद्ध की मनाही कर दी तो सारी योजना मिट्टी में मिल जायेगी। वृत्र की विचार-माला टूटे, इसके पहले ही शंकर ने उसे पुनः उद्बोधित किया, "माँग लो, जो इच्छा में आये। शरमाओ मत। अस्थिर मत बनो। जो तुम माँगोगे, उसी में तुम्हारा कल्याण होगा।"

"मैं सोच रहा हूँ कि मैं क्या माँगूँ?" वृत्र ने पूछा।

"जिसके लिए इतनी तपश्चर्या की है वही माँग लो! तप कभी असफल नहीं होता। स्वर्ग, मृत्यु और पाताललोक में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो तपः-साध्य न हो।" शंकर ने सस्मित कहा।

"तब देवाधिदेव मैं इतना ही माँगता हूँ कि मेरी मृत्यु न हो।"

"देखो, वृत्र! मरण तो एक दृष्टि से जीवन है—मरण ही पुनर्जीवन है। मरण और जीवन के बीच का भेद मैंने निकाल दिया है, इसलिए ऐसी कोई अस्पष्ट बात मुझसे मत माँगो। पृथ्वी पर किस प्रकार की मृत्यु न हो, यह माँग लो क्योंकि मेरी और तुम्हारी मरण-व्याख्या भिन्न है।" शिव ने कहा।

"मैं माँगता हूँ, भगवन्, कि मेरी मृत्यु न लोहे से हो, न काष्ठ से; न आर्द्र वस्तु में हो, न शुष्क वस्तु में; न दिवस में हो, न रात्रि में। आज तक का कोई भी शस्त्र या अस्त्र मुझे मार न सके!"

"तथास्तु, वत्स! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।" शंकर ने वरदान दिया। वृत्र ने शंकर तथा पार्वती को पुनः साष्टांग नमस्कार किया। अपनी धारणा के अनुसार मृत्यु से परे बने हुए वृत्र की देह में अद्भुत शक्ति आ गयी। अब स्वर्ग-विजय के बारे में उसे जरा भी शंका न रही। स्वर्ग की सरहद पर पहुँची हुई असुर-सेना का अन्तिम आक्रमण किस प्रकार करे यह योजना उसके मन में अपने-आप स्फुरित हुई। मृत्युञ्जय वृत्र ने स्वर्ग को अपनी मुट्ठी में देखा। और स्वर्ग पर विजय प्राप्त करते ही असुर-सम्राट् पुलोमा की पुत्री शची का हाथ माँगने के लिए वह सामर्थ्यवान हो जायेगा। शची की ओर से वृत्र का विरोध किये जाने

का एक ही कारण था—वृत्र पुलोमा का सेवक था। पुलोमा की सेना उसके साथ हो या न हो, मृत्युञ्जय को इन्द्र-हनन और स्वर्ग-विजय में देर ही क्या?

वरदान लेकर वृत्र कैलाश से नीचे उतर आया, और अपनी-सेना की ओर चला। हिमालय की एक नीची घाटी में से जब वह जा रहा था, उसे एक छोटी-सी सेना अपने पीछे आती हुई दिखायी दी। वृत्र का हाथ फड़कने लगा। तप करने के समय जिन अस्त्र-शस्त्रों और परिधानों को उसने उतारकर रख दिया था, उन्हें कैलाश छोड़ते ही उसने फिर से धारण कर लिया था। उसे इस बात का विश्वास हो गया कि पीछे आनेवाली सेना असुरों की नहीं, आर्यों की ही होनी चाहिए। वृत्र ने गर्जना करके उस सेना को ललकारा। ललकार सुनकर वह सेना रुक गयी। उसके आगे एक युवक आर्य-नृपति चल रहा था। उसने भी गर्जना की। वृत्र ने उस नृपति को पहचान लिया, और उससे मिलने के लिए वह आगे बढ़ा।

"राजा नहुष हैं क्या?" वृत्र ने पूछा।

"हाँ। कौन वृत्र? कहाँ जा रहे हो? स्वर्ग-द्वार की ओर?" नहुष ने उलटकर प्रश्न किया।

"वहीं जा रहा हूँ। तुम तो देवों की सहायतार्थ सेना लेकर निकले हो न?"

"हाँ, परन्तु तुम उधर कहाँ जा रहे हो? तुम्हारा स्थान स्वर्गद्वार पर नहीं है।"

"क्यों?"

"तुम्हारी आवश्यकता असुर-भूमि में है।"

"असुर-भूमि की रक्षा शची कर रही है। उस ओर से मैं निश्चिन्त हूँ।"

"शची तो युद्ध के मोरचे पर पहुँच गयी है।"

"क्यों"

"इन्द्र ने पुलोमा का वध किया। तुम्हारा पता न लगने से पुलोमा का स्थान लेने के लिए शची आगे बढ़ी है, मेरु की ओर!"

"क्या? क्या कहते हो, नहुष? इन्द्र ने पुलोमा का वध किया? विश्वास नहीं होता। धोखा तो नहीं दे रहे हो?"

"मानना न मानना तुम्हारे मन की बात है। आज नहीं तो कल मानना ही पड़ेगा। तुम्हारे गुप्तचर भी इधर घूम रहे हैं, वे तुम्हें सब समाचार अवश्य देंगे।"

"तुम कहाँ जा रहे हो, इस प्रश्न का तुमने उत्तर नहीं दिया!"

"मैं तुम्हें खोजने और मिलने के लिए आया हूँ। तुम्हारी सेना सीमा पर खड़ी है। हमारी यह मान्यता सत्य निकली कि तुम किसी योजना को सफल बनाने के लिए अदृश्य हुए थे। वह योजना जो भी हो! इन्द्र ने मुझे भेजा है, तुम्हें खोजकर दो-तीन सच्ची बातें कहने के लिए।"

"ऐसी बात है, तो कह डालो उन सच्ची बातों को।"

"अपनी सेना से किंचित् पृथक् होकर तुम्हारे साथ आगे बढ़ूँ?"

"जैसी तुम्हारी इच्छा। यद्यपि मैं यहाँ अकेला हूँ, पर तुम्हारी सेना का मुझे लेश-मात्र भी भय नहीं।"

दोनों एक-दूसरे के निकट आये। नहुष की सेना थोड़ी दूर पर खड़ी रही। एक ऊँची भूमि पर वृत्र और नहुष दोनों बैठ गये। नहुष ने कहा, "यह मैं आज ही नहीं, सर्वदा से जानता हूँ कि तुमको किसी का भी भय नहीं। अच्छा, एक सच्ची बात तो मैंने बता दी कि इन्द्र के हाथ पुलोमा की मृत्यु हुई है।"

"यदि यह बात सच्ची न हुई?"

"तो हम लोगों के शस्त्र अभी म्यान में कहाँ गये हैं? तुम यह जानकर और भी भयंकर युद्ध करोगे, इस बात को मैं जानता हूँ, और इन्द्रदेव भी जानते हैं!"

"अच्छा! दूसरा सत्य क्या है?"

"तुम्हारे लिए यह उचित नहीं कि तुम असुरों की ओर से देव तथा आर्यों के विरुद्ध युद्ध करो।"

"क्यों?" चकित होकर वृत्र ने पूछा।

"कारण यह है कि तुम असुर नहीं हो, शुद्ध आर्य हो!"

"तुमने यह कहाँ से जाना? और सो भी आज?"

"इन्द्रदेव से ..."

"मुझे आर्यत्व का मोह और लोभ देने के ही लिए क्या इन्द्र ने तुम्हें भेजा है ?"

"तुम जो चाहो सो समझो। परन्तु यह दूसरा सत्य भी तुम्हारे जानने योग्य है।"

"इसे जानकर मैं क्या करूँगा ?"

"तुम असुर-प्रदेश के स्वामी बन सकोगे।"

"लेकिन शची को क्यों भूले जाते हो। मुझे, तुम्हें या इन्द्र को वह अपनी एक अंगुष्ठ-मात्र भूमि भी लेने न देगी।"

"उसे यदि तुम्हारी सहायता न मिले तो परिस्थिति एकदम भिन्न हो जायेगी।"

"मैं उसे सहायता क्यों न दूँ ?"

"तुम एक आर्य हो, इसलिए। क्या इस बात का प्रमाण चाहिए ?"

"प्रमाण की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। मेरे पिता को आर्यत्व से बहिष्कृत करने का प्रयत्न करनेवाले आर्यों का साथ देने के लिए मुझसे कहा जाता है ?"

"तुम्हारे पिता कौन हैं, यह जानते हो ?

"हाँ। महर्षि त्वष्टा !"

"वे अब आर्य-बस्ती में ही रहते हैं।"

"आर्यों की बस्ती के एक किनारे पर ! सीमा पर ! आर्यों को जब अनुकूल हो, तब उन्हें फिर से निकाल सकें, ऐसे स्थान पर ! अन्त्यज की भाँति ! नहुष ! तुम ऐसी बात लेकर मेरे पास आये हो, जिसे मैं कर नहीं सकता।"

"यदि महर्षि त्वष्टा भी यही बात कहें।"

"वे कभी कहेंगे नहीं।"

"वृद्ध महर्षि अब बदल गये हैं।"

"वे भले ही बदल गये हों, मैं नहीं बदला।"

"तुम्हारे आर्यत्व का लोप हुआ, और तुम असुर बने, इससे अधिक परिवर्तन अब क्या होगा ?"

"असुर-समाज ने ही मेरा पालन किया है, आर्यों ने नहीं। और इस प्रकार की वक्रोक्ति से मेरे मन पर कोई असर नहीं होता।"

"तब तुम्हारा निश्चय अटल है ?" नहुष ने पूछा। वृत्र के मन में एक नया विचार आया। ध्येय से च्युत कराने के लिए आये हुए आर्य नृपति को जरा चमत्कृत करने का वृत्र ने निश्चय किया, और एतदर्थ बातचीत को नया घुमाव दिया।

"सुनो, नहुष! कदाचित् मेरा विचार आर्यों का साथ देने का हो, परन्तु वह एक शर्त पर!"

"हाँ, हाँ! कौन-सी वह शर्त है, वृत्र? तुम यदि आर्यों के पक्ष में आ जाओ तो सारा असुर-प्रदेश आर्य बन जाये। और तुमको देव-समूह में भी स्थान मिले! कहो, कौन-सी शर्त है?"

"अपनी शर्त बताऊँ? चकित तो न होगे?"

"शची के साथ विवाह करना चाहते हो, यही न?"

"तुम्हें विश्वास है कि शची तुम्हारे या मेरे साथ विवाह करेगी?"

"आशा अमर है।"

"देह को भी अमर बनाया है?"

"देह को अमर बनाने की इच्छा से ही तो मैंने शुक्र का साथ किया था।"

"उस शुक्र को भी तुम आर्यों ने खदेड़ दिया। अब मुझे,—द्विजाती को अपनी आर्य-जाति में फिर से लेने के लिए आये हो, क्यों?"

"मेरे उदात्त विचार सबको विदित हैं। मैं तो सर्प जाति को, नाग जाति को, पुलिन्दों को और निषादों को भी आर्य बनाना चाहता हूँ।"

"असुर इस प्रकार प्रायश्चित्त करके आर्य बनना नहीं चाहते। वे अपने को आर्यों से किसी भी प्रकार हीन नहीं समझते।"

"बिना प्रायश्चित्त के ही तुमको आर्य बना दें, क्या यही शर्त है तुम्हारी?"

"नहीं, नहुष! वृत्र ऐसी ओछी शर्त नहीं रख सकता।"

"तो अपनी शर्त कह सुनाओ। उसे जानने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ।"

"इन्द्र के दूत बनकर ही आये हो न!"

"तुम्हें जो कहना हो सो कहो। इन्द्रदेव आर्यों के इष्ट तो हैं ही!"

"तो सुन लो मेरी शर्त! मैं एक ही शर्त पर आर्य बन सकता हूँ और वह

शर्त है—आर्य इन्द्र को अपने इष्ट पद से निकाल दें।"

"क्या? क्या कहा तुमने? वृत्र, मैं इन्द्र का परम मित्र हूँ यह तो तुम जानते ही हो न?" आश्चर्य-चकित होकर नहुष ने कहा। उसने ऐसी शर्त की कल्पना भी न की थी।

"यह जानकर ही, समझकर ही अपनी शर्त तुमको बतायी है। है हिम्मत इन्द्र को अपदस्थ करने की?"

"ऐसा करने से तो आर्य-जाति निर्मूल हो जायेगी, वृत्र! आर्य कभी ऐसी शर्त स्वीकार नहीं करेंगे। शुक्र भी नहीं और त्वष्टा भी नहीं।"

"तुम्हें कदाचित् मालूम न हो, तो जान लो! मैं उत्पन्न हुआ हूँ इन्द्र को मारने के लिए, इन्द्र-पद का लोप करने के लिए! जब तक यह नहीं होगा, वृत्र जीवित रहेगा और इन्द्र को मारेगा।"

"बड़ी विचित्र बातें कर रहे हो, वृत्र!"

"इसमें विचित्रता क्या है? मेरे भाई विश्वरूप को इन्द्र ने मारा...."

"वह छिपकर असुर-पक्ष की सहायता करता था...."

"आर्य और असुरों को एक करने की भावना से, आर्यों को लुप्त करने की कामना से नहीं...."

"विश्वरूप को मारनेवाला इन्द्र अब है कहाँ? अब तो इन्द्र-पद पर सर्व-सम्मत एक दूसरा ही देव-व्यक्ति विराजता है।"

"मैंने तो उस पद का ही नाश करने के लिए जन्म लिया है। किसी भी प्रकार, प्रत्यक्ष रूप से अथवा गुप्त रूप से तुम मेरे कार्य में साथ देने को तैयार हो? यदि तैयार हो तो तुम्हारे साथ आने का मैं भी विचार करूँ...."

"परन्तु इस कार्य से तो आर्य-प्रजा मुझी को फेंक देगी।"

"तुम आर्यों को छोड़कर मेरे साथ आ जाओ...."

"तुमको आर्य बनाने की जगह मैं ही असुर बन जाऊँ! यही तुम्हारी शर्त है?"

"नहुष! मेरी शर्त बुरी नहीं है। असुरों के बीच निवास करने-मात्र से हमारा आर्यत्व लुप्त नहीं हो सकता; वह किसी-न-किसी रूप में जीवित रहेगा, और

अधिक व्यापक भी होगा।"

"मुझे कृतघ्न बनने का लालच दे रहे हो, वृत्र!" जरा व्यथित होकर नहुष ने कहा।

वृत्र खिलखिलाकर हँस पड़ा। नहुष के मन की व्यथा को वह समझ गया। वृत्र को ललचाने के लिए आया हुआ नहुष स्वयं लालायित होकर कृतघ्नता तक का अनुभव करने लगा! वृत्र अपनी हँसी को रोक न सका।

"हाँ, जिस प्रकार तुम मुझे लालच दे रहे थे, नहुष!" वृत्र ने हँसते-हँसते कहा।

"सुनो, वृत्र! आर्य-असुर-युद्ध के द्वारा इन्द्र ने मेरी मनोकामना पूर्ण की।" नहुष ने अपने मन की बात कहना प्रारम्भ की।

"तुम्हारी कौन-सी, मनोकामना थी?"

"सारे आर्यावर्त का चक्रवर्ती बनने की! देवों की यह योजना थी कि छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त आर्य-प्रजा का एक सुसंगठित महाराज्य स्थापित कर, उसे बलशाली बनाया जाये। यह कार्य हो गया और इन्द्र की सहायता से मैंने आर्य-नृपतियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। अब आर्य-श्रेष्ठत्व से देवत्व पर पहुँचने में अधिक देर नहीं।"

"और देव बनकर तुम इन्द्र के ऊपर छत्र तानोगे और चँवर डुलाओगे?"

"एक बार देवत्व में प्रवेश मिल जाये, फिर तो इन्द्र का स्थान भी बहुत दूर न रहेगा!"

"तब स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि तुम्हारी योजना भी इन्द्र-पद के ही लिए है? मेरा और तुम्हारा उद्देश्य समान है। यदि हम दोनों मिलकर काम करें तो उद्देश्य अवश्य सफल होगा!" वृत्र ने नये ढंग से बात शुरू की।

"साथ-ही-साथ मेरी और तुम्हारी दृष्टि शची पर लगी है, इसे भी हम भूल नहीं सकते।" नहुष ने कहा।

"परन्तु शची की नजर इन्द्र पर है, यह भी याद रहे।"

"तुम्हें विश्वास है?"

"बिलकुल, मात्र इन्द्र का मन समझ में नहीं आता।"

अधिक व्यापक भी होगा।"

"मुझे कृतघ्न बनने का लालच दे रहे हो, वृत्र !" जरा व्यथित होकर नहुष ने कहा।

वृत्र खिलखिलाकर हँस पड़ा। नहुष के मन की व्यथा को वह समझ गया। वृत्र को ललचाने के लिए आया हुआ नहुष स्वयं लालायित होकर कृतघ्नता तक का अनुभव करने लगा ! वृत्र अपनी हँसी को रोक न सका।

"हाँ, जिस प्रकार तुम मुझे लालच दे रहे थे, नहुष !" वृत्र ने हँसते-हँसते कहा।

"सुनो, वृत्र ! आर्य-असुर-युद्ध के द्वारा इन्द्र ने मेरी मनोकामना पूर्ण की।" नहुष ने अपने मन की बात कहना प्रारम्भ की।

"तुम्हारी कौन-सी, मनोकामना थी ?"

"सारे आर्यावर्त का चक्रवर्ती बनने की ! देवों की यह योजना थी कि छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त आर्य-प्रजा का एक सुसंगठित महाराज्य स्थापित कर, उसे बलशाली बनाया जाये। यह कार्य हो गया और इन्द्र की सहायता से मैंने आर्य-नृपतियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। अब आर्य-श्रेष्ठत्व से देवत्व पर पहुँचने में अधिक देर नहीं।"

"और देव बनकर तुम इन्द्र के ऊपर छत्र तानोगे और चँवर डुलाओगे ?"

"एक बार देवत्व में प्रवेश मिल जाये, फिर तो इन्द्र का स्थान भी बहुत दूर न रहेगा !"

"तब स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि तुम्हारी योजना भी इन्द्र-पद के ही लिए है ? मेरा और तुम्हारा उद्देश्य समान है। यदि हम दोनों मिलकर काम करें तो उद्देश्य अवश्य सफल होगा !" वृत्र ने नये ढंग से बात शुरू की।

"साथ-ही-साथ मेरी और तुम्हारी दृष्टि शची पर लगी है, इसे भी हम भूल नहीं सकते।" नहुष ने कहा।

"परन्तु शची की नजर इन्द्र पर है, यह भी याद रहे।"

"तुम्हें विश्वास है ?"

"बिलकुल, मात्र इन्द्र का मन समझ में नहीं आता।"

"उसे समझने की आवश्यकता नहीं। इन्द्र का वध हो जाने के बाद शची की नजर के सामने तुम और हम दो ही रह जायेंगे।"

"ठीक ही कहा, नहुष!" हँसकर वृत्र बोला।

"इन्द्र का वध, जितना तुम समझते हो उतना सरल नहीं और उसके बाद भी मेरे और तुम्हारे बीच स्पर्धा तो रहेगी ही।"

"मेरी स्पर्धा कोई कर नहीं सकता, इतना समझ लो, नहुष!"

"तुम्हें इतना गर्व है?"

"गर्व नहीं, विश्वास है।"

"किस बात का?"

"किसी भी युद्ध में मेरी पराजय हो नहीं सकती।"

"क्यों?"

"शंकर का वरदान है नहुष! मुझे शंकर का वरदान प्राप्त है। इन्द्र, देव और आर्यों का भविष्य अब मेरे हाथ में है।"

"इसका अर्थ यही कि मेरा सन्धि-प्रस्ताव तुम्हें मान्य नहीं!"

"नहीं।"

"और तुम्हें मेरी आवश्यकता भी नहीं!"

"जरा भी नहीं! तुम न पूरे आर्य, और न पूरे असुर! एक आँख में इन्द्रासन और दूसरी आँख में शची को रखकर चलनेवाले का मैं विश्वास नहीं करता।"

"हुँ, पुलोमा को मारकर इन्द्र आगे बढ़ रहा है, यह बात तुम्हें सच नहीं लगती?"

"सच भी हो, तो उससे मुझे कोई क्षोभ नहीं।" वृत्र ने कहा।

यकायक खड्ग खींचकर नहुष खड़ा हो गया। वार्तालाप के बीच में भी उसे दो-तीन बार ऐसी इच्छा हुई थी कि अकेले होने का लाभ लेकर इस अभिमानी असुर को मृत्यु के घाट उतार देना चाहिए। परन्तु वह इस आवेश को दबाता गया। अब उसे दबाना कठिन हो गया। वृत्र नहुष के हृदय की बात जान गया था। वह उसका प्रतिस्पर्धी भी था। इन्द्र का तो वह शत्रु था

ही ! नहुष को भी वह कुछ समझता न था। वृत्र के प्रत्येक कार्य के पीछे शची के हृदय को जीतने की आकांक्षा स्पष्ट रूप से दिखायी देती थी, ठीक वैसी ही जैसी नहुष के हृदय में भी जागृत हो चुकी थी ! नहुष इन्द्र के वैराग्य को भी जानता था। शची के प्रति इन्द्र का प्रेम हो, ऐसा कोई भी भाव इन्द्र ने प्रकट नहीं किया था, यद्यपि शची इन्द्र को चाहती थी, यह बात उससे छिपी न थी। भले ही वह इन्द्र के साथ भयंकर युद्ध करती हो ! नहुष को इन्द्र से अधिक वृत्र ही अपना प्रतिद्वन्द्वी लग रहा था। इन्द्र ने नहुष को स्वर्ग की सरहद पर जाकर वृत्र को खोज निकालने का और यदि हो सके तो आर्यत्व के नाते उसे आर्यों का मित्र बनाने का काम सौंपा था। कदाचित् इन्द्र की इच्छा यह भी हो कि नहुष स्वर्ग की सीमा पर पहुँचकर आर्यों के रक्षक-दल का संगठन करे। वृत्र उसे अकस्मात् ही मिल गया। संयोग से वह अकेला ही था। अपने मार्ग से सदा के लिए वृत्र को दूर करने का सुनहला अवसर नहुष को अनायास ही मिल गया। वृत्र का घमण्ड वीर नहुष से सहा न गया, और उसने खड्ग खींचकर वृत्र पर प्रहार किया।

हँसते हुए वृत्र ने बैठे-ही-बैठे नहुष के प्रहार का अपने हाथ से निवारण किया। शंकर के वरदान के कारण अथवा अपनी शस्त्र-निपुणता से वृत्र ने नहुष के प्रबल प्रहार को निरर्थक कर दिया, और प्रत्युत्तर में एक प्रचंड अट्टहास किया। सारी पर्वतमाला इस हास्य की प्रतिध्वनि से गूँज उठी मानो संपूर्ण सृष्टि नहुष की निष्फलता पर हँस रही हो। नहुष लज्जित हो गया।

"नहुष ! दूसरा प्रहार करना चाहते हो ?" हँसते हुए वृत्र ने पूछा। नहुष की इच्छा अवश्य हुई कि वह दूसरा प्रहार करे। उसकी सेना समीप आ गयी थी, अपनी सेना के सामने निष्फल होना उसे अच्छा न लगा। वह थोड़ा पीछे हट गया—दूसरे प्रहार का पैंतरा लेने के लिए।

तभी वृत्र की गर्जना सुनायी दी—"सारी सेना के साथ इस घाटी से बाहर निकल जाओ !"

"यदि न निकलूँ ?"

"तो अपनी इच्छानुसार सेना के साथ मेरे ऊपर आक्रमण करो। मैं तैयार

हूँ। परन्तु तुम्हारी या तुम्हारी सेना की हिम्मत नहीं कि आगे आओ। इच्छा हो तो किसी सुरक्षित स्थान में छिप जाओ और वहाँ से बाण चलाकर देखो कि मैं घायल होता हूँ या नहीं !" वृत्र ने गर्व-सहित नहुष से कहा।

नहुष ने यह काम भी कर के देखा।

न जाने क्यों, एक भी बाण नहुष को लगता न था। वृत्र ने पुनः एक गर्जना की। मानो सारी पर्वतमाला एक साथ टूटकर गिर रही हो ! नहुष और नहुष की सेना को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वृत्र का शरीर बढ़ते-बढ़ते सारी पर्वत-माला को ढक रहा हो।

नहुष और उसकी सेना गायब हो गयी थी।

ऊँचे टीले पर बैठा हुआ वृत्र शिव-वरदान की महिमा पर प्रसन्न होकर हँस रहा था।

[१८]

असुर सम्राट् पुलोमा ने एक प्रचण्ड सेना लेकर देव-भूमि पर हमला किया ! आक्रमण करनेवाली असुर-सेना के पूर्वीय भाग का नेतृत्व वृत्र करता था, मध्य में पुलोमा थे, और तीसरे पश्चिमी भाग का नेतृत्व असुर-नरेश बेनीपाल के हाथ में था। इस आक्रमण की योजना खूब सोच-विचारकर बनायी गयी थी। व्यूह इस प्रकार रचा गया था कि मध्य तथा पश्चिम से बढ़नेवाली सेनाएँ मेरु पर आकर मिलें, और जिस समय वृत्र अमरापुरी के द्वार पर पहुँचे, उस समय यह संयुक्त सेना उसके सहायतार्थ वहाँ पहुँच जाये। शची केन्द्र स्थान में रह-कर मोरचों पर आवश्यक कुमक भेजती रहे, और समाचारों का संग्रह करके युद्ध-स्थिति की खबरें प्रत्येक मोरचे पर पहुँचाने का प्रबन्ध करे। यकायक अपनी सेना को देव-भूमि की सरहद पर छोड़कर वृत्र कहीं चला गया। कहाँ गया, किस काम के लिए गया, इसका किसी को पता न लगा। किसी देव को फोड़-कर अपनी ओर ले आने के लिए अथवा उसे मार्ग से हटाने के लिए तो वृत्र

अदृश्य नहीं हुआ ? बेनीपाल की सेना को मरुत् देवों की एक मजबूत टुकड़ी ने बीच ही में रोक दिया, और प्रथम संघर्ष में ही प्रबल झंझावात जैसे प्रहारों से तितर-बितर कर दिया। असुर-सेना के विस्तार में पड़ी हुई इस दरार को भरने में बेनीपाल को बड़ी कठिनाई पड़ी। पुलोमा देखते-ही-देखते देव-भूमि के निकट पहुँच गये। मार्ग में पड़नेवाले आर्य-संस्थानों ने उनका विरोध नहीं किया। असुर-सेना के पहुँचते ही आर्यों के आश्रम खाली हो जाते। परन्तु पुलोमा और शची को बराबर समाचार मिला करते थे कि आर्यों के जनपद युद्ध की पूरी तैयारी कर रहे हैं। प्रभात में यज्ञ-यागादि और वेदों के मंत्रोच्चार करने के बाद आर्यों के यूथ-के-यूथ युद्ध-कार्य में शिक्षा लेने के लिए दिन-भर कठिन परिश्रम करते थे। यह भी सुना गया था कि आर्य स्त्रियों को भी शस्त्र चलाने की शिक्षा दी जा रही है। रास्ते में पड़नेवाले आश्रमों को उजाड़ते हुए महाराज पुलोमा बिजली की गति से आगे बढ़ रहे थे। जंगलों में छिपे हुए जनपदों की उन्होंने परवाह न की।

परन्तु देव-भूमि की सीमा के पास आते ही पुलोमा को समाचार मिले कि सामने से इन्द्र एक विशाल सेना लेकर आ रहा है, और असुर-सेना के पिछाये में आर्यों और आर्य बने हुए अनार्यों की एक बलवती-सेना लेकर नहुष बढ़ा आ रहा है। पुलोमा को अपनी सेना पर पूरा विश्वास था। वह समझता था कि उसकी सेना दोनों मोरचों पर सफलता से युद्ध कर सकेगी। अतः बेनीपाल की सहायता समय पर न पाकर भी उसने दोनों मोरचों पर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। पुलोमा के सैनिकों ने देव-सेना के दाँत खट्टे कर दिये। असुरों के भयंकर संहार के आगे देवों के पैर उखड़ गये और वे पीछे हटने को विवश हुए। इसी समय इन्द्र ने पहुँचकर अपने महान पराक्रम द्वारा देव-सेना को पुनः प्रोत्साहित किया। देवों और असुरों का यह युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। असुरों की वीरता देख देव चकित रह गये। इतने में इन्द्र के धनुष से छूटे हुए बाण ने पुलोमा का प्राणान्त कर दिया।

पुलोमा के धराशायी होते ही असुर-सेना विचलित हो गयी। सेनानायक की मृत्यु से सर्वत्र अव्यवस्था फैल गयी। आगे इन्द्र और पीछे नहुष, इन

दोनों के प्रबल प्रहारों ने असुर-सेना की हिम्मत तोड़ दी और वह अपने असंख्य घायलों तथा मृतकों का युद्ध-भूमि में छोड़कर भाग निकली। बचे हुए सैनिक असुर-सीमा के अन्दर पहुँचकर अपने-अपने नगरों तथा दुर्गों में जा छिपे। इन्द्र ने भागती हुई असुर-सेना का पीछा किया। वह असुर-प्रदेश में दूर तक घुस आया और असुरों के दुर्गों का ध्वंस करने लगा। इतने में यकायक इन्द्र की प्रगति रुक गयी। असुरों की ओर से व्यवस्थित और सबल प्रत्याक्रमण शुरू हुआ। पिता के मरने के बाद शची ने नेतृत्व अपने हाथ में लिया, और अपनी सेना में व्याप्त आतंक को दूर करती हुई वह देव-सेना के सामने आ डटी। अपनी सम्राज्ञी के नेतृत्व में असुर-सैनिकों का साहस लौट आया, और वे वीरता से लड़ने लगे। धीरे-धीरे शची की सेना ने आगे बढ़ना शुरू किया और थोड़े ही समय में देव-सेना को पर्वतों के पीछे आश्रय लेने को विवश होना पड़ा। अब असुर-सेना के यांत्रिकों ने अपना एक चमत्कार दिखाना चाहा। उन्होंने एक योजना ऐसी बनायी कि जैसे ही देव-सेना पर्वतों के पीछे आश्रय ले उस भाग को सिन्धु नदी के पानी से प्लावित करके डुबा दिया जाये। इस योजना की सब तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। उसे कार्यान्वित करने के लिए केवल शची की अन्तिम आज्ञा प्राप्त करना रह गया था।

रात्रि के समय चन्द्रमा के प्रकाश में पर्वत के एक श्रृङ्ग पर शची और उसका विश्वासपात्र युद्ध-स्थपति खड़े हुए बातें कर रहे थे। सामने दो पर्वतों के बीच से सिन्धु की धारा बह रही थी।

"सम्राज्ञी ! वह देखिए, नीचे पर्वतों में घिरी हुई देव-सेना पड़ी है।" स्थपति ने कहा।

"हाँ, कुछ खेमे दीख पड़ते हैं। अन्य देव आसपास की गुफाओं में छिपे होंगे।" शची बोली।

"आप आज्ञा दें तो प्रभात होने के पहले ही वह घाटी एक विशाल सरोवर बन सकती है।"

"और उसमें आश्रय लेनेवाले सब देव डूब जायेंगे?"

"अवश्य।"

"कई भागने का प्रयत्न भी करेंगे।"

"आवश्यक स्थानों पर सैनिक टुकड़ियाँ तैनात कर दी गयी हैं। उनकी बाण-वर्षा एक भी देव को जीता न जाने देगी।"

"पानी कब छोड़ना चाहते हो?"

"मध्य रात्रि के समय जब चन्द्र उस नक्षत्र में जायेगा।"

"पानी के प्रवाह के लिए बनायी हुई सुरंग का मैं निरीक्षण करूँगी।"

"अवश्य कीजिए। खुदाई का अन्तिम कार्य चल रहा है। हम लोगों के थोड़ा नीचे उतरते ही वह दीख पड़ेगी।"

"तुम नीचे जाकर खड़े रहो, मैं आती हूँ...."

"आप यहाँ अकेली....दूसरी पहाड़ी के नीचे शत्रु सेना है।"

"मुझे इस प्रकार के कायरतापूर्ण विचार पसन्द नहीं। सम्राज्ञी होने के कारण क्या मैं अकेली रह नहीं सकती? यदि ऐसा है तो मुझे यह पद छोड़ना पड़ेगा। यहाँ एकान्त में अकेली बैठकर मुझे अन्य योजनाओं पर भी विचार करना है।" शची ने कहा और स्थपति नीचे उतर गया।

कवचधारिणी शची शृङ्ग के एक शिला-खण्ड से टिककर खड़ी रही। उसके स्कन्ध पर धनुष लटक रहा था; हाथ में लम्बा, चन्द्र-किरणों में चमकता हुआ भाला था; कमर में कृपाण थी। चारों ओर चाँदनी की वर्षा करनेवाले चन्द्र ने पहाड़ों को बहुत ही सौम्य और सुन्दर स्वरूप प्रदान कर रखा था। दूर-दूर दीख पड़नेवाले धवलगिरि सैकड़ों योजन दूर होने पर भी मानो पास आने का प्रयत्न कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता था। उनके उस पार था देवलोक! वहाँ पहुँचते ही देवलोक पर अधिकार हो जायेगा। मरुत्, रुद्र, वरुण और सूर्य-देवों की व्यूह-रचना को तोड़ने के बाद इन्द्र से युद्ध करना पड़ेगा। शची को अपनी सामर्थ्य के सामने कुछ भी कठिन नहीं लग रहा था। उसने पिता के मरने के बाद देव-सेना की प्रगति को रोका था और देवों के द्वारा जीते हुए असुर-दुर्ग पुनः जीत लिये थे। इन वीरतापूर्ण कार्यों से उनका आत्मविश्वास बढ़ गया था। इन्द्र धनुर्विद्या में निपुण है। भाला फेंकने में भी दक्ष है। तलवार चलाना भी जानता है; लेकिन गदा उठाने-जैसा सबल शरीर तो उसका

है नहीं ! अच्छा, उसे भी पराजित करने की घड़ी आ रही है ।

परन्तु जिस घाटी को वह देवों के डुवाने के प्रयोजन से सरोवर बनाने जा रही थी, उसमें यदि इन्द्र भी हुआ ? तो वह डूब जायेगा, और फिर शची अपना रण-कौशल किसे दिखायेगी ? देवगण दूसरे इन्द्र का चुनाव कर उसे इन्द्रासन पर बैठायेंगे ! तब इस इन्द्र को जिसने अपने व्यक्तित्व से इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह कहाँ पायेगी और कैसे यह प्रमाणित करेगी कि वह युद्ध-कौशल में इन्द्र से कम नहीं है !....और....

पर्वत-शृङ्ग के पीछे किसी के आने की आहट हुई। पहाड़ की चट्टान से थोड़ा सटकर शची ने अपने खड्ग पर हाथ रखा, तभी उसने देखा कि एक सैनिक आकृति उसकी ओर आ रही है। वह यकायक बोल उठी—"कौन ? इन्द्र ?" और कृपाण पर रखे हुए हाथ को कुछ ढीला किया ।

"हाँ, शचीकुमारी।" इन्द्र ने उत्तर दिया ।

"मैं अब कुमारी नहीं हूँ, सम्राज्ञी हूँ...."

"अच्छा। लेकिन केवल नाम लेकर बुलाने से और एक वचन के प्रयोग से सम्बोधन सम्बन्धी सब भूलें लुप्त हो जाती हैं। यह मैंने तुम्हीं से सीखा है। याद है, तुमने मुझे कई बार देवराज कहकर भी सम्बोधित किया है। आज तुम मुझे केवल इन्द्र कहकर बुला रही हो। मैं तो तुम्हारे बनाये हुए मार्ग का ही अनुसरण करूँगा।" इन्द्र ने कहा ।

"इसमें कितना भय है, यह तुम जानते हो ?"

"क्या जीवन ही भयरूप नहीं है ? और स्त्री तो सब से बड़ा भय है।"

"मैं तुमसे स्त्रियों का बखान सुनना नहीं चाहती। भूलते तो नहीं कि इस समय तुम अपने दुश्मन की छावनी में हो ?"

"हाँ, हूँ तो अवश्य, परन्तु शची, क्या हम और तुम जीवन-भर दुश्मन ही बने रहेंगे ?"

"मुझे तो ऐसा ही लगता है। अपने जीवन-काल तक ही नहीं, वंश-परम्परा तक यह शत्रुता बनी रहेगी। तुमने मेरे पिता का वध...."

"मुझे इसका बड़ा दुःख है। परन्तु क्या करता ? पुलोमा ने मेरे बहुत से

देव-सम्बन्धियों को रण में मारा और उनका बस चलता तो वे सबसे पहले मेरा वध करते।"

"क्या तुम समझते हो कि तुम्हारा वध न होगा?"

"यों तो युद्ध में कोई कुछ कह नहीं सकता। ऐसा ही समझ लो; परन्तु इस बात का तो मुझे विश्वास है कि यों अकेले में मिलने पर भी तुम्हारा शस्त्रधारी हाथ मेरे ऊपर उठेगा नहीं।"

"किस बिरते पर कहते हो यह बात?"

"तुमने अभी तक शस्त्र नहीं उठाया, इसी बिरते पर! हमारी आर्य-प्रणाली भी यही है। हम रात्रि के समय, असावधान शत्रु पर, स्त्री, बालक अथवा वृद्ध पर, ब्राह्मण और शरणागत पर हाथ नहीं उठाते!"

"तुम इनमें से कौन हो? एक भी नहीं! हाथ में पाकर भी जीवित छोड़ दूँ, तो तुम मेरी आर्य-महत्ता के गीत गाते फिरोगे!"

"मैं तो कदाचित् यहाँ से जीता चला जाऊँ, परन्तु जो बात कहने आया हूँ, वह कह लेने दो। मैं यही कहने आया हूँ कि मुझे और मेरी सारी सेना को डुबाकर मारने की जो योजना तुमने बनायी है, हम आर्यों की युद्ध-नीति उसकी सम्मति नहीं देती।" इन्द्र ने कहा।

शची ने अत्यधिक आश्चर्य का अनुभव किया।

चन्द्रमा का प्रकाश दो जीवित व्यक्तियों पर पड़ रहा था। वे दोनों बात-चीत कर रहे थे, और शची के सौन्दर्य को तथा इन्द्र के पौरुष को गहन करता हुआ चन्द्रमा उन दोनों पर हँस रहा था। जीवन-मरण के युद्ध में लगे हुए देव और असुरों के प्रतिनिधि एक-दूसरे के ऊपर शस्त्र न उठाकर बातचीत कर रहे थे, यह देखकर चन्द्रमा को आश्चर्य न हुआ। चन्द्र-किरणों का प्रभाव ऐसा ही होता है! उसका प्रकाश युद्ध करनेवालों के हृदयों को भी मृदु कर देता है। इन्द्र और शची के हृदय मृदु होकर भावुकता का अनुभव करने लगे थे। दोनों के बीच वैर था, दोनों के बीच युद्ध चल रहा था! ऐसी परिस्थिति में जब इन्द्र ने बताया कि असुरों की योजना का पता उसे लग गया है, तो शची के आश्चर्य का पार न रहा। शची इस योजना को कार्यान्वित करने

की आज्ञा देने आयी थी, परन्तु यकायक उसके मन में उठे हुए एक विचार ने उसे विक्षुब्ध कर दिया। घाटी में पानी भर जाने से इन्द्र भी डूब गया तो क्या होगा ? एक अकल्पित उलझन में वह पड़ गयी। उसी समय इन्द्र का वहाँ आना और असुरों की योजना के बारे में जानकारी प्रदर्शित करना शची के लिए अत्यधिक विस्मय का कारण हुआ था। अभी तक किसी सैनिक या असुर सेनापति के विश्वासघात करने और देवा-सेना में जाकर मिलने की घटना नहीं घटी थी। न इतनी जल्दी देवों का कोई गुप्तचर असुर-सेना में आकर यह समाचार ले जा सकता था।

"तुमको कैसे मालूम हुआ कि हमने ऐसी योजना बनायी है ?" शची ने चकित होकर पूछा।

"देखो शची ! मैं इन्द्रासन पर आया हूँ, विश्व में शान्ति और सुख स्थापित करने के लिए। मेरी जरा भी इच्छा न थी कि तुम्हारे पिता की मृत्यु मेरे हाथ से हो। मेरी अभी भी यही इच्छा है कि तुम्हारे साथ मुझे युद्ध न करना पड़े, परन्तु युद्ध अनिवार्य ही हो जाये तो इन्द्रासन पर बैठने के कारण मैं अपना कर्तव्य छोड़ नहीं सकता। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए मुझे अवश्य मोरचे-बन्दी करनी ही पड़ती है और इसलिए न चाहते हुए भी तुम्हारे पिता का वध करना पड़ा ! और इसी तरह समय पर तुम्हारी विकराल योजना का पता भी लगाना पड़ता है।"

"और साथ-ही-साथ यह भी कह दो कि आवश्यकता होने पर मेरा वध भी करना पड़ेगा !" शची के मुख से अनायास शब्द निकल पड़े—स्त्री-सुलभ रोष के साथ ! परन्तु उसे तुरन्त ही खयाल आया कि ऐसा व्यवहार सम्राज्ञी-पद के अनुरूप नहीं। यदि यह बात न कही होती, तो उसका गौरव क्षुण्ण न होता। स्त्र्योचित रोष के प्रदर्शन की आवश्यकता ही क्या थी ? शत्रु होने के नाते इन्द्र का यह एकमात्र लक्ष्य कि जल्दी-से-जल्दी शची का वध किया जाये, स्वाभाविक ही था। तब क्यों उसके मुख से ऐसे शब्द निकले ? और इन्द्र का उत्तर भी कम आश्चर्यजनक न था !

"शची ! तुम्हारा वध मैं कभी कर नहीं सकता, और न क़भी किसी को

करने दूँगा !" इन्द्र ने कहा ।

"युद्ध में मेरी और तुम्हारी मुठभेड़ तो होनी ही है ।" शची बोली ।

"हाँ नित्य ही ।"

"और मान लो कि मेरे हाथ तुम्हारा वध हो जाये ।"

"तब भी मैं तुम्हारा वध करने का प्रयत्न न करूँगा !"

"क्या इसका तात्पर्य स्त्री पर दया करने का पुरुषोचित दम्भ ही है ?"

"दया ? नहीं शची, मैं कभी दया नहीं करता; जो उचित होता है, वही करने की इच्छा रखता हूँ ।"

"स्त्री के विरुद्ध शस्त्र न उठाने को तुम उचित समझते हो ? स्त्रियों की सेना लड़ने आये, तब भी शस्त्र न उठाओगे ?"

"हाँ !"

"अवसर आने पर पता चल जायेगा ?"

"अवसर तो इसी समय उपस्थित है, चाहो तो पता लगा लो !" इन्द्र ने कहा ।

"नहीं मैं भी ऐसा कुछ करना नहीं चाहती, जिससे यह साबित हो कि असुर आर्यों से निम्नकोटि के होते हैं । परन्तु इन्द्र, मुझे यह तो बताओ कि तुम्हारा यहाँ मेरे पास इस तरह संकट उठाकर आना क्या उचित है ?"

"मैं तो यही कहने आया हूँ कि सिन्धु के उस महा-प्रवाह को हम देवों पर छोड़ने से पहले तुम अपनी उस योजना की निष्फलता को अच्छी तरह समझ लो ।"

"निष्फलता कैसी ?"

"वह सारा प्रवाह हमको न डुबाकर तुम्हारी असुर-सेना को ही प्लावित कर देगा ।"

"यह कैसे हो सकता है ?"

"जिस प्रकार असुरों के स्थपति हैं, उसी प्रकार देवों के भी स्थपति हैं । हमारे वारि-निष्णात वरुणों के देव-समूह को तुम्हारी इस योजना का पता लग गया, और उन्होंने उसके प्रतिकार की योजना भी बना ली है ।"

"क्या तुम मुझे डराने का प्रयत्न कर रहे हो?"

"नहीं, शची! मैं अनुभव से जानता हूँ कि डर तुमको लगता ही नहीं।"

"तब असफलता की बात कहकर मुझे डरा क्यों रहे हो?"

"केवल इसलिए कि मुझे विश्वास हो गया है कि तुम्हारी योजना असफल होगी।"

"तो क्या तुम्हारी मान्यता है कि देव-सेना डूबेगी नहीं?"

"मेरी मान्यता ही नहीं विश्वास है।"

"मैंने तुम्हारी बात सुन ली, अब यदि मैं तुमको पकड़ लूँ?"

"यह तुम्हारी खुशी की बात है; परन्तु मुझे एक और महत्व का संवाद सुनाना है।"

"तुम मेरे गुप्तचर हो या देवों के अधिपति?"

"हम दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध हों, ऐसे समाचार तुमको देना चाहता हूँ ताकि युद्ध रुक जाये।"

"कहो, क्या कहना है?"

"वृत्र आ रहा है...."

"इस बात की खबर तो तुमसे पहले ही मुझे मिल चुकी है।"

"वह शंकर का वरदान प्राप्त करके आ रहा है—कभी किसी व्यक्ति से, किसी भी शस्त्र द्वारा मर न सके ऐसा वरदान लेकर!"

"बचपन से ही उसने अपने शरीर को ऐसा बनाया है कि किसी भी शस्त्र का प्रभाव उसके शरीर पर जल्दी नहीं होता।"

"और फिर हिमालय की बरफ ने उसे और भी दृढ़ बना दिया है।"

"और शंकर के वरदान को क्यों भूले जाते हो? अब वह भी तपस्वी बन गया है!" शची ने कहा।

"इसका मुझे स्मरण है, परन्तु वरदान माँगने और वरदान देने की सारी प्रथा भूलभुलैया से भरी हुई है। ठीक सिद्धि प्राप्त होने के समय सिद्धि हाथ में से चली जाती है।"

"तुम वृत्र की प्रशंसा करने आये हो या निन्दा?"

"प्रशंसा करने, निश्चयेन प्रशंसा। तपश्चर्या को उसने जो महत्व दिया है उसका बखान करने !"

"तो तुमने मुझे नयी बात क्या कही ? जितना मैं जानती हूँ उससे अधिक तुमने मुझे कुछ नहीं बताया। समय बिताने के लिए मुझे बहला तो नहीं रहे हो ?"

"तुमको बहलाना होता, तो मैं ऐसी बात ही क्यों कहता ? मैं तो केवल इस बात का प्रयत्न करने आया हूँ कि यह निरर्थक युद्ध बन्द हो जाये।"

"वृत्र के आने पर यह युद्ध बन्द हो जायेगा ?"

"हाँ, यदि तुम चाहो !"

"मेरे चाहने से किस तरह ?"

"अपने प्रति वृत्र की कोमल भावनाओं को स्वीकार कर के।"

"तुम्हारे कथन का आशय समझ में नहीं आया।"

"वृत्र को तुमसे अनहद प्रेम है। तुम्हारे प्रेम की पूरी योग्यता अब उसमें आ चुकी है। वह तपस्वी हो गया है। अब उसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं रही है।"

"वृत्र के भेजे यहाँ आये हो ?"

"नहीं। मुझे किसी ने भेजा नहीं, मैं स्वयं आया हूँ।"

"वृत्र को तुम्हारे प्रमाण-पत्र की कोई आवश्यकता नहीं ! मैं उसको तुमसे अधिक जानती हूँ !"

"तब तो तुम्हें स्वयं ही यह समझना चाहिए कि युद्ध बन्द करने के लिए अपना प्रेम वृत्र को समर्पित कर दिया जाये।"

"मुझे अपना प्रेम किसी को समर्पित नहीं करना है। अपने मन की बात मैं खूब जानती हूँ। इस विषय में मुझे किसी की सलाह नहीं चाहिए।"

"वृत्र लगभग अमरत्व प्राप्त करके आ रहा है। मेरी सलाह न मानोगी, तो देव और दानवों का युद्ध भी अमर हो जायेगा।"

"यह युद्ध मेरी इच्छा से हो रहा है, वृत्र की इच्छा से नहीं। वृत्र, प्रेम और इस युद्ध का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। यह युद्ध तभी बन्द होगा, जब मैं

इन्द्रासन पर आसीन हूँगी।"

"इन्द्रासन युद्ध से नहीं, तप से मिलता है। देवताओं के अधिपति बनने के पूर्व केवल देव-श्रेष्ठ ही नहीं, तप-श्रेष्ठ भी बनना होता है। वृत्र तपश्चर्या करना सीख गया है, और दीर्घायु भी हुआ है। मुझे इन्द्रासन का कोई मोह नहीं। सुर-असुर में से कोई भी उचित तप करके इन्द्रासन के योग्य हो सकता है, वृत्र भी उसे प्राप्त कर सकता है। शर्त केवल यह है कि तुम उसका मन तपश्चर्या की ओर ले जाओ!"

"युद्ध से भागने की इच्छा है, इन्द्र!"

"असुर-श्रेष्ठ पुलोमा से युद्ध करके उसका वध करनेवाला युद्ध-भीरु नहीं हो सकता। हाँ, युद्ध की हिंसा मुझे अच्छी नहीं लगती।"

"तब क्या वृत्र से डर लगता है?"

"शची! मृत्यु से बड़ा और किसका भय? तुम कदाचित् नहीं जानती, इसलिए जान लो कि इन्द्रासन की योग्यता तभी प्राप्त होती है जब तपस्वी मृत्यु को—काल को पी जाता है। मृत्यु को तो मैं अपनी मुट्ठी में रखकर घूमता हूँ।"

"मुझे सलाह देने के बदले युद्ध-कार्य में अधिक जी लगाओ इन्द्र! अभी तक मेरी समझ में यह नहीं आया, कि तुम यहाँ मुझसे मिलने क्यों आये?"

"स्त्री-सेनापति के सामने शस्त्र उठाने को मैं भयंकर पाप समझता हूँ। वृत्र को सन्देह है कि तुम नहुष की ओर तो नहीं, परन्तु संभवतः मेरी ओर आकर्षित हो। यह बात सत्य है या नहीं, मैं नहीं जानता। यदि हो, तो मेरी ओर से चित्त को हटाकर वृत्र की ओर ले जाओ! युद्ध अपने-आप बन्द हो जायेगा।"

"देवराज! तुम पुरुष तो हो न!"

"हाँ।"

"क्या इसलिए तुमने यह मान लिया कि एक स्त्री किसी-न-किसी पुरुष के बिना जीवित रह ही नहीं सकती! कहो, सत्य है न?"

"नहीं, मैं तो तुम्हारी और वृत्र की बात कह रहा हूँ। पुरुष के बिना, एकाकी जीवन बितानेवाली ब्रह्मवादिनी नारियाँ आर्यों में विद्यमान हैं, और

विकास-मार्ग पर वे अपने नैसर्गिक नारीत्व से कहीं आगे बढ़ गई हैं...."

"अच्छा, अब जाओ। हमसे फिर युद्ध-भूमि के अतिरिक्त कहीं मिलना मत। मैं तुम्हें यहीं पकड़ लेती, परन्तु जिस प्रकार तुम स्त्रियों पर दया करने का प्रदर्शन करते हो, उसी प्रकार मुझे भी अकेले पुरुष पर दया करने का जी हो आया है...."

"देखो, शची! वृत्र के आने के पहले...."

"वृत्र को जब आना होगा, आयेगा। वह मेरा सेवक है, मैं उसकी सेविका नहीं।"

"सेव्य-सेवक की स्थिति तो आकस्मिक होती है! असुर बने हुए उस महा-आर्य को अब आया ही समझो।"

"वह आयेगा, तब मैं देख लूँगी। मेरे भी आँखें हैं!"

"आँखें सामने की ही वस्तु देखती हैं, पीछे की नहीं। जरा सिर घुमाकर देखो, वृत्र आकर पीछे खड़ा है और तुमको तथा मुझको देख रहा है।" इन्द्र ने सस्मित कहा।

"क्या? क्या कहा?" कहती हुई शची ने घूमकर पीछे देखा तो सचमुच वृत्र वहाँ खड़ा उसकी ओर देख रहा था! शची और वृत्र की आँखें मिलीं। तपश्चर्या के कारण वृत्र की काया कंचन-जैसी हो गयी थी। शची और इन्द्र को रात की एकान्त निस्तब्धता में चन्द्रमा की चाँदनी में खड़े देखकर तपस्वी वृत्र की आँखों में कटार का पैनापन कौंधने लगा था। शची ने आँखों के उस पैनेपन को देखा। वृत्र का प्रेम-भाव उससे छिपा न था। इन्द्र का कथन उसे याद आया। वृत्र को अपना प्रेम समर्पित करने की सलाह देनेवाला इन्द्र भी उसके पास ही खड़ा था! पुरुषों की परवाह न करनेवाली और स्त्रीत्व से भी ऊपर उठने की महत्वाकांक्षा रखनेवाली शची के दोनों ओर एक-एक पुरुष खड़ा था! वृत्र के नेत्रों की ओर देखकर शची ने पूछा—"वृत्र! तुम यहाँ मेरी अनुमति के बिना क्यों आये?"

"मैं समझता हूँ कि असुरों के एक सेनापति को दूसरे सेनापति के पास अनुमति के बिना जाने का अधिकार है।" वृत्र ने उत्तर दिया। उसे शची से

ऐसे उद्धत व्यवहार की आशा न थी।

"मैं अब केवल सेनापति नहीं हूँ, असुर साम्राज्य की सम्राज्ञी भी हूँ!"

"सम्राज्ञी को मेरा प्रणाम स्वीकार हो। साथ ही सम्राज्ञी को इतना याद रहे कि असुरों की राज्ञी, महाराज्ञी अथवा सम्राज्ञी—किसी को भी असुर-राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने की अनुमति नहीं है।"

"तुम क्या बोल रहे हो, वृत्र?"

"जो आँखों से देखा, वही कह रहा हूँ।"

"क्या देखा तुमने?"

"असुर-सम्राज्ञी को देव-सम्राट् के सामने अकेले में खड़े देखा।"

"इसका तात्पर्य?"

"यही कि असुर-भूमि कहीं देव-भूमि में मिल न जाये?"

"देव-भूमि ही असुर-भूमि में क्यों नहीं मिल जायेगी?"

"मुझे भय है शची, स्त्री-हृदय का! वह एक क्षण में अपनी देह के साथ सारी सृष्टि को पुरुष के चरणों में रख देती है!"

"तुम्हारे कथन का यही अर्थ है कि मैं देवराज इन्द्र पर मोहित हूँ?"

"निश्चित। मेरा ऐसा ही विश्वास है।"

"यह तुम्हारा भ्रम है। यदि ऐसा होता तो मैं कभी युद्ध शुरू न करती; और पिताजी के मारे जाने के बाद इस युद्ध को आगे न चलाती।"

"असुर-प्रजा को अपने पक्ष में रखने की कला तुम भली-भाँति जानती हो।"

"तुम समझते हो कि मैंने इसी के लिए युद्ध को चालू रखा है?"

"हाँ!"

"जब मेरा राज्याभिषेक हुआ, उस समय तुम कहाँ अदृश्य हो गये थे?"

"अच्छा ही हुआ कि मैं उस समय उपस्थित न था। तुमको राज्य मिला, और मुझे वरदान!"

"और यदि तुम उपस्थित होते?"

"तुम्हारे राज्याभिषेक का विरोध करता।"

"अब वरदान प्राप्त करके मेरा विरोध करने आये हो?"

"तुम यदि इन्द्र के साथ सन्धि करोगी, तो मैं अवश्य तुम्हारा विरोध करूँगा।"

"मैं इन्द्र के साथ सन्धि क्यों करने लगी?"

"हर बार कारण बताने से कोई लाभ नहीं।"

"मेरे और इन्द्र के बीच क्या बातें हुईं, यह तुमने सुनीं?"

"नहीं।"

"पूछो इन्द्र से कि मैंने उससे क्या कहा?"

"इन्द्र यहाँ हो, तो उससे पूछूँ। वह है ही नहीं तो किससे पूछूँ?"

"यहाँ नहीं है? कहाँ चला गया इतने में ही?" शची ने घूमकर इन्द्र को खोजते हुए कहा।

"तुमको मेरी ओर देखने की सूचना देकर वह अदृश्य हो गया—हम दोनों एक-दूसरे के सामने देखते ही रह गये! हाथ में आये हुए शत्रु को भागने देना, एक बहुत बड़ा अपराध है!" वृत्र ने कहा। शची ने चारों ओर नजर दौड़ायी। वृत्र की ओर देखने के लिए जब शची ने अपना मस्तक घुमाया तब तो इन्द्र स्मित करता हुआ उसके पास खड़ा था। इतनी-सी देर में वह कहाँ चला गया? अपनी और वृत्र दोनों की नजरें बचाकर इतना जल्दी भाग जानेवाला इन्द्र जादूगर तो नहीं है? न उसके पाँव की आहट हुई, न शस्त्रों की झंकार सुनायी दी, और न पहाड़ का कोई पत्थर ही लुढ़का!

अब क्या किया जाये?

शची असुरों की सम्राज्ञी अवश्य थी। उसे किसी के आगे अपने आचरण की सफाई देने की आवश्यकता भी न थी। तथापि इतना तो अवश्य हुआ कि असुरों के प्रिय-पात्र असुर-श्रेष्ठ वृत्र ने शची को इन्द्र के साथ बातें भी करते हुए अपनी आँखों से देखा, और शची ने हाथ में आये हुए शत्रु को भाग जाने दिया। यद्यपि इन्द्र शची के पास अपना प्रेम व्यक्त करने के लिए नहीं आया था, और न शची ही उसकी खोज में निकली थी; उसने तो इन्द्र की सलाह को ठुकराया ही था!

"तुमको पता है कि इन्द्र यहाँ क्यों आया था?" शची ने वृत्र के हृदय

में विश्वास उत्पन्न करने के लिए पूछा।

"केवल कल्पना कर सकता हूँ, परन्तु ठीक-ठीक नहीं जानता।" वृत्र ने कहा।

"तो जान लो कि वह हमारी एक योजना की निरर्थकता बतलाने के लिए आया था।"

"देवों को पानी के प्रवाह में डुबो देने की जो योजना बनायी थी, उसी की बात कर रही हो? यहाँ आने के पहले हमारे स्थपति से इस योजना के विषय में मैंने सब-कुछ जान लिया है।"

"इन्द्र को जाने कैसे इस योजना का पूरा पता चल गया और उसे निरर्थक करने की प्रतियोजना भी उसने तैयार कर ली, यही सब कहने से लिए वह यहाँ आया था!"

"झूठा कहीं का! इस काम के लिए भला वह यहाँ क्यों आने लगा?"

"यदि तुम ऐसा समझते हो, तो हमारी योजना को कार्यान्वित होने दो। इन्द्र यदि झूठा है तो देवों को अवश्य डूब मरना चाहिए।" शची ने दृढ़तापूर्वक कहा।

वृत्र कुछ क्षण तक शची की ओर देखता रहा। अन्त में उसने पूछा—"यदि वह झूठा न हुआ?"

"तो हम लोगों को सावधान रहना चाहिए।"

"शची! तुम एक समस्या हो—समझ के परे!"

"मेरे विषय में तुमको क्या समझ में नहीं आता?"

"इस युद्ध में तुम किसको खोज रही हो—विजय को अथवा इन्द्र को? मेरी समझ में नहीं आता।"

"अभी तक तुम्हारे मन में यह सन्देह बना हुआ है कि इस युद्ध के बहाने मैं इन्द्र के पीछे भटक रही हूँ! इस शंका को मैं अभी ही दूर किये देती हूँ।"

"किस प्रकार?"

"आज से देव-असुर-युद्ध का सर्वोच्च सेनापतित्व तुम्हें सौंपती हूँ।"

"इसका अर्थ?"

"यही कि असुर-सम्राज्ञी होने के नाते जो अधिकार और सत्ता मेरे हाथ में हैं, वे सब तुम्हें सौंप दिये। आज से आज्ञा देने का काम मेरा न रहेगा। इस युद्ध के लिए तुम्हारी ही आज्ञा सर्वमान्य और सर्वोपरि होगी और अन्तिम भी! बस?"

शची ने युद्ध के सब अधिकार वृत्र को दे दिये। वृत्र की चिन्ता दूर हुई, और आनन्द से उसकी आँखें चमकने लगीं। उसने पूछा—"और तुम कहाँ रहोगी?"

"जहाँ तुम कहोगे! जहाँ रहने की आज्ञा दोगे वहीं! युद्ध में अपने साथ रखोगे, तो सतत साथ रहूँगी; और हरियुपीय जाने की आज्ञा मिलेगी, तो वहाँ चली जाऊँगी।"

"इतनी उदारता दिखाने का कारण?"

"कारण यही है कि तुम्हारी शंका का निवारण हो सके।"

"शंका कैसी?"

"भूल गये? तुम्हारे मन में यह शंका घर कर गयी है कि मैं युद्ध दिखाने के लिए कर रही हूँ, मन से नहीं।"

"शंका-निवारण के लिए यदि मैं तुम्हें सतत अपने साथ ही रखूँ?" जरा हँसकर वृत्र ने कहा। उसको ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके तप का असर शची पर हो रहा है। तपस्वियों में गणना होनेवाले इन्द्र की बराबरी का स्थान वह शीघ्र ही शची से प्राप्त कर सकेगा।

"असुरों को अथवा तुमको मैं कभी धोखा नहीं दूँगी, इसका विश्वास रखना।" शची ने भी हँसकर उत्तर दिया।

शची को जीतने का एक ही सच्चा रास्ता वृत्र को दीख पड़ा—शची को सर्वदा अपने साथ रखना, अपने पराक्रमों से उसे प्रभावित करना, और इन्द्र को अपमानित करने के प्रसंग ढूँढ़-ढूँढ़ कर उपस्थित करना....और अन्त में इन्द्र का वध कर डालना! शची की ओर से युद्ध में आज्ञापालन का आश्वासन तो उसे मिल ही चुका था।

"अधिक आश्वासन की अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं। स्थपति को यहीं से

पुकारकर आज्ञा दे दो कि वह सिन्धु का प्रवाह खोल दे ! मेरा युद्ध-कौशल यहीं से शुरू होता है। शची, देवों की सेना को डूब जाने दो !' वृत्र ने कहा।

और शची ने पर्वत-शिखर पर खड़े रहकर ही ऊँचे स्वर में स्थपति को आज्ञा दी—"प्रवाह खोल दो ! एक क्षण की भी देर किये बिना प्रवाह खोल दो !"

शची के शब्द शिखर के ऊपर से सारी पर्वतमाला में गूँज उठे। नीचे खड़े हुए स्थपति ने भी उन्हें सुना। चन्द्रमा का प्रकाश चारों ओर फैल गया था। सिन्धु नदी का एक हहराता हुआ प्रवाह तो बह ही रहा था। शची के शब्दों की गूँज अभी शान्त भी न हुई थी एक दूसरे प्रवाह को पास की घाटी की ओर बढ़ते हुए वृत्र और शची ने देखा।

[१९]

सिन्धु की दूसरी धारा भी प्रवाहित होने लगी। उसे देखकर एक क्षण के लिए शची के मन में विचार आया—"इन्द्र इस प्रवाह में डूब न जाये !"

तभी जाने कहाँ से शची को ये शब्द सुनायी दिये—प्रवाह छोड़ने की आज्ञा देकर भूल की शची ! मैं झूठी धमकी देने नहीं आया था।"

ये किसके शब्द थे ? कण्ठ-स्वर तो इन्द्र का ही था ! चौंककर शची ने आस-पास देखा। वृत्र के अतिरिक्त वहाँ और कोई न था ! वृत्र को भी वही आवाज सुनायी दी और उसे भी आश्चर्य हुआ।

"कौन बोला ?" वृत्र ने पूछा।

"मैं भी यही खोज रही हूँ।" शची ने कहा।

हवा में दूसरी बार वही कण्ठ-स्वर सुन पड़ा—"शची ! बचना हो तो जल्दी नीचे उतर जाओ। यह शिखर गिर रहा है !"

शची पुनः चौंक उठी। वृत्र को भी आश्चर्य हुआ। दोनों ने चारों ओर ध्यान से देखा। जिस शृङ्ग पर वे खड़े थे उसके सामनेवाले शृङ्ग पर दूर-दूर

कोई घूमता हुआ दिखायी दिया। ध्यान से देखने पर शची और वृत्र दोनों को विश्वास हो गया कि वह इन्द्र ही था!

"इन्द्र क्यों इस प्रकार घड़ी-घड़ी सूचना देता है? क्या वह नहीं जानता कि मैं मृत्युञ्जय हूँ?" वृत्र ने कहा।

"वृत्र भले ही मृत्युञ्जय हो, शची तो मृत्युञ्जय नहीं। जितनी देर करोगे, शची के लिए भय उतना ही विकट होता जायेगा।" पुनः वही आवाज सुनायी दी।

इन्द्र के पास ऐसी कौन-सी स्वर-विद्या थी जिसके द्वारा वह दूर रहकर भी इस तरह बातचीत कर सकता था मानों निकट ही हो!

यकायक शची और वृत्र दोनों को लगा कि जिस शृंग पर वे खड़े थे वह हिल रहा है।

वृत्र को मृत्यु का भय न हो, परन्तु पर्वत के गिरने से उसके शरीर को कष्ट तो होता ही और शची को तो मृत्युञ्जय होने का वरदान मिला न था! मृत्यु उसे क्योंकर छोड़ने लगी? वृत्र ने शची को प्राप्त करने ही के लिए तो वरदान माँगा था। कम्पित पर्वत-शृंग के नीचे उतर जाना ही श्रेयस्कर था। अभी तक इन्द्र को शची का मोह था, और शची को इन्द्र का! जब तक रण-भूमि में वृत्र और इन्द्र का सामना नहीं होता, और वृत्र को अपना महान पराक्रम दिखाने का अवसर नहीं मिलता, यही स्थिति रहेगी। शची जब वृत्र का पराक्रम देखेगी, तब स्वयं इन्द्र के मोह को छोड़कर वृत्र की ओर आकर्षित होगी। परन्तु तब तक शची को सुरक्षित तो रखना ही पड़ेगा।

यकायक शची का हाथ पकड़कर वृत्र नीचे की ओर दौड़ा। दोनों अभी आधे ही रास्ते पर पहुँचे थे कि पहाड़ के फटने की आवाज सुनायी दी, और जिस स्थान पर वे थोड़े समय पहले खड़े थे, वह स्थान शिखर-सहित भयंकर ध्वनि के साथ नीचे की घाटी में जा गिरा। एक क्षण की भी देर हुई होती तो दोनों असुर-नेता शिखर के पत्थरों के नीचे दब जाते। पर्वत की एक चोटी देखते-ही-देखते अदृश्य हो गयी। पर्वत-शृंग के गिरने की आवाज भयंकर थी। उसे और अधिक भयंकर बनाया गिरि-कन्दराओं की प्रतिध्वनि ने।

"यह इन्द्र का ही काम है न ?" शची ने पूछा।

"हाँ। सुना है कि उसके बाण और भाले के सामने बड़े-बड़े पर्वत भी नहीं टिक सकते। आज प्रत्यक्ष देख लिया।" वृत्र ने कहा।

"उसके हाथ लम्बे अवश्य हैं, परन्तु वे इतने बलशाली होंगे, यह मैंने नहीं सोचा था। मुझे तो उसके हाथ किसी अच्छे नर्तक के हाथ-जैसे लगे थे, वीर योद्धा जैसे नहीं !"

"तुमने उसके हाथ इतने ध्यान से कब देखे ?"

"मैं उसके हाथों को ध्यान से क्यों देखने लगी ? लेकिन तुम जानते हो हो कि जब तुम आये, वह मेरे सामने खड़ा था !"

"अब हम लोगों को उसके हाथ बार-बार देखने पड़ेंगे। और उन हाथों को काटना भी होगा।"

"क्यों ?"

"उन हाथों में जादू है, इसलिए।"

"लोग कहते हैं कि उसके हाथों ही में नहीं, सारे शरीर में जादू भरा है। क्या यह सच है ?"

"इस इन्द्र में कुछ विशेषता अवश्य है। उसका एक युद्ध-प्रकार इन्द्रजाल के नाम से विख्यात है। उसकी सारी दक्षता और युद्ध-कौशल को निरर्थक करने ही के लिए मैंने जन्म लिया है, शची !"

"यह तो बड़ा ही अच्छा है ! हमारी सेना का नेतृत्व तो अब तुम्हारे ही हाथ में है।"

"विजय मेरी मुट्ठी में है। समझी, शची ?"

"अवश्य ! परन्तु वृत्र, यह क्या ? घाटी में आनेवाला पानी देवों की ओर न जाकर असुर-सेना की ओर बढ़ रहा है ! इन्द्र यही कहने आया था !"

"अरे हाँ ! पानी का प्रवाह हमारी ओर ही आ रहा है ! अभी सैनिक सोये न होंगे। उनको अपने स्थान से हट जाने का आदेश तुरन्त देना चाहिए। चलो, जल्दी चलें !" वृत्र ने कहा। और दोनों दौड़े।

पहरा देनेवाले सैनिक सतर्क खड़े थे। भयसूचक ढोल बजने लगे। सारी

सेना स्थान छोड़कर भागने की तैयारी में लग गयी। चारों ओर हलचल मच गयी। थोड़ी ही देर में असुर-सेना की प्रत्येक टुकड़ी, जो सामग्री हाथ में आयी उसे लेकर, पहाड़ के ऊपर चढ़ गयी और वहाँ सुरक्षित स्थान खोजने लगी। उनको ज्ञात हो गया कि पर्वत-शिखर ने गिरकर घाटी में आनेवाले पानी के प्रवाह-मार्ग को बदल दिया है। यह प्रवाह देव-सेना की ओर न जाकर असुर-सेना की छावनी की ओर घूम गया था। मध्यरात्रि बीत गयी होती तो सेना इतनी सावधानी और शीघ्रता से कार्य न कर सकती। इस समय भी पूरी साव-धानी के बावजूद बहुत से आदमी और युद्ध-सामग्री बह गयी। सामग्री के नुकसान की परवाह न करके वृत्र बहनेवाले आदमियों को बचाने में व्यस्त हो गया। उसने बहुत-से सैनिकों को बचाया। देवों को नुकसान पहुँचाने के लिए बनायी हुई योजना असफल रही। इन्द्र का कोई नुकसान नहीं हुआ। जिस क्षण शची ने युद्ध का पूरा भार वृत्र पर डाला, उसी क्षण असुरों की युद्ध-योजना विफल हो और असुर-सेना को भारी नुकसान उठाना पड़े, यह वृत्र के लिए लज्जा की बात थी। वृत्र ने इसको बड़ी तीव्रता से अनुभव किया। सारी रात सेना को हटाने और उसका संरक्षण करने में ही बीत गयी।

देवों की सेना सुरक्षित थी। वास्तव में जो दुर्दशा असुरों की हुई, वह देवों के लिए नियोजित थी। परन्तु इन्द्र ने सारी बाज़ी ही पलट दी। शची भले ही असुरों की सम्राज्ञी हो, परन्तु इस समय तो पहले ही दाँव में इन्द्र का गौरव बढ़ गया, और वृत्र के आदेश ने असुरों को कठिनाई में डाल दिया था। असुर-सेना को बचाने की व्यवस्था करते समय वृत्र ने निश्चय किया कि इन्द्र को बन्दी करना होगा, अथवा उसका काम ही तमाम करना पड़ेगा!

वृत्र ने उसी दिन शची से पूछा—"शची! तुम सोचती होगी कि मैंने बड़ी भूल की।"

"तुमको युद्ध की सारी व्यवस्था सौंप देने के बाद मैं कुछ भी विचार नहीं करती।" शची ने उत्तर दिया।

"यह नहीं हो सकता। सोचना तो तुमको होगा ही। क्योंकि यह राज्य और सेना तुम्हारे हैं; और मैं स्वयं भी तुम्हारा ही नियुक्त किया हुआ सेना

नायक हूँ...."

"पूछोगे तो मैं सलाह अवश्य दूँगी।"

"इन्द्र ने निश्चित योजना बनाकर पहली ही झड़प में सम्राट् पुलोमा को मारा। मैंने भी ऐसी योजना बनायी है कि अब सबसे पहले इन्द्र को ही पकड़ा अथवा मारा जाये।"

"देवताओं पर विजय प्राप्त करना हो, तो यही करना होगा।"

"देव-सेना आगे बढ़ती हो, ऐसा दीख नहीं पड़ता। वह पीछे ही हट रही है। सारे दिन हम उसे युद्ध में उलझाये रहें। रात्रि के समय मैं स्वयं इन्द्र की छावनी पर छापा मारूँगा।"

"मेरी धारणा है कि उसकी अपनी शक्ति और इन्द्रजाल का विचार न भी किया जाये, तब भी इन्द्र, जितना हम समझते हैं उससे कहीं अधिक सुरक्षित है।"

"इसका तात्पर्य? क्या तुम समझती हो कि इन्द्र अजेय है?"

"ऐसा समझती, तो अभी तक युद्ध न करती, बन्द कर देती। परन्तु अनुभव बताता है कि इन्द्र को जीतना उतना सरल नहीं है जितना तुम समझते हो। पिछली रात का ही विचार कर देखो!"

"वह रात तो बीत गयी; अब उसका विचार न करो। आनेवाली रात के विषय में सोचो।"

"अच्छा। आज की रात्रि के विषय में क्या विचार है?"

"यदि आज रात में स्वयं इन्द्र या उसका मस्तक तुम्हारे चरणों पर आकर गिरे तो कैसा रहे?"

"यदि इन्द्र जीवित मेरे चरणों पर गिरा तो एक बार उस पर अपने चरण का प्रहार करूँगी। यदि उसका मस्तक गिरा तो मुकुट उतारकर तुम्हें स्वर्ग का अधिपति घोषित करूँगी।"

"उसके बाद?"

"उसके बाद क्या करना होगा इसका विचार इस समय नहीं आता।"

"अच्छा, रात तक क्या होता है, यह देखती रहो।"

"देखना वृत्र, व्यर्थ का साहस कर संकट में मत फँस जाना।"

"संकट! शंकर के वरदान के बाद मेरे लिए विश्व में संकट जैसी कोई वस्तु नहीं रही!"

"स्वयं तुमको कोई भय न हो; परन्तु अन्य असुरों के शरीर तो शस्त्रों से क्षत हो सकते हैं।"

"तुमको मैं कभी शस्त्र के सामने खड़ा ही न रहने दूँगा।"

"यह हो नहीं सकता। मैं सतत तुम्हारे पास, तुम्हारे पार्श्व में खड़ी रहकर युद्ध करूँगी—फिर चाहे दिन हो या रात!" शची ने हँसते हुए कहा।

"अच्छा?" शची की स्मित और दिन-रात अपने पार्श्व में खड़ी रहने की बात से वृत्र को आश्चर्य और आनन्द दोनों ही हुए। और इस विचार से कि शची मेरी ओर आकर्षित हो रही है वृत्र के आनन्द का पार न रहा।

क्या शची वास्तव में वृत्र की ओर आकर्षित हो रही थी? अथवा उसका नारी-हृदय इन्द्र को देखने, या बचाने के उद्देश्य से वृत्र का साथ खोज रहा था? इन्द्र पराजित होकर उसके चरणों पर गिरे, यह विचार उसे अप्रिय लगा! पराजित पुरुष किस स्त्री को प्रिय लगेगा? हारकर स्त्री के पैरों पर गिरनेवाला पुरुष तो उसकी ठोकर का ही अधिकारी है।

और इन्द्र का कटा हुआ मस्तक उसके पाँव पर रखा जाये, तो? शची ने बहुत-से कटे हुए मस्तक देखे थे। इसलिए छिन्न-भिन्न मस्तकों को देखकर वह काँपेगी नहीं। यद्यपि इस बात का दुःख अवश्य होगा कि उन मस्तकों को धारण करनेवालों की जीवन-लीला सुर-असुर की विजय की खींच-तान में व्यर्थ चली गयी। परन्तु इन्द्र के कटे हुए मस्तक की कल्पना करके वह काँपने लगी। इन्द्र का वध उसे न करना चाहिए, भले ही वह असुरों का कट्टर दुश्मन और उसके पिता का हन्ता ही क्यों न हो!

वृत्र इन्द्र का वध करने में अपने भरसक कुछ उठा न रखेगा। इस कार्य से उसे विमुख करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। शत्रु के नेता को मारना सर्वदा से युद्ध-नीति और राजनीति रही है। शची का भी यही धर्म था। इन्द्र के आकर्षण को निर्मूल करने के लिए यह आवश्यक था कि शची युद्ध में बरा-

बर वृत्र के साथ रहे, और उसकी सब योजनाएँ सफल करे। असुर-सम्राज्ञी शची इन्द्र के मोह में पड़े, यह उसे शोभा नहीं देता।

परन्तु अपराजित इन्द्र यदि प्रेमी के रूप में शची के चरणों पर गिरे तो? इस विचार के आते ही शची के शरीर में एक अद्भुत आनन्द-लहरी दौड़ गयी; मानों कमल-पुष्प का मार्दव उसका स्पर्श कर रहा हो! जड़ देह में इस प्रकार का परिवर्तन करनेवाली कल्पना को परे हटा शची दिन-भर से चल रहे भयंकर देवासुर-युद्ध के कार्य में व्यस्त हो गयी।

वृत्र के नेतृत्व में हो रहा आज का युद्ध बड़ा ही भयंकर था। पानी से भरी हुई घाटी को छोड़कर असुर-सेना पहाड़ के ऊपर आयी और शीघ्र ही युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गयी। व्यवस्थित होते ही उस पहाड़ के पीछे छिपी हुई देव-सेना पर उसने आक्रमण किया। देवों की टुकड़ियों ने बड़ी ही वीरता से सामना किया। असुर-सेना भयंकर युद्ध करके ज्योंही कुछ आगे बढ़ती, मरुतों की देव-सेना की टुकड़ी झंझावात की तरह उन पर टूट पड़ती। मरुतों का व्यूह-भेदन कर ज्योंही असुर दूसरी पहाड़ी पर पहुँचते, अग्नि बरसानेवाले शस्त्रों से सज्ज अग्नि-देव की टुकड़ियाँ उनका विरोध करने के लिए दौड़ी आतीं। इस अग्नि-व्यूह में अनेक असुरों की आहुती देकर वृत्र की सेना थोड़ा आगे बढ़ती, तो उसके बढ़ाव को रोकने के लिए सूर्यदेवों का भयंकर मोरचा खड़ा हो जाता, जो अग्निदेवों के मोरचे से भी अधिक भयंकर होता! इसके उपरान्त स्थान-स्थान पर आग लगाता और अनेक प्रकार के संकट उपस्थित करता हुआ मित्रों का व्यूह असुरों के लिए एक नयी समस्या खड़ी कर देता था।

इस स्थान पर देव-सेना ने इतनी बड़ी और व्यवस्थित व्यूह-रचना की होगी, इसका जरा भी विचार वृत्र और शची को न हो सका था। पुलोमा की मृत्यु के बाद इन्द्र ने असुरों के अनेक नगर और दुर्ग जीत लिये थे। परन्तु ज्योंही पुलोमा का स्थान ग्रहणकर शची ने असुर-सेना का नेतृत्व सँभाला, इन्द्र की युद्ध-प्रगति यकायक रुक गयी थी। इतना ही नहीं, देव-सेना धीरे-धीरे पीछे हटने लगी थी। इससे शची की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। शची ने अपने खोये हुए कितने ही दुर्ग और नगर देवों के हाथ से पुनः छीन लिये। देव पीछे

हटते-हटते अपने देश की सीमा पर पहुँच गये। असुर-स्थान और देव-स्थान के बीच की सीमा पर खड़ी पर्वत-श्रेणियों के एक ओर असुर-सेना थी, और दूसरी ओर देव-सेना! इन पर्वत-मालाओं में घमासान मच गया। यहाँ से भी देवों को भगा देने की पूरी तैयारी शची ने कर ली थी। इन्हीं तैयारियों का एक भाग था, देव-सेना को जल-प्रवाह से घाटी में डुबो देना! लेकिन शची की यह योजना विफल हुई। असुर-सेना का भावी कार्यक्रम अपने हाथ में लेकर वृत्र ने पुनः भयंकर युद्ध शुरू किया। परन्तु देवों को पीछे हटाने के कार्य को वृत्र ने जितना सरल समझा था, वह उतना सरल न था।

एक बार तो मरुत-सैन्य ने अपना तूफ़ानी धावा करके असुर-सेना के दाँत खट्टे कर दिये। असुर सैनिकों के पाँव पीछे हटने लगे। यह देखते ही वृत्र सेना के अग्र भाग में पहुँच गया, और अपने पराक्रम से सैनिकों को उत्तेजित करने लगा। वृत्र को आगे आया हुआ देखकर, मरुतों के सेनापति ने उसके ऊपर स्वयं हमला किया, और उसे पीछे ढकेलने का प्रयत्न किया। परन्तु वृत्र का वेग रुका नहीं। मरुतों के हमले और शस्त्र वृत्र के सामने निरर्थक हो गये। दुर्दमनीय साहस दिखाता और हँसता-हँसता वृत्र आगे बढ़ा। मरुतों के व्यूह का उसने भेदन किया, और शची के साथ वृत्र के नेतृत्व में असुर-सेना काफी आगे बढ़ गयी। इतने में अग्नि-व्यूह की रचना दीख पड़ी। आग की कराल लपटें देखकर असुरों का अग्रिम मोरचा पीछे हटने लगा। परन्तु वृत्र के आगे आते ही युद्ध का रूप बदल गया। अग्नि की परवाह किये बिना वृत्र आगे बढ़ने लगा। देवों के आग्नेयास्त्र निरर्थक हो गये, और देखते-ही-देखते वृत्र ने अग्नि-व्यूह को भी तोड़ डाला। देव-पंक्ति में दरार पड़ते ही असुर-सेना उसमें घुस गयी। अग्नि-व्यूह को तितर-बितरकर ज्योंही असुर-सेना आगे बढ़ी, उसे सूर्य-टुकड़ी का सामना करना पड़ा। यहाँ सूर्य का तपने-तपानेवाला भयंकर ताप था! वृत्र न होता, तो इन दुर्धर्ष देव-मोरचों का भेदन असम्भव ही था। अन्य असुर-नेताओं के साथ शची को भी यह बात स्पष्ट-रूप से दीख रही थी। देवों का कोई अस्तित्व ही न हो, इस प्रकार सरलता से वृत्र देव-मोरचों में घुस जाता था। देवों के शस्त्र उस पर कोई असर ही नहीं करते थे।

चारों ओर से बरसनेवाले शस्त्रों का निवारण करता हुआ वृत्र दुश्मनों पर ऐसे भयंकर प्रहार करता कि उनके पैर उखड़ जाते, और देव-सेना की मोरचा-बन्दी छिन्न-भिन्न हो जाती। ऐसी परिस्थिति का लाभ उठाकर असुर सेना आगे बढ़ जाती।

देव-मोरचों के छिन्न-भिन्न होते ही कुछ देव-टुकड़ियाँ भाग जातीं, और कुछ वृत्र के पीछे आनेवाली असुर-सेना द्वारा मृत्यु के घाट उतार दी जातीं। देवों के प्रारंभिक आक्रमण ने एक बार असुरों में निराशा फैला दी थी। परन्तु धीरे-धीरे वृत्र के महान शौर्य ने उनके हृदय में अपूर्व उत्साह का संचार किया। देवों के मरुत और अग्नि मोरचों का भेदन करने की कल्पना तक असम्भव समझी जाती थी। परन्तु वृत्र ने उसे करके दिखा दिया। उसके पराक्रम से लोगों को विश्वास होने लगा कि असुर-शक्ति देवों को पराजित कर सकती है। वृत्र की परिगर्जना और हुंकार को प्रतिध्वनित करती हुई असुर-सेना आगे बढ़ी जाती थी। सूर्य-व्यूह ने एक बार वृत्र को रोका, परन्तु अन्त में वृत्र की अतुलित शक्ति ने उसका भी भेदन कर डाला, और सूर्य-सेना भागने लगी।

वृत्र किसी को भी श्वास लेने का समय नहीं देता था। सूर्य-सेना से लड़ने में और उस मोरचे को तोड़ने में साँझ हो गयी थी। आर्यों की युद्ध-नीति के अनुसार सायंकाल में युद्ध-विराम होना चाहिए। परन्तु विजयोन्मत्त असुरों को सन्ध्या या रात्रि रोक नहीं सकती थी। वृत्र अजीत था, शची की उपस्थिति उसके उत्साह को और भी बढ़ाती थी। देवों की पराजित टुकड़ियाँ हारकर भागने अथवा छिपने लगीं। इस विजय-प्रवाह को सन्ध्या या रात्रि के बहाने रोकना वृत्र के लिए सम्भव न था। एक दिन पहले इन्द्र ने उसे जिस तरह नीचा दिखाया था, उसकी कसक अभी गयी न थी। आज ही देवासुर-संग्राम का अन्त कर देने की इच्छा वृत्र को हो आयी। युद्ध की गति उत्साहवर्धक थी। वृत्र और शची शस्त्र चलाते हुए आगे बढ़ते जाते थे। ज्योंही सूर्य-व्यूह का भेदन हुआ, वृत्र ने कहा—"शची! मेरी बात याद है?"

"कौन-सी?"

"इन्द्र अथवा इन्द्र के मस्तक को रात होने के पहले तुम्हारे चरणों पर

रखने की !"

"याद है।"

"वह क्षण अब आ ही रहा है।"

"तुम्हारा और इन्द्र का युद्ध मुझे देखना है।"

"उस युद्ध के परिणाम की कल्पना तुम कर सकती हो—सूर्य-व्यूह के पीछे वज्र-व्यूह होता है...."

"ऐसा कुछ दीख तो नहीं पड़ता। यहाँ तो व्यूह के स्थान पर अव्यवस्था ही नजर आ रही है।"

"इसी लिए इस युद्ध के परिणाम की ओर तुम्हारा ध्यान खींच रहा हूँ। इन्द्र अब मेरे हाथ से बच नहीं सकता।"

"तुम्हारे हाथ से बचेगा, तो मेरा हाथ है !"

"इसका क्या अर्थ ?"

"विजय तुम्हारे हाथ में दीख पड़ रही है, ऐसे समय भी मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि स्वर्ग का सिंहासन प्राप्त न होगा, तब तक मेरी निकली हुई तलवार म्यान में नहीं जायेगी।" शची ने कहा।

"तुम्हारे ये शब्द और तुम्हारा यह सहयोग मुझे विजय की ओर प्रेरित करनेवाला हो।"

"तुम्हारी विजय के लिए मेरे सहयोग की अपेक्षा नहीं, तुम्हारी वीरता ही तुमको विजयी करेगी।" शची ने वृत्र की प्रशंसा की।

परन्तु वृत्र जानता था कि जिस प्रकार शङ्कर के वरदान ने उसे अवध्य किया उसी प्रकार शची के साथ ने उसके हृदय में उत्साह और प्रेरणा के स्रोत प्रकट किये। बिना शची के विजय किस काम की ?

देव-सेना अपनी छावनी व्यवस्थित कर रही थी। इतने में वृत्र ने उस पर आक्रमण कर दिया। रात हो गयी थी, परन्तु इसका विचार किये बिना वृत्र देव-छावनी में घुस गया। एक कुटीर पर इन्द्र ध्वज लहरा रहा था। यही देवों के सेनापति का आवास होना चाहिए, यह विचार कर वृत्र उसी ओर दौड़ा। देखते-ही-देखते इस विभाग को असुरों ने घेर लिया। इन्द्र-कुटीर को पहचान-

कर वृत्र और शची उसके अन्दर जाने का प्रयत्न करने लगे। यहाँ कुटीर के रक्षकों से भयंकर युद्ध हुआ; अन्त में वृत्र ने उन्हें हराया और कुटीर के अन्दर जाकर इन्द्र को ललकारा—"देवराज! बाहर निकलो। द्वन्द्व-युद्ध करना है या शस्त्र-युद्ध?"

दूर से किसी का अट्टहास सुनायी दिया। इन्द्र का ही अट्टहास था। शची आवाज को पहचान गयी और न जाने क्यों यह आवाज उसे बड़ी प्रिय लगी। वृत्र भी इन्द्र के स्वर को पहचान गया।

परन्तु उसके आश्चर्य का पार न रहा। उसके आह्वान का उत्तर कुटीर में से नहीं, अपितु पहाड़ के किसी खुले मैदान से आया था। देव-सेना पराजित हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में कोई देव हँस नहीं सकता था। तब इन्द्र क्यों हँसा? और वह भी तिरस्कारयुक्त उन्मुक्त हँसी। इन्द्र ने कोई जाल तो नहीं बिछाया था? जिस प्रकार उसने पानी के प्रवाह को बदल दिया उसी प्रकार का इन्द्रजाल तो नहीं? इन्द्र अपनी कुटीर में था ही नहीं!

"हारकर भी हँसनेवाले ये देव ही देखे!" वृत्र ने शची की ओर देखकर कहा। शची को विजय का हर्ष अवश्य था; परन्तु न जाने क्यों वृत्र का इन्द्र की कुटीर की ओर जाना उसे अच्छा नहीं लग रहा था। कदाचित् इन्द्र कुटीर में ही हो, और वृत्र के हाथ पकड़ा जाये! इन्द्र के पकड़े जाने का विचार उसे अप्रिय लगा। और उसका वध तो होना ही न चाहिए। इन्द्र को कुटीर में न देख शची का हृदय शान्त हुआ, और उसने वृत्र से कहा—"देखो वृत्र! संभालकर काम करना। हँसनेवाला इन्द्र कोई इन्द्रजाल न रचता हो!"

"नहीं, शची! तुम और वृत्र निश्चिन्त रहो। देव रात्रि में कभी युद्ध नहीं करते। आर्य अन्धकार का लाभ नहीं उठाते!" इन्द्र के शब्द सुनायी दिये। कहाँ से आये, इसका पता न लगा।

"तब तुम हँसे क्यों?" वृत्र ने जिधर से आवाज आयी थी उधर देखकर कहा।

"तुम्हारी इच्छा फलीभूत नहीं हुई, यह देखकर मुझे हँसी आयी।" इन्द्र ने अदृश्य बने रहकर ही उत्तर दिया।

"मेरी क्या इच्छा थी ? और वह फलीभूत नहीं हुई, यह तुम कैसे कह सकते हो ?" वृत्र ने पूछा ।

"मेरा कटा हुआ या जीवित मस्तक शची के चरणों पर रखने के सिवा तुम्हारी और क्या इच्छा हो सकती है ?" इन्द्र ने जवाब दिया ।

"तुमको कैसे मालूम हुआ ?"

"मैं देव, दानव और मानव सब के मन की बात जान लेता हूँ ।"

"तुम जादूगर हो । या योगी ?" शची ने बीच ही में पूछा ।

"वृत्र के मन की बात जानने के लिए जादू अथवा योगसिद्धि की आवश्यकता नहीं ।" इन्द्र के शब्द सुनायी दिये ।

"इन्द्र ! युद्ध का ऐसा अवसर वीर पुरुष जाने नहीं देते ! और तुम तो अपने कवियों तथा संगीतकारों से अपने वीरत्व का गुण-गान कराते हो ! इस समय तुम्हारा वीरत्व कहाँ गया ?" वृत्र ने इन्द्र को उपालम्भ दिया ।

"मेरा वीरत्व तुम्हारी मृत्यु की शोध में है ।" इन्द्र ने उत्तर दिया ।

"वह तुम्हें मिलेगा ही नहीं !" कहकर वृत्र खिलखिलाकर हँस पड़ा ।

"शची से कल मिले, तब तक तुम्हें मारने की मेरी इच्छा न थी । परन्तु उसके बाद मेरा विचार बदल गया । वृत्र का वध अब मुझे आवश्यक मालूम होता है ।" इन्द्र ने कहा ।

"अँधेरे में छिपकर बाण चलाने की इच्छा है ?" वृत्र ने पुनः हँसते-हँसते पूछा ।

"यदि ऐसी इच्छा होती, तो यह कार्य मैं कल ही करता । आज के लिए उसे न छोड़ता । यद्यपि तुम दोनों मेरे बाण की सीमा में ही हो, परन्तु आर्य रात के समय ऐसा काम नहीं करते ।" इन्द्र ने कहा ।

"अब क्या इच्छा है ? कब मिलोगे ?" वृत्र ने उपहास में पूछा ।

"किसी भी समय और किसी भी स्थान पर ! और जब हम मिलेंगे, तब मेरी बात पूरी होकर रहेगी ! तुम्हारी तरह निष्फल नहीं जायेगी !" इन्द्र के शब्द सुनायी दिये ।

"मेरी बात निष्फल गयी ! किस प्रकार ?" वृत्र बोल उठा ।

"तुमने शची को वचन दिया था कि तुम मेरा मस्तक कटा हुआ या जीवित शची के चरणों पर लाकर रखोगे। तुम्हारी बात रही? मेरी सलाह है कि जिस बात को पूरा न कर सको, उसे कहो ही मत।" इन्द्र ने कहा। इस कथन के बाद एक नहीं, पाँच-सात बार हँसी सुनायी दी।

रात्रि के साथ-साथ चन्द्रमा का प्रकाश बढ़ रहा था। अदृश्य इन्द्र और विजयोन्मत्त वृत्र तथा शची के बीच का वार्तालाप सुनकर देव और असुर स्तंभित रह गये। देवों की छावनी पर असुरों का पूरा कब्जा हो गया। बन्दी बने हुए देवों को छोड़कर अन्य सब देवता भाग गये थे। पराजित देवों का नेता इन्द्र छिपकर इस प्रकार हँसे और ललकारे, यह स्थिति वृत्र के लिए असहनीय थी। यकायक उसने गर्जना की—"अब थोड़े ही समय में मेरी प्रतिज्ञा पूरी होती है, इन्द्र!"

और यह कहकर वृत्र ने असुर-सैनिकों को आज्ञा दी कि वे पर्वत, शृंग, गुफा और मैदानों की एक-एक अंगुल जमीन खोज डालें, और जहाँ भी इन्द्र मिले उसे पकड़कर उसके सामने उपस्थित करें।

"वृत्र! दो ही मार्ग हैं; मेरे पीछे आना हो, तो तुम्हीं आओ। मैं सरस्वती के किनारे-किनारे दक्षिण की ओर जा रहा हूँ। मेरे पीछे न आना हो, तो उत्तर की ओर जाओ। वहाँ नहुष स्वर्ग पर तुम्हारे आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहा है। मेरे मस्तक के स्थान पर स्वर्ग को ही जीतकर शची के चरणों पर धरो, यदि इस प्रकार तुम शची को पा सको!" इन्द्र का गम्भीर कण्ठ कुछ दूर से सुनायी दिया। उसी समय ऐसा आभास हुआ मानो दस-पन्द्रह सैनिक झाड़ी में से निकलकर जल्दी-जल्दी पहाड़ के नीचे उतर गये हों।

वृत्र के हृदय में एक नये प्रकार का आवेश हुआ। वह स्वयं ही कूदकर भागनेवाले इन्द्र को क्यों न पकड़े? यद्यपि इन्द्र दिखायी न पड़ता था, तथापि उसकी आवाज और पहाड़ पर होनेवाली खड़खड़ाहट से यह तो स्पष्ट ही जान पड़ता था कि वह कहीं पास ही है—बहुत दूर नहीं।

असुर-सैनिकों के साथ वह भी इन्द्र की खोज में क्यों न लग जाये? जो कार्य सैनिकों के सुपुर्द हुआ है, उसमें वह स्वयं—सेनापति—भी लग जाये तो

हर्ज ही क्या है ?

वृत्र ने स्वयं इन्द्र अथवा इन्द्र के मस्तक को ले आने की बात कही थी ! भले ही उसे प्रतिज्ञा न कहा जाये ! परन्तु वह एक ऐसा कथन तो अवश्य था, जिसको उसे पूरा करना ही चाहिए। उसे पूरा किये बिना शची का हृदय जीतना सम्भव नहीं। इन्द्र के अट्टहास ने वृत्र को पागल कर दिया था। इन्द्र को पकड़ना ही होगा ! सैनिकों को आज्ञा देने के बाद वृत्र स्वयं घाटी में उतर गया। वृत्र को जाते हुए देखकर शची भी उस घाटी में उतर गयी।

शची बराबर वृत्र के साथ रहती थी—अपने पूर्व-कृत निश्चय के अनुसार।

अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन्द्र का वध रोकने के लिए वह वृत्र के साथ बनी रहना चाहती थी ?

शची स्वयं इस प्रश्न का उत्तर न दे सकी। उसकी देह वृत्र के साथ ही पहाड़ों और घाटियों में घूमती थी, परन्तु उसकी आँखें और हृदय कहीं और लगे थे। वे बराबर इन्द्र को खोजते थे। यों तो वृत्र भी इन्द्र ही की खोज में निकला था; परन्तु दोनों की भावना भिन्न थी। वृत्र की खोज इन्द्र को पकड़कर उसका शिरच्छेद करने के उद्देश्य से थी। और शची की ? क्या शची की भी यही इच्छा थी ? उसके हृदय ने इस बात का उत्तर हकार में नहीं दिया !

वृत्र और शची पर्वतमालाओं की गहरी घाटियों में इन्द्र को खोजते हुए विचरण कर रहे थे। कुछ समय तक चुप रहने के बाद वृत्र ने कहा—"शची ! तुम्हें इस प्रकार मेरे साथ आना न चाहिए !"

"क्यों ? मैंने तो कह दिया था कि मैं बराबर तुम्हारे साथ रहूँगी।"

"युद्ध सारे दिन होता रहा, तुम थक गयी होगी...."

"युद्ध में मैं थकती नहीं।"

"तुम न थकी हो, तब भी थोड़ा विश्राम किये बिना मैं तुम्हें आगे न बढ़ने दूँगा।"

"चन्द्र उस पहाड़ के पीछे चला जायेगा, तब मैं विश्राम करूँगी।" शची ने कहा।

वृत्र ने आस-पास के सब स्थान देख डाले। कहीं भी इन्द्र या उसके साथियों

का पता न लगा। इन्द्र का इस प्रकार अपनी सेना को छोड़कर चले जाना, एक असाधारण बात थी। इसके पीछे कोई रहस्य अवश्य होगा। वृत्र और शची दोनों ने इस रहस्य को समझने का प्रयत्न किया। परन्तु उनकी समझ में कुछ न आया। चन्द्र निर्दिष्ट पहाड़ के दूसरी ओर जा रहा था। वृत्र ने अब शची से रुकने का आग्रह किया, और एक सुरक्षित चट्टान पर उसे सुलाकर अपना युद्ध-परिधान ओढ़ा दिया।

शची थक गयी थी। उसे निद्रा की भी आवश्यकता थी। पत्थर पर पड़ते ही वह सो गयी। परन्तु वृत्र नहीं सोया, वह बैठा जागता रहा और शची की रक्षा करता रहा। जिसके लिए वह युद्ध कर रहा था, वही स्त्री उसके सामने सोयी थी! जिस अलौकिक लावण्यमय शरीर के लिए उसने कठिन तपश्चर्या की और शङ्कर से वरदान प्राप्त किया, वह एक हाथ से भी अधिक दूर न था। शची का स्त्रीत्व यदि साधारण होता, तो उसके हाथ अब तक वृत्र के गले में पड़ गये होते! परन्तु उसकी पसन्द इतनी ऊँची थी कि पास ही में रहनेवाले दानव उसे छोटे मालूम पड़े, जितने मानव देखे वे सब अल्प लगे, और अपनी उच्चता का अभिमान करनेवाले देव भी क्षुद्र मालूम हुए। कुछ-कुछ आकर्षक लगे आर्य चक्रवर्ती नहुष, असुर-श्रेष्ठ वृत्र और देवराज इन्द्र!

वृत्र इस बात को बहुत पहले ही समझ चुका था कि इन्द्र की स्वतन्त्र स्थिति के कारण उसके प्रति शची का आकर्षण अधिक है। वह आर्यों का इष्टदेव था और देवों का अधिपति। चक्रवर्ती बनने के महाप्रयास में लगे हुए नहुष की योग्यता का पता भी शची लगा चुकी थी; लेकिन उसकी निगाह में वह ठहरा नहीं। वृत्र का सेवक-स्थान शची को खटका करता, यद्यपि वृत्र के प्रति उसे सद्भाव था, और वह उसका सम्मान भी करती थी। वृत्र इस बात का अनुभव करता था। परन्तु वह इस बात को भी समझता था कि शची के ये सद्भाव और सम्मान अभी तक प्रेम की ऊष्मा धारण नहीं कर सके थे। अब शची के हृदय में प्रेम को प्रकट करना ही वृत्र के जीवन का मुख्य कार्य बन गया था। इन्द्र का पहले से परिचय न था, और जब हुआ भी तो बहुत ही थोड़ा। परन्तु उसके आस-पास जो अद्भुत और अगम्य वातावरण

उत्पन्न हो गया था, वह शची के मोह को बढ़ाता था। उस वातावरण को इन्द्र ने बराबर बनाये रखा। वह पर्वत-शृंग पर अकेला ही शची से मिलने आया, और असुर-स्थपतियों के बनाये हुए यांत्रिक प्रयोग को उसने देखते-ही-देखते निष्फल कर दिया! वृत्र इन्द्र के महत्व को समझता था। अतः शची के पास आते ही उसने युद्ध का संचालन अपने हाथ में लिया, और इन्द्र के वध अथवा बन्धन की पूरी तैयारियाँ कर लीं, परन्तु इन्द्र ने यह होने न दिया। इसलिए युद्ध में विजय प्राप्त करके भी वृत्र एक प्रकार की पराजय का अनुभव कर रहा था।

शची इस बात को समझती थी। वृत्र बलवान था, अजेय था, मृत्युञ्जय था, और वह मृत्युञ्जय हुआ भी था शची के ही लिए—उसी शची के सामने इन्द्र उसके हाथ से निकल गया! बल से वह कदाचित् शची की देह पर अधिकार कर ले, परन्तु शची के हृदय को, समग्र शची को, शची के सच्चे प्रेम को वह तभी प्राप्त कर सकता था जब इन्द्र की न्यूनता देखकर इन्द्र के प्रति शची का आकर्षण अपने-आप समाप्त हो जाये।

चन्द्रमा पर्वत पर आँख मिचौली खेल रहा था—कभी पर्वत-शृंग के पीछे छिप जाता, कभी मौका देखकर आकाश के आँगन में आ जाता। वृत्र निद्रित शची को बराबर देखता रहा। असुर-संस्कृति के अनुसार पुरुष को अधिकार था कि वह स्त्री को निद्रा अथवा नशे में करके उसका उपभोग करे और उसे अपनी पत्नी बना ले। कितनी ही बार प्रेमी जानबूझकर ऐसे आक्रमण करते, और तब आक्रान्त असुर-स्त्रियाँ इस व्यवहार को मान्य करके लग्न कर लेती थीं, यद्यपि वृत्र असुर अवश्य बन गया था, परन्तु जन्म से तो वह आर्य ही था। और शची को भी आर्यों की देव-संस्कृति से लगाव था। इसलिए लग्न का यह असुर-प्रयोग कदाचित् उसे स्वीकार न होता!

इन्द्र मिले, या न मिले! पकड़ा जाये, या न पकड़ा जाये! वृत्र के लिए अब एक ही मार्ग रह गया था। और वह था स्वर्ग का सिंहासन जीतकर शची के चरणों में रख देना!

लेकिन इतना करने पर भी यदि शची प्रसन्न न हुई?

तभी शची का शरीर हिला, उसक मुख पर मुस्कराहट दीख पड़ी और वह बैठ गयी! बैठते-बैठते उसके मुख से निकला—"इन्द्र! अन्त में पकड़ गये न?"

जब उसकी आँखें खुलीं तब उसने देखा कि उसके पास बैठा हुआ पुरुष इन्द्र नहीं, वृत्र है। नींद में भी शची को इन्द्र की ही रट लगी थी। क्या वह रट इन्द्र को शत्रु के रूप में बन्दी बनाने की अथवा मनोवांछित पुरुष की खोज में लगे नारी-हृदय की तड़प थी? शची के मुख पर मुस्कराहट खेल रही थी, परन्तु उससे उसके हृदय के भावों का पता न लगता था।

"इन्द्र यहाँ कहाँ है?" वृत्र ने पूछा।

यकायक शची के मुख से मुस्कराहट अदृश्य हो गयी, और उसने उत्तर दिया—"यहाँ नहीं है? मुझे तो ऐसा ही लगा कि वह पकड़ गया! कदाचित् स्वप्न होगा! रात्रि के अन्त में जो स्वप्न दीख पड़ते हैं, वे प्रायः सत्य ही होते हैं। इन्द्र अवश्य पकड़ा जायेगा। उसे आसपास ही कहीं होना चाहिए।" कहती हुई शची खड़ी हो गयी! वृत्र भी खड़ा हो गया। इन्द्र की खोज में अधिक समय बिताना उसे उचित न लगा, यद्यपि अपने हाथ से इन्द्र के निकल जाने का उसको बड़ा ही दुःख हो रहा था।

शिव का वरदान प्राप्त कर अभेद्य और अमर बनी हुई देह में भी हृदय जैसा एक कोमल भाग था, जो उस वज्रदेह के स्वामी को दुःख का अनुभव कराता था। वरदान माँगने में कोई भूल तो नहीं हो गयी थी!

जो भी हुआ हो! वृत्र का जन्म उस समय हुआ था जब त्वष्टा इन्द्र के पद को जड़-मूल से उखाड़ डालने का प्रयत्न कर रहा था। त्वष्टा का प्रयत्न सफल न हुआ। असुर-कुटुम्ब में पले हुए वृत्र को पिता पुनः आर्यत्व में ले आने का आग्रह करने लगे। परन्तु वह कैसे होता? इन्द्र-ध्वंस के संस्कारों के साथ ही वृत्र का जन्म हुआ था, और पिता की अपूर्ण लालसा पूरी करना पुत्र का कर्तव्य था। इस प्रकार माता के गर्भ से ही इन्द्र की शत्रुता लेकर वृत्र का जन्म हुआ था और यह शत्रुता उसके भाग्य में लिखी गयी थी।

असुरों की सम्राज्ञी शची ने वृत्र का मन हर लिया था। लेकिन असुरों में

सम्राट्-पद मिलना असम्भव था। उसकी कहीं संभावना थी तो वह आर्यों में अथवा देवों में! परन्तु आर्य स्वयं थे देवों से रक्षित! इसी कारण आर्य चक्रवर्ती नहुषराज शची के प्रेम को प्राप्त न कर सका। शची को समकक्षता दीख पड़ती थी मात्र इन्द्र में! कट्टर शत्रु होते हुए भी शची को स्वप्न आते थे इन्द्र के ही! शची के हृदय में से इन्द्र को निकाल बाहर करने का एक ही उपाय था—उसे स्थान-भ्रष्ट करना, पद-भ्रष्ट करना, जीवन-भ्रष्ट करना! शची वृत्र के हाथ को तभी स्वीकार करेगी जब वह इन्द्रासन पर बैठकर अपना हाथ बढ़ायेगा।

प्रत्येक दृष्टि से इन्द्र का विनाश करना ही वृत्र का जीवन-धर्म बन गया था। विश्व के किसी भी कौने से, चाहे वह कितना ही गुप्त क्यों न हो, इन्द्र को खोज निकालना वृत्र का सर्वोपरि कर्तव्य था।

"गम्भीर क्यों हो गये, वृत्र? नींद आती हो तो सो जाओ। मैं तुम्हारे पास बैठी रहूँगी।" शची ने कहा।

शची का यह कथन वृत्र को प्रिय लगा। सम्राज्ञी होने के नाते तो कहीं वह अपने अनुचर पर अनुकम्पा नहीं कर रही थी? प्रेम की मृदुता उसके शब्दों में थी ही नहीं। जब तक इन्द्र जीता रहेगा शची के प्रेम का माधुर्य वृत्र को मिलेगा नहीं, इस बात का वृत्र को विश्वास था। उसने उत्तर दिया, "नहीं, शची! अब सोना नहीं है। सवेरा हुआ ही चाहता है। और अभी जीती हुई देव-छावनी में जाकर दिन-भर का कार्यक्रम निश्चित करना है। शची, सुनती हो?"

बातें करते-करते दोनों को ऐसा आभास हुआ मानो पास ही कहीं कुछ हलचल हो रही है। शची को आवाज भी सुनायी दी। चारों ओर दृष्टि डालने पर कुछ दिखायी न दिया। परन्तु यह निश्चित जान पड़ा कि हलचल बड़े पैमाने पर हो रही है। दोनों सावधान हो गये। इतने ही में उन्हें अपने पीछे पवन की प्रबल सनसनाहट सुन पड़ी, और जिस शिला का सहारा लेकर ये दोनों खड़े थे, वह हिलने लगी। वृत्र और शची उस स्थान से थोड़ा हट गये। उनके देखते-ही-देखते वह शिला वहाँ से खिसक गयी। शिला के खिसकते ही सामने

एक विशाल घाटी और मैदान दिखायी दिया। दृश्य बड़ा ही सुन्दर था। परन्तु इस समय सौन्दर्य के दर्शन से अधिक आवश्यक थी सावधानी! ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हुआ कि शिला के हट जाने से जो मार्ग बना था, उस पर सुन्दर गायों तथा गोपालों का एक विशाल वृन्द बढ़ रहा है।

इस मार्ग के एक ओर शची और दूसरी ओर वृत्र छिपकर खड़े हो गये। ज्योंही एक गोपाल ने शिला-द्वार के अन्दर पैर रखा, वृत्र ने उसे पकड़ लिया। पकड़े जाते ही गोपाल ने एक विचित्र प्रकार की आवाज की जिसे सुनकर सारा गौ-गोपाल-वृन्द जहाँ-का-तहाँ स्तब्ध खड़ा रह गया।

"कौन हो तुम?" वृत्र ने पूछा।

"मैं आर्य गोपाल हूँ।"

"इस गुप्त स्थान में क्या कर रहे हो?"

"यहाँ से हम देव-सेना को दूध, मक्खन, घी पहुँचाते थे।"

"अब इस समय कहाँ जाते हो?"

"देवों की छावनी यहाँ से उठकर अन्यत्र स्थापित हो रही है, वहीं हम अपने गौ-समूह को ले जा रहे हैं।" गोपाल ने सच-सच बात कह दी।

"इस समूह को तुम आगे नहीं ले जा सकते।"

"क्यों? इन्द्र की हमको यही आज्ञा है।"

"इन्द्र को हराकर भागने पर विवश करनेवाली असुर सम्राज्ञी की दूसरी ही आज्ञा है। तुम्हारा समूह आगे न बढ़े।"

"इन्द्र कहाँ है?" शची ने पूछा।

"अभी ही हमको आज्ञा देकर दक्षिणापथ की ओर चले गये हैं। जा रहे हैं शीघ्रता से, पवन वेग से।"

"उनको रोकने के लिए, बल्कि पकड़ने के लिए ही हम यहाँ आये हैं।" शची ने कहा।

"इन्द्र को कोई रोक नहीं सकता, और न पकड़ ही सकता है।" गोप बोला।

"क्यों नहीं पकड़ सकता? अभी पिछली ही रात हम लोगों ने उसकी

सेना को छिन्न-भिन्न कर डाला।" वृत्र ने कहा।

"मुझे मालूम है। परन्तु यह सब देवाधिदेव इन्द्र की योजना के अनुसार ही हुआ है।" गोप ने कहा।

"पराजय भी उसकी योजना के अनुसार होती है? कैसी मूर्खता की बात कह रहे हो? छोड़ो ऐसी बातों को, और बताओ कि इन्द्र कहाँ छिपा है, बताओ इसी क्षण!" शची ने उग्रता से कहा।

"इन्द्र कभी छिपता नहीं।" गोप ने शान्ति से कहा।

"तो वह किस मार्ग से गया?" वृत्र ने पूछा।

"जिस मार्ग से हम आ रहे हैं उसी मार्ग से आगे पहुँचकर दक्षिण की ओर जाने के अनेक मार्ग हैं।"

"चलो, हमको मार्ग बताओ।" वृत्र ने आज्ञा दी।

"हम चाहें, तब भी ऐसा नहीं कर सकते।"

"क्यों?" शची ने पूछा।

"ये गायें आपको आगे बढ़ने न देंगी।" गोप ने कहा।

"सशस्त्र देवों ने हमें मार्ग दिया और तुम्हारे ये पशु हमको रोक लेंगे?" वृत्र ने पूछा।

"हाँ, देखिए! ए....एऽऽऽहैऽऽऽइड़ा।" उस गोपाल ने गायों को ललकारा। ललकार सुनते ही गायों के समूह में से बहुत-सी गायें कान खड़े करके आगे धँस आयीं, और अपने सींग नीचे करके लड़ने के लिए अर्धचक्राकार व्यूह में खड़ी हो गयीं। शची और वृत्र को पशुओं का यह व्यूह देखकर बड़ा ही कुतूहल हुआ। व्यूह-बद्ध गायों का समूह देखने में भी काफी अच्छा लग रहा था।

"इसका यह अर्थ हुआ कि इड़ा गायों का यह यूथ हमको रोकने के लिए खड़ा है?" शची ने पूछा।

"क्या और भी लड़नेवाली गाये हैं? गौ-समूह तो बहुत बड़ा है।" वृत्र ने कहा।

"रन्ता!....ही रररर....देखिए, इड़ा के पीछे रन्ता गायों का यूथ खड़ा है! ये जैसी मस्त हैं वैसी ही तेज स्वभाव भी!" गोप ने कहा। इतने ही में रन्ता

गायों ने निकलकर इड़ा गायों के पीछे अपनी मोरचेबन्दी की।

"इन गायों को तुम लोग घी-दूध के लिए ही पालते हो या इस प्रकार लड़ने के लिए भी?" वृत्र को पशुओं की एक नयी दुनिया ही दीख रही थी।

"इन्द्र की आज्ञा से आर्यों ने गोवध बन्द कर दिया है। इसके पहले केवल अघ्न्या गाय ही अवध्य मानी जाती थी; अब सभी गायों को अघ्न्या माना जाता है। अब यज्ञ में केवल दूध का हवि दिया जाता है, गाय के मांस का नहीं।" गोप ने कहा।

"अन्य गायें भी इसी प्रकार व्यूह बनाकर खड़ी हो जाती हैं?" शची ने पूछा।

"हाँ, देखिए उनको....हव्या !....मही !....विश्रुत्री....काम्या !....कैसा मोरचा बनाकर खड़ी हैं? और वह देखिए प्रत्येक मोरचे के पीछे उस यूथ का महानन्दी, विकराल काल जैसा उग्र और जलप्रपात जैसा बलिष्ठ खड़ा है। ये बड़ी-बड़ी सेनाओं को रोक लेते हैं।" अपने संकेत पर व्यवस्थित मोरचेबन्दी करनेवाली गायों पर गर्व करते हुए गोप ने कहा।

"तो मेरी आज्ञा है कि तुम और तुम्हारा गौ-समूह अब यहाँ से आगे न जा सकेगा। और तुम्हें देवों के बदले असुरों को दूध देना होगा।" शची ने आज्ञा दी।

"मेरी इच्छा के विरुद्ध ये गायें किसी को दूध नहीं देंगी।" गोप ने कहा।

"दूध नहीं देंगी, तो उनका मांस काम में लाया जायेगा।" वृत्र ने कहा। वृत्र के इस कथन को सुनकर शची न जाने क्यों काँप उठी। उसने समझाकर कहा—"देखो ! जब तक इन्द्र का पता न बताओगे, तुमको यहीं बन्द रहना पड़ेगा।"

"आप इस प्रवेश-द्वार के यंत्र को समझ नहीं सकते। उसे इन्द्र जानते हैं, हमारे पुरोहित जानते हैं और तीसरा कोई नहीं जानता। हमको कोई बन्द कर ही नहीं सकता।" गोप ने गर्वपूर्वक उत्तर दिया।

"तीसरी मैं जानती हूँ। हटो पीछे, और गायों को रोको ! देखो यह द्वार बन्द हुआ !" कहकर शची ने उस गोप को बलपूर्वक पत्थर की चट्टान के

पीछे ढकेल दिया, और वह चट्टान पूर्ववत् बन्द हो गयी। भीतर से गायों और गोपालों ने बहुत शोर मचाया, परन्तु पत्थर को तोड़कर बाहर निकलना संभव न हुआ।

"तुमने इस यंत्र के मर्म को कैसे समझा?" वृत्र ने पूछा।

"मैंने उसे स्वयं खोज निकाला। नहुष के यज्ञ के समय से जानती हूँ। यह तो समझ ही लेना चाहिए कि जहाँ-जहाँ देवों के निवास हों, वहाँ-वहाँ ऐसे गुप्त स्थान और उनको खोलने की गुप्त कुंजियाँ अवश्य होंगी! देखो चट्टान का यह कोना दबाते ही खुल जाता है।" शची ने कहा और चट्टान पुनः हट गयी, और सारा गो-धन दीख पड़ा। गायें और गोप निकलने के लिए आगे आयें, उसके पहले ही शची ने मार्ग को बन्द कर दिया।

वृत्र और शची ने देवताओं पर एक दूसरी बड़ी विजय प्राप्त की। आर्यों का प्रचुर गो-धन उनके हाथ में आ गया, परन्तु इन्द्र पकड़ा न गया।

वृत्र का पराक्रम अभी पूर्णतः विकसित नहीं हो पाया था। वृत्र को लगा कि शची भी ऐसा ही सोचती होगी। शची के हृदय को जीतने के लिए आवश्यक था कि वह इन्द्र को हराये और अमरापुरी पहुँचकर इन्द्रासन पर अधिकार करे। साथ ही इन्द्र से युद्ध करके उसे हराये, बन्दी बनाये, अथवा उसका वध करे।

उसी क्षण से वृत्र ने और भी अधिक उग्रता से युद्ध प्रारम्भ किया।

सप्त-सिन्धु-प्रदेश की दो महानदियाँ थीं—एक सिन्धु और दूसरी सरस्वती। दोनों हिमालय से निकलकर सारे प्रदेश की भूमि को उर्वरा बनाती हुई समुद्र में मिल जाती थीं। आर्यों और असुरों के ये महामार्ग थे। सिन्धु नदी का अधिकतर भाग असुर-प्रदेश से होकर बहता था। सरस्वती के दक्षिण किनारे पर दूर-दूर तक आर्य-संस्थान फैले हुए थे। असुरों ने बड़े-बड़े नगर और उपनगर स्थापित किये थे और स्थापित करते जाते थे, और वे स्थान-स्थान पर दुर्गों की रचना भी करते थे। आर्यों को अभी पक्के मकानों की इस प्रकार की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ अनुकूल न पड़ती थीं, यद्यपि धीरे-धीरे राजनगरों का विकास आरम्भ हो रहा था। आर्यों के अनुकूल थे नदी-तट, मैदान, वन-उपवन, अरण्य तथा पहाड़ों की घाटियाँ। पृथक्-पृथक् बनी हुई पर्ण-कुटियाँ, मिट्टी और काष्ठ के आँगन और यज्ञशालाएँ, विशाल कृषि-क्षेत्र तथा गोचर, ही उनको पसन्द थे। अपने संस्थान को वे आश्रम का नाम देते और इन आश्रमों के समूह क्षेत्रों का नाम धारण करते। ये क्षेत्र आवश्यक होने पर मिलकर काम करते, अन्यथा स्वतन्त्र रूप से अपनी व्यवस्था करते रहते।

सरस्वती के किनारे बने हुए मार्ग से इन्द्र, अश्विन, विश्वकर्मा और वरुण के रथ आते-जाते थे। नदी-तट पर बसे हुय आर्यों के जनपदों का इस प्रकार अपने-आप निरीक्षण हो जाता था। प्रभात में आर्य स्त्री-पुरुष सूर्योदय के पहले नदी में स्नान करते, गायत्री द्वारा सूर्य के तेजस् का आह्वान करते, तत्पश्चात् यज्ञशाला में जाकर होम-हवन करते, और गौशालाओं में तथा क्षेत्रों में जाकर

पशुपालन और अन्न-संवर्धन के कार्यों में संलग्न हो जाते। मध्यान्ह में पुनः आश्रम में आकर भोजन करते, पठन-पाठन में थोड़ा समय बिताते, और तीसरे पहर के पहले ही संगठित होकर अनुभवी गुरुजनों के पास जाकर युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्त करते थे। बाण, भाला, फरसा, गदा, खड्ग, चक्र, पाश, अंकुश तथा हल-मुसल आदि चलाने में वे निपुणता प्राप्त करते। रस्सी के विविध फन्दे बनाकर उनका प्रयोग सीखते। अकेले युद्ध कैसे करना, समूह में कैसे लड़ना, द्वन्द्व-युद्ध का प्रसंग आने पर क्या करना आदि युद्ध के प्रायः सभी प्रकार उनको बताये जाते थे। इसके अतिरिक्त युद्ध के समय पर्वत के शिखरों का उपयोग कैसे करना, नदी के प्रवाह से कैसे लाभ उठाना, नौकाओं में बैठकर कैसे आगे-पीछे बढ़ना, युद्ध के समय गोधन का संरक्षण कैसे करना, किन प्रसंगों में अग्नि का उपयोग करना आदि बातों का भी पूरा ज्ञान आर्य स्त्री-पुरुषों को कराया जाता था।

रात्रि के समय सामुदायिक देव-स्तुति होती; और देव-स्तुति के बाद-देह, आत्मा और परब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में चर्चा होती। अनेक गम्भीर विषयों पर प्रकाश डाला जाता—मनुष्य की आत्मा यदि अमर है तो मृत्यु का, दैहिक मृत्यु का डर आर्यों को न होना चाहिए; सामने आया हुआ कर्त्तव्य राग-द्वेष छोड़कर दक्षता से करना चाहिए; युद्ध में स्त्री, बालक, वृद्ध, शस्त्रहीन, शरणागत, तथा राजदेह का वध नहीं करना चाहिए रात्रि के समय संपूर्ण रूप से युद्ध बन्द रखना चाहिए; स्त्रियों को भी शस्त्र-विद्या सीखनी चाहिए, परन्तु जहाँ तक हो सके शुश्रूषा के लिए निर्मित हाथों का उपयोग शस्त्र-प्रहार के लिए न करना चाहिए। इस तरह के युद्ध-धर्म के नियमों को सर्व-ग्राह्य बनाया जाता था। अन्त में 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' के ऐक्य की साधना के लिए प्रत्येक आर्य को कटिबद्ध होना चाहिए, ऐसे बोध के साथ सायं-सम्मेलन पूरा होता था।

इन्द्र ने देखा कि देव-दानव-युद्ध में आर्य-प्रजा देवताओं की सहायता के लिए पूरी तैयारी कर रही है। यद्यपि देवों ने सारी असुर-सेना को रोक रखा था, तथापि यह स्पष्ट हो गया था कि आवश्यकता पड़ने पर आर्य भी एक-एक अंगुल जमीन के लिए असुरों से लड़ेंगे। इस संकट के समय आर्य अपना आन्त-

रिक विरोध और कलह भूल गये थे। शास्त्रार्थ की वितंडा भी विस्मृत हो गयी थी। भरत-वंश श्रेष्ठ है अथवा भृगु-वंश, इस विषय को लेकर जो विवाद हुआ करते थे, वे इस समय बन्द थे। आर्यों का चक्रवर्ती-पद नहुष को मिला था, और वह आर्यों के चुने हुए धनुर्धारियों की एक बलशाली सेना को साथ में लेकर इन्द्र की सहायता के लिए पहुँच गया था। इन्द्र ने जिस व्यूह में घेरकर पुलोमा का वध किया था, उस व्यूह की रचना में नहुष ने इन्द्र को बहुत सहायता प्रदान की थी।

देवराज इन्द्र आर्यों का रण-कौशल देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। स्वर्ग की ओर बढ़नेवाली असुर-वाहिनी को रोककर उसको आर्यों के विरुद्ध मोड़ देने की देवों की नीति थी। आर्यों से लड़ते-लड़ते असुरों का बल क्षीण हो जायेगा, और वे देवों पर विजय प्राप्त न कर सकेंगे। इन्द्र ने असुर-सेना को एक-एक योजन पर रोककर प्रत्येक योजन पर युद्ध करने की योजना बनायी थी। यदि असुर जीत जायें, तब भी उनको रोकते-रोकते स्वर्ग की अमरापुरी तक आने देना, और वहाँ अन्तिम युद्धका मोरचा बनाना। युद्ध की मंत्रणा-समिति में देव तथा सप्तर्षियों के साथ नहुष को भी स्थान दिया गया था। इस प्रकार की युद्ध-नीति निश्चित करके इन्द्र आर्यों की तैयारी का निरीक्षण करने और एक महत्व के गुप्त कार्य को संपादित करने के लिए वृत्र और शची से बचकर सरस्वती नदी के किनारे-किनारे विद्युत् वेग से दक्षिणापथ की ओर जा रहा था। उसके साथ विश्वास्त देवों की एक चुनी हुई टुकड़ी भी थी।

मार्ग में युद्ध के सब समाचार उसे मिलते रहें, इसकी पूरी व्यवस्था भी इन्द्र ने कर ली थी। सिन्धु के प्रवाह को घुमाकर असुर छावनी को विनष्ट करने के पश्चात् देव-सेना भाग गयी थी। इस विजय के उपलक्ष्य में जिस समय वृत्र और शची उत्सव मना रहे थे, उस समय उन्हें यह समाचार मिला कि सिन्धु नदी में यकायक बाढ़ आने से असुरो की दूसरों महत्व की राजनगरी मोहपुंज* बह रही है। इस समाचार ने असुरों के विजयोत्सव को फीका कर दिया। तुरन्त कुशल स्थपति वहाँ भेजे गये, और इसके कारण वृत्र की सेना का बढ़ाव

*आज का मोहें-जो-दड़ो।

कुछ समय के लिए रुक गया।

युद्ध के सब समाचार इन्द्र को रास्ते में पहुँचाये जाते थे। रात्रि के समय ज्योंही इन्द्र विश्राम के लिए रुकता, सन्देशवाहक विस्तार से युद्ध-स्थिति के सन्देश कह सुनाते। वृत्र तैयारी करके कहाँ कितना आगे बढ़ा, कितने असुर मरे, कितने देव घायल हुए, देव-समूह में घबराहट तो नहीं फैलती, युद्ध में शची का क्या स्थान है और उसके क्या विचार हैं—ये सब खबरें इन्द्र को बराबर मिलती रहती थीं। और इन समाचारों के आधार पर वह आवश्यक सूचनाएँ गुप्तचरों द्वारा देवों के पास भेजता जाता था। अनेक आश्रम और क्षेत्रों को पार करता हुआ इन्द्र चला ही जा रहा था। उसके साथ के देवताओं की समझ में न आया कि वह कहाँ और किस उद्देश्य से जा रहा है। अन्त में एक रात्रि को सब के साथ बैठे हुए इन्द्र ने ही बताया कि अब उसकी दक्षिण की दौड़ का अन्त आ रहा है।

"आगे तो दधीचि का आश्रम आयेगा, महाराज!" एक अश्विन ने कहा।

"हाँ, मैं वहीं जा रहा हूँ। मुझे महर्षि दधीचि से मिलना है!" इन्द्र ने कहा। देवों को पता न था कि इन्द्र वहाँ किस काम के लिए जा रहा है।

प्रभात होते-होते देव-मण्डल दधीचि के आश्रम में पहुँच गया। सिन्धु-प्रदेश में होकर बहनेवाली सरस्वती का नाम यहाँ साभ्रमती* हो गया था। सूर्योदय के पहले ही आश्रमवासी जाग गये थे। शिष्य-वृन्द नदी में स्नान करके सूर्य को अर्घ्य दे रहे थे, कितने ही अन्तेवासी यज्ञविधि की तैयारियों में लगे हुए थे, गायों को नहलाकर गोप-मण्डल दूध दुहने में व्यस्त था, घर का काम सँभालनेवाली कन्याएँ और युवतियाँ गृहकार्य में संलग्न थीं। पैसे का वैभव वहाँ दीख न पड़ता था। दूर-दूर पर पर्ण-कुटियाँ बनी हुई थीं। परन्तु आश्रम का तपोवैभव सब को स्पष्टरूप से दीख पड़ता था। ऐसे दधीचि-आश्रम

---

*कुछ अन्वेषकों की ऐसी मान्यता है कि राजस्थान से निकलकर गुजरात में बहनेवाली साबरमती ही वेदकालीन लुप्त सरस्वती है।

की तपोभूमि में देवों के रथ जा पहुँचे।

आश्रम में जाने का किसी को भी निषेध न था। कभी-कभी आर्य राजा वहाँ आते और कभी असुर भी पहुँच जाते थे। प्रायः सामान्य जनता का वहाँ आना-जाना अधिक होता था। ऋषि-आश्रमों में देवों का आगमन बहुत कम होता था। सब का लक्ष्य था देवताओं का स्थान प्राप्त करना! परन्तु ऋषि-मण्डल की महेच्छा इससे भी अधिक उच्च भूमिका में पहुँचने की रहती थी। —देवों के भी देव ब्रह्मा, विष्णु और शिव के लोक में जाना और वहाँ से भी आगे बढ़कर सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मत्व को प्राप्त करना! जिस महर्षि ने ब्रह्मत्व प्राप्त कर लिया हो, उसके लिए सब स्थान बराबर थे। उसे अपने आश्रम के बाहर जाने की इच्छा ही न होती थी। महर्षि दधीचि तीनों लोक के भोग की तृष्णा त्यागकर ब्रह्म-साक्षात्कार में ही तल्लीन रहा करते थे। आश्रम उन्हीं का था, परन्तु उसकी व्यवस्था का भार उनके पट्ट-शिष्यों के हाथ में था। आश्रम में शिक्षण-कार्य भी इन्हीं शिष्यों के द्वारा होता था। महर्षि तो शायद ही किसी आश्रम-कार्य में रस लेते। जब कभी वे ध्यान-मुक्त अवस्था में रहते, तो आश्रमवासी उनके साथ बातचीत करते, गम्भीर प्रश्नों को समझने का प्रयत्न करते और उच्च कक्षा को प्राप्त होनेवाले उनके साधक-शिष्य उनसे ब्रह्म-सम्बन्ध के बारे में मार्गदर्शन प्राप्त करते।

रथ ने जिस समय आश्रम में प्रवेश किया, एक वृक्ष के नीचे स्वच्छ स्थान में दर्भासन बिछाकर दधीचि बैठे हुए थे, और ध्यानस्थ होने की तैयारी कर रहे थे। उन्होंने रथ को देखा, और तुरन्त पास ही में खड़े हुए एक शिष्य को बुलाकर पूछा—"पिप्पलाद! देखो किसके रथ हैं?"

"देवों के मालूम हो रहे हैं, गुरुजी।"

"मुझे भी ऐसा ही लग रहा है। ध्वज को देखने से तो रथ इन्द्र का लगता है। और अश्विनों के रथ को भी मैंने पहचाना। अच्छा हुआ मैं ध्यानस्थ नहीं हो गया। उनको आश्रम में आराम से उतारो और यदि आवश्यकता पड़े तो मुझे बुलाना।" दधीचि यह कह ही रहे थे कि इतने में कुछ शिष्य रथ का मार्ग-दर्शन करते हुए आगुन्तकों को महर्षि के पास ले आये। दधीचि

ने रथ को पहचाना, रथियों को भी पहचाना, और उठकर रथ से उतरनेवाले देवताओं का स्वागत किया—"पधारो, पधारो, देवराज ! धन्य भाग मेरे कि स्वर्ग में विराजमान देवता आज मेरे आश्रम को पावन कर रहे हैं !" ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से दधीचि घमंडी या उद्धत नहीं हुए थे।

"आपका आश्रम तो सर्वदा पावन ही रहता, है महर्षि ! आपका दर्शन मिला, यह हमारा अहोभाग्य !" इन्द्र ने कहा।

दर्भ के बहुत से आसन आसपास पड़े हुए थे। शिष्यों ने उन्हें व्यवस्थित रीति से बिछा दिया। उन आसनों पर देवों को सम्मानपूर्वक बिठाकर ऋषि अपने स्थान पर बैठ गये। बैठने के पश्चात् उन्होंने पूछा—"क्षमा करें, इन्द्र देव ! हम आश्रमवासियों के पास आपके आतिथ्य-सत्कार-योग्य साधन नहीं हैं; परन्तु यकायक बिना खबर दिये हुए क्यों आना हुआ ? अन्तिम समाचार तो यह मिला था कि दानव पुलोमा का वध हुआ, और उसकी पुत्री आपसे युद्ध कर रही है।"

"यह सत्य है, परन्तु देवासुर-संग्राम अब ऐसी परिस्थिति पर पहुँच गया है कि आपके पास आना नितान्त आवश्यक हो गया।" इन्द्र ने कहा।

"मेरे पास ? मैं एक तपकृश ब्राह्मण क्या कर सकता हूँ ? हाँ, सारे आर्य जनपद युद्ध के लिए तैयार हैं। मेरे आश्रम में भी आत्मरक्षा की शिक्षा देने का उपक्रम आरम्भ हो गया है। आर्य-प्रजा असुरों को आगे न बढ़ने देगी। आपकी इच्छा हो तो मेरे धनुर्धारी शिष्यों को युद्ध में भेज दूँ।" दधीचि बोले।

"मुझे विश्वास है कि समय आने पर इनका अच्छा उपयोग होगा। परन्तु, तपोनिधि, आपको कदाचित् विदित होगा कि असुर-पक्ष का सारा युद्ध-भार अब वृत्र ने अपने ऊपर ले लिया है।"

"हाँ, आर्य-आश्रमों में युद्ध के समाचार बराबर पहुँचते रहते हैं। इसका श्रेय महाराज नहुष को है। उसको आर्यावर्त का चक्रवर्ती बनाकर आपने उचित ही किया।"

"परन्तु महर्षि, वृत्र अजेय होकर आया है।"

"देवों के सामने कोई भी अजेय नहीं है।" हँसकर दधीचि बोले ।

"वृत्र अजेय है, शिव ने उसको अमरता का वरदान दिया है।"

"अभी तक देव, दानव या मानव किसी को भी अमृत मिला नहीं है। शुक्र उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, परन्तु हमारे जैसे प्राचीन परिपाटी के आर्यों को अमृत का आकर्षण नहीं, और वृत्र अमर हो नहीं सकता।"

"एक तरह से देखा जाये तो वृत्र वास्तव में अमर नहीं है, परन्तु उसने वरदान प्राप्त किया है कि....

"मुझे पता है, देवाधिदेव ! आज तक का कोई भी अस्त्र या शस्त्र उसे मार न सकेगा।" भगवान शंकर इतने भोले हैं कि जो वरदान माँगो, दे देते हैं। ....वृत्र से बचने का उपाय भगवान विष्णु ही बता सकते हैं।" दधीचि ने कहा।

"भगवान विष्णु के आदेश पर ही मैं यहाँ आया हूँ।" इन्द्र ने कहा।

"अच्छा ? मेरे पास क्यों भेजा ? मैं कौन-सा शस्त्र दे सकता हूँ ?"

"याद होगा महर्षि, एक समय देवता अपने सब शस्त्र आपके पास रख गये थे !"

"वे अब कहाँ हैं ? होते भी, तो उन पुराने शस्त्रों से वृत्र का वध करना असम्भव ही होता। मैं उनको घोलकर पी गया और वे मेरी अस्थियों में घुल-मिल गये !" कहकर दधीचि हँस पड़े।

"यदि...." इन्द्र बोलते-बोलते रुक गये।

"यदि क्या ? वाक्य अधूरा न रखें, देव ! भगवान विष्णु ने जो भी आदेश दिया हो, स्पष्ट रूप से कहें !" दधीचि ने कहा।

"भगवान ने कहा था कि महर्षि स्वयं उस बात को समझ जायेंगे। आपके आश्रम में आकर और आपका अतिथि बनकर, वह माँग मेरी जीभ से निकलती नहीं...." इन्द्र ने झिझकते हुए कहा।

"अतिथि जो माँगे, वह देना मेरा धर्म है। संकोच न करें, देव ! अपना प्राण देने में भी मुझे आपत्ति न होगी।" दधीचि बोले।

"लगता तो ऐसा है, गुरुदेव, कि देवराज इन्द्र आपका प्राण-माँगने ही

आये हैं।" शिष्य पिप्पलाद ने बीच ही में कहा।

"उसे भी अर्पित करते मुझे देर न लगेगी! वही मेरी एक अपनी संपत्ति है, जिसे देने के लिए किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं।" दधीचि ने शान्तिपूर्वक कहा। प्राणार्पण का संकल्प करते हुए भी उनके मुख पर क्षोभ न दीख पड़ा; परन्तु यह बात उनके शिष्य-समुदाय को बहुत ही अप्रिय लगी।

"आपका प्राण अकेला आपका ही नहीं है, उस पर हमारा अधिकार है, आश्रम का अधिकार है, समग्र आर्यावर्त का अधिकार है।" पिप्पलाद ने कहा।

"भगवान ने ऐसी कोई बात नहीं कही होगी, जिससे किसी के अधिकार को हानि पहुँचे। हो सकता है, भगवान के बताये हुए कार्य में ही सबका हित सम्पादित हो।" दधीचि ने पिप्पलाद को समझाया।

"प्राण तो हम सब लोग भी देने के लिए तैयार हैं, परन्तु उनका इस समय कोई मूल्य नहीं।" इन्द्र ने कहा।

"मेरे प्राण का भी क्या मूल्य है, देवराज! इस देह ने अनेक भोग भोगे हैं, तपश्चर्या भी पर्याप्त की है; ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने के बाद अब अधिक तप की भी आवश्यकता नहीं रही। परन्तु अभी तक यह मेरी समझ में नहीं आया कि मेरे आत्म-बलिदान से देव और आर्य किस प्रकार वृत्र पर विजय प्राप्त कर सकेंगे।" दधीचि ने पूछा।

"इन्द्रदेव के अधूरे वाक्य को मैं पूरा करता हूँ। कदाचित् देवों की यह इच्छा हो कि जिन शस्त्रों के मूल आपकी हड्डियों में मिल गये हैं उन हड्डियों से कोई नया शस्त्र तैयार किया जाये!" पिप्पलाद मुनि ने कहा। वह युवक ऋषि बात की तह तक पहुँच गया था।

"यही बात है? तब साफ-साफ कहते क्यों नहीं, देव? यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं। जिस क्षण आप कहें, उसी क्षण इस देह में से अपनी हड्डियाँ निकालकर आपको दे दूँ। जिस आर्यत्व ने इस देह को उत्पन्न किया, उसी की रक्षा के लिए यदि मेरी देह की आवश्यकता हो तो वह सर्वदा तैयार है।" दधीचि ने अधिक प्रसन्न होकर कहा।

परन्तु शिष्य-मण्डल में विषाद छा गया। उनके मुख म्लान हो गये। सब

शिष्यों की ओर से पिप्पलाद ने कहा—"गुरुजी ! यदि इस प्रकार जीवित मनुष्य की हड्डियाँ लेकर देवता युद्ध में जीतना चाहते हों, तो अच्छा हो कि वे अपना श्रेष्ठत्व और देव-भाग छोड़ दें ।"

"और स्वर्ग का राज्य असुरों को सौंप दें। इस प्रकार के युद्ध से असुरों पर विजय न मिलेगी, युद्ध चलता ही रहेगा। और आप यदि जीवित रहे तो आपके दर्शन-मात्र से आर्य-संस्कार असुरों को बहुत शीघ्रता से अपने निकट खींच लेंगे।" हिम्मत करके दूसरे शिष्य ने अपना क्षोभ प्रकट किया।

ऋषि के शिष्यों की खरी-खरी बातें सुनकर देवताओं को आश्चर्य हुआ। इन्द्र उत्तर में कुछ कहें, इसके पहले ही दधीचि ने शिष्यों से कहा—"देवता भी आत्म-बलिदान बिना देवस्थान प्राप्त नहीं करते। किस देव ने कौन-सा तप करके किस देव-समूह में स्थान पाया, इसका वृत्तान्त जानने योग्य है। मैं ही बतलाता, परन्तु यह अब सम्भव नहीं। अब तो पिप्पलाद ही उस ज्ञान को आत्मसात् करके तुम्हें सुनायेगा। आज तो आनन्द का दिन है। साक्षात् देवता यहाँ पधारे हैं। ये अपने इष्ट हैं। इनका पूजन-अर्चन करना हमारा धर्म है ! देवों का हम आह्वान करते हैं; सौभाग्य से वे हमारे द्वार पर आये हैं। चलो, सब लोग उत्सव की तैयारी करो और आनन्द मनाओ !" दधीचि ने आज्ञा दी।

परन्तु शिष्यों के मुख पर उत्साह न दीख पड़ा। आनन्द मनाने के लिए एक भी शिष्य शीघ्रता से उठकर खड़ा न हुआ। महर्षि ने हँसकर पूछा—"पिप्पलाद ! देह, आत्मा और परमात्मा के विषय में जो शिक्षा हमने दी, मालूम होता है वह व्यर्थ हो गयी।"

"देव आपकी अस्थि लेने आये हैं। उनके आगमन से हमको आनन्द कैसे हो ?"

"देवता देव-लोक से चलकर तुम्हारे आश्रम में आये हैं, तुम्हारे गुरु की अस्थियाँ माँगते हैं। उन अस्थियों से शस्त्र बनाकर वे असुरों पर विजय प्राप्त करेंगे ! इससे बढ़कर आनन्द मनाने का और कौन-सा अवसर आयेगा ? आर्यत्व का जय-घोष करो और मुझे एकाग्रतापूर्वक अपने शरीर में से—हड्डियों में

से—प्राण को खींच लेने दो ! सूर्यास्त होते-होते समझ लेना कि देव-शस्त्रों के सार समान मेरी हड्डियाँ शस्त्र का रूप धारण करने के योग्य बन गयी हैं।" दधीचि ने अपना निश्चय प्रकट किया।

देवता किंचित् लज्जित हुए। उनकी लज्जा का निवारण करने के लिए मुनिवर दधीचि ने आज्ञा दी कि देवताओं का जरा भी अपमान न हो।

उस आज्ञा को मानकर दधीचि के पट्टशिष्य मुनि पिप्पलाद ने अन्य शिष्यों को समझाकर उत्सव की तैयारी शुरू की। परन्तु इस उत्सव में खान-पान, नाच-रंग और हँसी-मजाक नहीं हो रहा था। उस दिन को पवित्र मानकर सारे आश्रम ने उपवास किया और अनध्याय रखा। महर्षि को एकान्त मिले, इसलिए देव तथा अन्य मुनि मण्डल कुछ दूर चले गये। कोई ध्यान-मग्न होने की तैयारी करने लगा। कुछ लोगों ने आसन-प्राणायाम में समय बिताया। स्थान-स्थान पर मंत्रोच्चार होने लगे। कुछ लोगों ने स्तोत्र-गान शुरू किया। कुछ बैठकर उपनिषद् में कहे हुए गम्भीर विषयों पर विचार करने लगे। उत्सव के स्थान पर पर्व का गम्भीर वातावरण सर्वत्र व्याप्त हो गया।

देवों को अतिथिगृह में ठहराने की व्यवस्था की गयी थी। आर्य-प्रदेश के सभी आश्रमों में अतिथिगृह की व्यवस्था सर्वत्र रहती थी। अतिथि को सादगी के साथ सभी आवश्यक अनुकूलताएँ प्रदान की जाती थीं। सत्कार-विभाग का संचालन करनेवाले शिष्यों ने देवताओं के भोजन की तैयारियाँ शुरू कीं। परन्तु आश्रम के वातावरण को देखकर देवों ने भी उपवास करने का निश्चय किया। जिस दिन आश्रम के गुरु देह-समर्पण कर रहे हों, उस दिन देवता अपना देह-पोषण कैसे करते ?

"आज यहाँ एक भी देव भोजन ग्रहण न करेंगे।" सब देवताओं की ओर से इन्द्र ने निवेदन किया।

इन्द्र के हृदय में इस समय शान्ति न थी। देवाधिदेव विष्णु की सलाह मानकर इन्द्र दधीचि के आश्रम में आया था। देवों ने सोचा था कि कदाचित् महर्षि शस्त्र बनाने के लिए सरलता से अपनी अस्थियाँ देने को तैयार न होंगे। परन्तु यहाँ तो स्थिति विपरीत ही मिली। महर्षि ने सहर्ष अपनी अस्थियाँ

देना स्वीकार किया; सोचने के लिए लिए समय भी न माँगा। मार्ग में इन्द्र सोचता हुआ आया था कि यदि दधीचि ने अपनी हड्डियाँ देना स्वीकार न किया, अथवा उनके शिष्यों ने इस विषय में प्रबल विरोध किया, तो युद्ध-नीति में क्या-क्या परिवर्तन करने पड़ेंगे। परन्तु दधीचि ने बड़ी ही सरलता से इन्द्र की माँग स्वीकार कर ली। कार्य तो सिद्ध हो गया, परन्तु इन्द्र की शान्ति और धैर्य विचलित हो गये।

पवित्र ऋषि-देह की बलि देकर युद्ध में विजय प्राप्त करना, इन्द्र को अच्छा न लगा।

"इस ब्राह्मण की देह की हड्डियों से शस्त्र बनाया जाये, उसके बदले मेरी अस्थियों का उपयोग क्यों न हो?" इन्द्र ने साथ के अन्य देवों से पूछा।

"यदि यह उचित होता, तो भगवान विष्णु वैसा ही आदेश देते।" वरुण ने उत्तर दिया।

"इसका तो यही अर्थ हुआ कि हम देवताओं की हड्डियाँ तप द्वारा इतनी परिपक्व नहीं हुईं कि ऐसे विकट प्रसंग पर उनसे शस्त्र तैयार किया जा सके। हम देव अभी अधूरे हैं।" इन्द्र ने असन्तोष व्यक्त किया।

"अभी देवों ने सम्पूर्णता प्राप्त नहीं की है, यह बात तो सत्य है।" अश्विन ने कहा।

"मैं भी यही विचार कर रहा था। देवों को जब तक अमरत्व नहीं मिलता, जय-पराजय का यह क्रम चलता ही रहेगा।" इन्द्र ने विषादपूर्ण स्वर में कहा।

"अमरत्व की खोज तो देव, दानव और मानव तीनों ही कर रहे हैं, परन्तु वह अभी तक किसी को मिला नहीं।" वरुण ने कहा।

"देवों में हमारा अश्विनों का कुल सैकड़ों वर्षों से खोज रहा है, परन्तु अभी तक अमृत अथवा अमरत्व हाथ नहीं लगा।" अश्विन ने कहा।

"सुना है कि भार्गव शुक्र ने अमरत्व का कुछ-कुछ पता लगा लिया है।" वरुण ने शुक्राचार्य के प्रयासों की चर्चा की।

"अभी निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। शुक्र प्रयास अवश्य कर रहा है।" विश्वकर्मा ने कहा।

"और यदि वह सफल हुआ, तो उसके ज्ञान का लाभ दानवों और असुरों को ही मिलेगा।" शुक्र की सफलता का परिणाम क्या होगा इसकी ओर वरुण ने सब का ध्यान दिलाया।

"ज्ञान कभी एक ही वर्ग में मर्यादित नहीं रह सकता, चाहे वह देवों का वर्ग हो, दानवों का अथवा मानवों का। प्रज्ञा एक ही वर्ग में क्यों न प्रकट हो परिमित नहीं रह सकती। दानव जिस तत्व को देखेंगे, मानव भी उसको देखेंगे और मानवों के देखने से पहले देव उसे अवश्य देख लेंगे। तीनों वर्गों के पाँव एक साथ उठेंगे और एक साथ गिरेंगे।" इन्द्र ने कहा।

"देवराज ! आज आप सर्वश्रेष्ठ देव-वर्ग को दानवों और मानवों की कोटि में क्यों रख रहे है ?" हँसते हुए वरुण ने पूछा। देवों की श्रेष्ठता को मानव बराबर स्वीकार करते थे। असुर उसे स्वीकार नहीं करते थे और इस कारण उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ता था, और देवों को भी असुरों की इस अस्वीकृति के कारण भयंकर युद्ध करने पड़ते थे और कठिन संकटों का सामना करना पड़ता था। ऐसे ही एक संकट के आ पड़ने पर देवों को आज दधीचि केआश्रम में आना पड़ा था। फिर भी देव तो देव ही थे और सभी से श्रेष्ठ समझे जाते थे।

"वरुणदेव ! देव किसे कहेंगे ?" इन्द्र ने हठात् प्रश्न किया।

"देव का अर्थ है श्रेष्ठ देहवाला जीवात्मा। हम देवों की देह सबसे अधिक तेजस्वी है। हम देवों की गति को कोई रोक नहीं सकता। जहाँ इच्छा हो, वहाँ हम जा सकते हैं। हमारा मन इतना तीव्र और विशुद्ध होता है कि परब्रह्म भी हमारी माँग को पूरी करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का रूप धारण-कर सम्मुख आते हैं।" वरुण ने उत्तर दिया।

"वे तो मानवों और दानवों के सम्मुख भी आते हैं।" अश्विन ने एक सामान्य तथ्य की ओर इंगित किया।

"हमारे सामने बड़ी ही सरलता से आते हैं। अन्य वर्गों के लोगों के सामने वे कभी-कभी और कठिन तपस्या के बाद ही उपस्थित होते हैं। हम तो जब चाहें तब प्रभु को देख सकते हैं।" वरुण ने देवों की विशिष्टता का आग्रह

कायम रखा।

"इसका अर्थ इतना ही है कि पूर्वजन्म अथवा इस जन्म की तपश्चर्या से विशुद्ध बना हुआ जीवात्मा देव-देह और देव-गति को प्राप्त होता है। ऐसी देह और दिव्य गति पाकर जब हम देवत्व में प्रवेश करते हैं और देव माता-पिता के घर में जन्म लेते हैं, तब तप का पुण्य सुरक्षित न रखकर उसका अपव्यय करने लगते हैं।" देवत्व के प्रति इन्द्र का असन्तोष विद्यमान रहा।

"अपव्यय करते हैं?" वरुण ने आश्चर्य प्रदर्शित किया।

"देवराज! हम अपव्यय नहीं करते। पुण्य का—पुण्य के फल का उपभोग करते हैं।" अश्विन ने कहा।

"उपभोग से क्या तात्पर्य?" मितभाषी विश्वकर्मा ने प्रश्न किया।

"उपभोग का अर्थ है—आस्वाद, सुखपूर्ण स्वाद, पंचेन्द्रिय का परम आनन्द, पुण्यकर्म का स्वाभाविक अधिकार!" वरुण ने आवेश में आकर कहा। दिव्यत्व के बारे में विश्वकर्मा की शंका उनको अच्छी न लगी; इन्द्र की शंका तो पहले से ही अप्रिय लग रही थी।

इन्द्र को हँसी आ गयी। उसने वरुण के मत को अस्वीकार कर दिया। थोड़ी देर तक सब लोग चुप रहे। अन्त में अश्विन ने इस शान्ति को, भंग किया—"हमारे नेता, हमारे आदरणीय, अरे, हमारे मुकुट-मणि समान इन्द्र देव को हमारे देव-वर्ग से सन्तोष नहीं है, यह बात स्पष्ट है। मेरी इच्छा है कि आज उपवास के पवित्र दिन वे अपने विचार हम लोगों को समझायें और यह मार्ग-दर्शन करें कि हमको क्या करना चाहिए।"

"मेरी मान्यता है कि जिस मार्ग को मैं देख रहा हूँ, वह आप सब को भी दृष्टिगोचर होता होगा। मुझे तो इस समय भगवान विष्णु का आदेश चिन्तातुर बना रहा है।" इन्द्र ने कहा।

"कौन-सा आदेश? उनके आदेशानुसार ही तो हम लोग यहाँ आये हैं।" वरुण ने कहा।

"वह आदेश मुझे एक दूसरा ही रहस्य बता रहा है। देवों के शस्त्रागार में एक भी ऐसा शस्त्र नहीं, जिसका उपयोग वृत्र के विरुद्ध किया जा सके।

हमें सबसे पहले इस सत्य को समझ लेना चाहिए।

"ऐसे ही शस्त्र की प्राप्ति के लिए तो हम यहाँ आये हैं।" अश्विन ने उत्तर दिया।

"और वह मिल भी गया, ऐसा समझना चाहिए।" वरुण ने कहा।

"आपको यह बात सरल मालूम होती है, परन्तु मेरी दृष्टि में यह समस्त देव-वर्ग के लिए लज्जा का विषय है।" इन्द्र ने अपनी असम्मति प्रदर्शित की।

"सारे देव-वर्ग के लिए लज्जा की बात ? देवराज ! यह आप क्या कह रहे हैं ? मैं सम्मानपूर्वक निवेदन करता हूँ कि आपके कथन का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। भगवान विष्णु ने जो आदेश दिया, हम उसका पालन कर रहे हैं, इसमें लज्जा किस बात की ?" वरुण ने कहा।

"लज्जा इस बात की कि एक भी देव की हड्डी में इतनी शक्ति नहीं कि वह वृत्र को मार सके। अपनी इस अशक्ति के कारण हमको युद्ध रोक देना पड़ा और एक मानव के पास उसकी अस्थियों की भिक्षा माँगने आना पड़ा। भगवान विष्णु के आदेश ने एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह बतलायी कि देवों के भी देव इन्द्र तक की अस्थियों में वह सामर्थ्य नहीं।" इन्द्र ने कहा।

इन्द्र के कथन का रहस्य अब देवों की समझ में आया। देवों के पास असुर वृत्र को मारने के लिए कोई शस्त्र न था। उस शस्त्र को प्राप्त करने के लिए उन्हें महर्षि दधीचि से प्रार्थना करनी पड़ी और उस मानव महर्षि ने कितनी तत्परता से देहार्पण करना स्वीकार कर लिया !

"एक दूसरी-बात भी विचारणीय है। एक असुर ने तपश्चर्या करके भगवान शंकर को प्रसन्न किया और उनसे ऐसा वरदान प्राप्त किया कि आज तीनों लोक में उसका भय व्याप्त हो गया है। देव-प्रजा में वैसा तप करनेवाला कोई दीख नहीं पड़ता।" इन्द्र ने देवताओं को और भी विचार के लिए प्रेरित किया और इस बात का संकेत भी किया कि देवों में से तपश्चर्या उठती जाती है।

"एक असुर तपस्वी के तप की तुला में रखने के लिए मिला एक मानव का तप ! वृत्र को मारने की क्षमता है केवल मानव दधीचि की हड्डियों में !

यह विचारने का विषय है।" विश्वकर्मा ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया।

"परन्तु उस शस्त्र को धारण करने की शक्ति तो है इन्द्र ही के हाथ में!" वरुण को देवत्व का अभिमान छोड़ता न था।

"कोई असुर अपने तपोबल से इस अमोघ शस्त्र को भी निष्फल बना दे, तो कोई आश्चर्य नहीं।" अश्विन ने कहा।

"उस समय फिर दूसरे दधीचि की शोध में हमें निकलना पड़ेगा।" इन्द्र ने पूछा।

"आपको इन सब बातों में देवों की कमजोरी कहाँ दीख पड़ती है?" वरुण ने पूछा।

"देव-वर्ग की एक बड़ी कमजोरी यह है कि पुण्य के फलस्वरूप वे हमारी तेजोमयी भूमि में जन्म पाते हैं, विपुल धन-धान्य और ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं, सुन्दरी देवियों से विवाह करते हैं, और उनके आलिंगन के परम सुख में लीन रहते हैं। कलामयी अप्सराओं के नृत्य-गीत, स्वर्ग-गंगा की जलक्रीड़ा, सोम के मादक पान, और भरतों के नाट्य-दर्शन में इतने मग्न रहते हैं कि तत्वचिन्तन के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। मानव-जाति से, आर्यकुल से देव-भाग और पूजन पाकर दिन-रात आनन्द मनाने को छोड़ उन्हें और कोई काम ही नहीं रहता।" इन्द्र ने कहा।

"तो वे और करें भी क्या?" वरुण ने पूछा। पुण्य के फल का उपभोग करने में इन्द्रदेव को बुरा क्यों लगता है, यह उनकी समझ में न आया।

"अच्छा किया, पूछ लिया। मैं देव-वर्ग को यही समझाना चाहता था। अपने दृष्टान्त को लेकर समझने में सरलता होगी। जिस प्रकार के सुख, आनन्द और शान्ति का हम देवता उपभोग करते हैं, वैसे ही सुख, शान्ति और आनन्द का उपभोग दानव और मानव भी कर सकें, ऐसी कोई योजना हमने बनायी है?" इन्द्र ने पूछा।

"यह तो अपने-अपने पाप-पुण्य का प्रश्न है; जिसने जितना दिया है, उतना ही वह पाता है।" अश्विन ने कहा।

"देवभूमि के परम सुख का भोग करनेवाले देवता कब तक अपने पुण्य-

कार्य का फल भोगते जायेंगे? अन्य लोगों के सुख का भी वे कभी विचार करेंगे? विश्व में पुण्य बढ़े, इसके लिए वे क्या कर रहे हैं? हमारे देव-वर्ग में कोई न्यूनता न होती, तो हम लोग वरुणों के नेतृत्व को क्यों छोड़ते? वरुणों के बाद हमने अग्नि को शीर्ष स्थान दिया। उससे भी हम सन्तुष्ट न हुए। उसके बाद शताब्दियों से इन्द्र-स्थान की हमने व्यवस्था की—सब देवता मिलकर अपने नेता को चुनने लगे और उसको उन्होंने इन्द्र का पद प्रदान किया। इन्द्रासन पर बैठनेवाले देव की अयोग्यता यदि बढ़ती गयी तो इन्द्र के साथ-ही-साथ सारा देव-वर्ग पूजे जाने की पात्रता खो बैठेगा। आप सब का क्या विचार है?" इन्द्र ने संक्षेप में इन्द्रासन का इतिहास कह सुनाया और भावि की ओर निर्देश किया।

"इन्द्र में किसी प्रकार की अयोग्यता अभी तक हमने देखी नहीं।" अश्विन ने कहा।

"हम इन्द्राणी ले आने का बराबर आग्रह कर रहे हैं। इन्द्र में यही एक न्यूनता हो सकती है। इसी को यदि अयोग्यता कहें, तो दूसरी बात है!" थोड़ा हँसकर वरुणदेव ने कहा।

इन्द्र के मित्र-समान समवयस्क देवता कभी-कभी इन्द्र से उपहास भी करते थे। परन्तु इस समय इन्द्र का मन उपहास के लिए प्रस्तुत न था। उसने उत्तर दिया—"मेरे विषय में सोचने का अधिकार देव-वर्ग को है, जिस न्यूनता को चाहें वे खोज निकालें। परन्तु जिस अयोग्यता का मैं विचार कर रहा हूँ, वह दूसरी ही है।"

"कौन-सी?"

"मेरी हड्डियाँ काम न आयीं, इससे बढ़कर अयोग्यता दूसरी क्या हो सकती है? वृत्र और दधीचि के सामने हमने क्षुद्रता का अनुभव किया। आज से मेरा और आप सब देवताओं का यही एक प्रयास होना चाहिए कि कोई भी देव मानव और दानव से निम्नकोटि का न हो, उन दोनों के सामने देवता को लज्जित न होना पड़े।" इन्द्र ने कहा

अश्विन-युग्म, वरुण और विश्वकर्मा तीनों विचार में पड़ गये। सारे दिन

यही बात होती रही। अन्य बातों की ओर इन्द्र का ध्यान खींचने के सब प्रयत्न निष्फल गये। देव केवल अर्जित पुण्य का फल भोगकर स्वर्ग में आनन्द मनाते हैं, और नया पुण्य प्राप्त नहीं करते, इन्द्र का सारे देव-वर्ग पर यही आरोप था। देवताओं के जीवन में सुख के अतिरिक्त और कुछ था भी नहीं। कष्ट, तप और परोपकार को वे भूल गये थे। यही कारण था कि वे मानव और दानवों के सामने छोटे मालूम होने लगे थे। अर्जित पुण्यफल को संपूर्ण भोग लेने के बाद यह भय खड़ा होता था कि देव कहीं लघुता प्राप्त कर मर्त्य-लोक में न जा गिरें। इस प्रकार के अधःपतन से बचने के लिए देवताओं को आवश्यक रूप से नये पुण्य का संग्रह करना होगा और इस नये पुण्य को प्राप्त करने के लिए नया कष्ट और नयी तपश्चर्या परमावश्यक है। इस प्रकार के विचारों में संलग्न इन्द्र को समय का खयाल ही नहीं रहा।

सन्ध्या हो रही थी। एक शिष्य ने आकर देवताओं से कहा—"देवाधिदेव! अपने अन्तिम समय में महर्षि दधीचि आपसे मिलना चाहते हैं।"

शिष्य के मुख पर विषाद की छाया थी।

इस सूचना ने देवताओं को विचार-निद्रा में से जगा दिया। वे चौंककर खड़े हो गये, और जल्दी-जल्दी शिष्य के पीछे जाने लगे। मार्ग में से उन्होंने कुछ पुष्प तोड़ लिये।

जिस स्थान पर दधीचि मुनि बैठे थे, वहाँ अनेक ऋषि, मुनि, शिष्य और आश्रम के स्त्री-बालक एकत्रित हो गये थे। देवता भी स्वयं चलकर वहाँ पधारे। उनको सब लोग मार्ग देते जाते थे। मुनि के ठीक सामने उनको सम्मान-सहित आसन दिये गये। देवों के सामने मुनि के चार पट्ट-शिष्य बैठ गये। अन्य सब लोग खड़े थे। दधीचि के मुख पर दिव्य मुस्कराहट व्याप्त थी, वध्य पशु की विवशता न थी। सत्कार्य के लिए अपने को बलि चढ़ाने का उत्साह था। मृत्यु जीवन का एक आवश्यक अंग है, इस तथ्य को जाननेवाला प्रसन्नता से मृत्यु का आलिंगन करता है। ऐसी ही प्रसन्नता और आनन्द मुनि के समस्त देह में व्याप्त था। प्राणों को समेटने की विधि में शरीर ने न तो कम्प का अनुभव किया और न विकलता का। सारा शिष्य-मण्डल हाथ जोड़कर खड़ा था।

वातावरण में अद्भुत शान्ति थी। उत्सव की—यज्ञ की पूर्णाहुति का दर्शन करने के लिए दधीचि ने सब को सायंकाल के समय बुलाया था।

शान्ति भंग करते हुए, अथवा शान्ति की गम्भीरता को बढ़ाते हुए मुनि दधीचि के शब्द सुनायी दिये—"देवों को मेरा प्रणाम ! शिष्यों को आशीर्वाद ! देवाधिदेव स्वयं यहाँ आकर मेरी अस्थियाँ माँग रहे हैं। माँगने पर देने का कोई महत्व नहीं। बिना माँगे देने का ही नाम आर्यत्व है। इस आर्यत्व का उदाहरण उपस्थित करने मैं नहीं जा रहा हूँ। मात्र मैं अपना कर्तव्य-पालन कर रहा हूँ। प्राण मेरे लिए साध्य है। उसको अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में रखूँ, या निकालकर पृथक् कर दूँ। तप-शक्ति द्वारा मैंने ब्रह्म से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। मुझे अनेक भूमिकाओं में भटकने की आवश्यकता नहीं। मैं मरूँगा नहीं। देह जाने पर मैं अमर हो जाऊँगा—ब्रह्ममय हो जाऊँगा। इसमें मेरा स्वार्थ है। मेरे इस कार्य पर जरा भी शोक न मनायें। मेरी देह देवताओं को दे दी जाये। मेरी अस्थियों से विश्वकर्मा जैसा शस्त्र चाहें बनायें। सब लोग यही इच्छा करें, कामना करें, और माँगें कि विश्व में देवत्व सजीवन रहे। बस, ॐ।"

उपस्थित-मंडल ने भी ॐकार का उच्चारण किया। सारा आश्रम ॐकार के नाद से गूँज उठा। दधीचि ने बोलना बन्द किया, और आँखें मूँद लीं। तभी लोगों ने देखा कि उनके ब्रह्मरंध्र से एक ज्योति निकली और विद्युत् गति से अदृश्य हो गयी। बन्द आँखें अर्धोन्मीलित हो गयीं। देवों के साथ सब लोगों ने मुनि की देह पर पुष्प-वर्षा की। शोक न करने की गुरु-आज्ञा होने पर भी ब्रह्मर्षियों के आँसू न रुके, और शोक की छाया सर्वत्र फैल गयी। देवों का कार्य हो गया, परन्तु मुनि के इस भव्य त्याग ने उनके हृदय को भी विषादमय कर दिया।

वह था देवों का उद्धार करने के लिए मानव का आत्म-समर्पण !

क्या देवों की अस्थियों में इतनी सामर्थ्य न थी कि वे वृत्र के वध के लिए योग्य शस्त्र का निर्माण कर सकें ? क्या तपस्वी मानव की बलि माँगनेवाला देवत्व सच्चा देवत्व है ?

पुण्य के फल का उपभोग करने के लिए क्या भोग-विलास, रंग-राग और नृत्य-गीत ही एकमात्र साधन हैं? इस प्रकार की परिस्थिति में क्या पुण्य बढ़ सकता है? या पुण्य जलकर भस्म हो जाता है? और क्या उसके बाद पतन का द्वार पुनः नहीं खुल जाता?

तपश्चर्या के बिना पुण्य का संचय नहीं हो सकता।

मानव तप करते हैं! दानव तप करते हैं! एकमात्र देव ही तपश्चर्या को छोड़ बैठे हैं!

इन्द्र को लगा कि भोग-विलास में पड़े हुए देव-वर्ग को तपश्चर्या की ओर खींच ले जाना नितान्त आवश्यक है।

दधीचि के आत्म-समर्पण ने इन्द्र के हृदय में विचारों की उत्ताल तरंगें उठा दी थीं।

[२१]

मृत-देह को कुचलकर जीवन अपनी संवर्धना करता है! देह के मोह के लिए जीवन मृत देह पर आँसू गिराता है, विलाप करता है, शोकाकुल होता है, विलाप-गीत लिखता है, स्मृति-दिन मनाता है, और अन्त में देह में रहनेवाली आत्मा के सन्तोष के लिए श्राद्ध-तर्पण करके सम्बन्ध के तन्तु को पकड़ रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु इसके बाद व्यक्ति के जीवन का क्रम रुक जाता है। फिर वह जीवित रहता है केवल स्मृति में, और सन्तति में। जीवन का प्रवाह तो कभी रुकता नहीं! तब बीच में मृत्यु कहाँ से आती है? और क्यों आती है? जीवन की संवर्धना करनेवाले व्यक्ति को भी मरना ही पड़ता है। यह कैसी विडम्बना है? मानव सौ वर्ष जीवित रहता है, दानव सवा सौ वर्ष और देव डेढ़ सौ वर्ष! तीनों बुद्धि-प्रेरित जीवों के जीवन-काल भले ही भिन्न-भिन्न हों, परन्तु तीनों के लिए मृत्यु अनिवार्य है। मृत्यु का नियमन करनेवाले दधीचि जैसे तपस्वी को भी मृत्यु के अधीन होना पड़ता है, फिर भले ही

वे हँसते-हँसते उसके गले लगें ! जिसमें मृत्यु को हँसते हुए आलिङ्गन करने की शक्ति नहीं है, वह सौ क्या, दो सौ वर्ष तक जीवित रहे, परन्तु अन्त में मृत्यु निष्ठुरतापूर्वक खींचकर उसे भी अपने कराल मुख में ले ही जाती है। बचता कोई नहीं ! क्या मृत्यु-हीन—मृत्यु-रहित जीवन सम्भव ही नहीं ?

जीवन और मृत्यु की विवेचना में दत्तचित्त इन्द्रदेव के हृदय में अनेक विचार आये। परन्तु अगम्य प्रश्नों का उत्तर कैसे मिलता ? कदाचित् तपश्चर्या ही उनका उत्तर देने में सहायक हो सके।

परन्तु इस समय इन्द्र को तपश्चर्या का अवकाश नहीं था। वह देवताओं का नेतृत्व करता हुआ युयुत्सु बन चुका था। उसकी प्रवृत्ति के प्रवाह को रोकना कठिन था, विजय अथवा मृत्यु दो ही उसके सामने थे। विजय को निश्चित बनाने के लिए उसे मानव-आश्रम में भिक्षा माँगने आना पड़ा—भिक्षा उस शस्त्र की जो वृत्र को मार सके ! दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करना बन्द करके, उसने तात्कालिक प्रश्न को हाथ में लिया। उस समय यही कर्त्तव्य था। दधीचि की अस्थियों को उसने माँगा। कितनी क्रूर भिक्षा थी ! दधीचि की महनता का पार न था। उन्होंने बिना किसी संकोच के इस भिक्षा को स्वीकार किया। और किसी को उनकी मृत्यु का पाप न लगे, इसलिए प्राण को स्वयं अपनी देह से पृथक् कर दिया।

मानवी कठोरता प्राण-रहित देह को भी नहीं छोड़ती। मृतदेह को जलाना अथवा भूमि में गाड़ना हो, तो इस कार्य को इष्ट-मित्र कड़ा हृदय करके सम्पादित करते हैं। परन्तु दधीचि की देह को तो काट-काटकर उसमें से हड्डियाँ निकालनी थीं ! इस कार्य के लिए अत्यधिक क्रूरता, अमानुषी कठोरता की आवश्यकता थी। और उस कठोर कर्म को पूरा किया सुन्दर, सुशोभन अश्विनीकुमारों ने जो देवों के वैद्य और शल्य-क्रिया में पटु थे। इन्द्र को सौंपी हुई दधीचि की देह को उन्होंने काटा और उसमें से हड्डियाँ निकाल लीं, यद्यपि यह काम करते समय उनको दुःख बहुत हुआ। अस्थि-हीन देह को—देहावशेष को पुष्पों से ढाँककर अग्नि-दाह किया गया। देखते-ही-देखते दधीचि अदृश्य हो गये। उसी रात विश्वकर्मा ने दधीचि की हड्डियों से एक षट्कोण शस्त्र

बनाया। उसको देखते ही लोगों को शस्त्र की शक्ति का आभास हुआ। दधीचि की हड्डियाँ लोहे और अश्म से भी अधिक कड़ी थीं। किसी प्रकार का मार्दव या खोखलापन उनमें जरा भी न था। तपश्चर्या से तपी हुई उन हड्डियों में असाधारण कठोरता थी। फिर भी विश्वकर्मा की टाँकियों ने अपना काम कर ही लिया। एक नवीन असाधारण शस्त्र का निर्माण हुआ। यह न था धनुष-बाण, न शूल-त्रिशूल; न था खड्ग के आकार का, और न गदा के ही समान। परन्तु इस शस्त्र में इन सभी शस्त्रों की सम्मिलित शक्ति और विशेषता थी। आँखों को चौंधिया देनेवाली असाधारण चमक इससे निकलती थी। त्वरा से निशाने पर पहुँचने और लक्ष्य-वेध करने की पूरी क्षमता उसमें थी। उसकी धार देखकर आश्चर्य होता था। शरीर में प्रवेश करने के बाद उसके आघात का ज़ोर बढ़ जाता था। प्रहार करने के बाद प्रहारक के हाथ में पुनः लौट आने की यांत्रिक योजना भी उसमें की गयी थी। यह चक्र जैसा गोल न था, परन्तु अगणित कोणोंवाली विद्युत् रेखा के सदृश विभिन्न रंगों के प्रकाशवाला और कराल आकृति का था। अश्विनीकुमार हड्डियाँ निकाल-कर देते जाते थे, और विश्वकर्मा अपनी कल्पना के अनुसार उनको शस्त्र के आकार में नियोजित करते जाते थे।

शस्त्र बनाने की क्रिया रात-भर होती रही। प्रभात होते ही अश्विनीकुमारों ने ऋषि की अस्थि-हीन देह को जोड़कर दधीचि का आकार प्रदान कर उनके शिष्यों को सौंप दिया। उसका विधिपूर्वक अग्निदाह किया गया। आश्रम-वासियों के मन में दो विरोधी भाव लहरा रहे थे—एक तो प्रिय गुरु के तिरो-हित होने का दुःख, और दूसरा हँसते-हँसते मृत्यु को गले लगानेवाले महर्षि की अद्भुत वीरता का हर्ष! सभी आश्रमवासी और देवता दधीचि की श्मशान-यात्रा में सम्मिलित हुए। सूर्य के सान्निध्य में ऋषि की देह चिता पर चढ़ाकर भस्मसात की गयी। अस्थि-हीन देह के जलने में देर न लगी। जलने-वाले शरीर में से सुवासित धुआँ सारे आश्रम में फैल गया। तप और देवस्पर्श से पुनीत देह में से सुवासित धूम्र के अतिरिक्त और निकल भी क्या सकता था! पंचभूत से बनी हुई देह पुनः पंचत्व को प्राप्त हो गयी। और प्राण?

वह किस वस्तु से बना था ? जिस तत्व ने ज्योति में से निकलकर चेतना ग्रहण की, वह तत्व पुनः उसी ज्योति में जा मिला। मुनि के पट्टशिष्य पिप्पलाद को गुरुपद प्रदान किया गया। सन्ध्या होने के पहले सब आश्रमवासियों के सामने पिप्पलाद ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित शस्त्र इन्द्र को प्रदान किया। इन्द्र ने समग्र आश्रम को धन्यवाद दिया।

"देवराज, हमारा आश्रम आज आपको अभूतपूर्व शस्त्र भेंट में दे रहा है। इसका अनुचित उपयोग न किया जाये। भयंकर आपत्ति के समय जब अन्य सब शस्त्र निष्फल हों, तभी इसका उपयोग होना चाहिए। तपश्चर्या की इस विरल देन का दुरुपयोग कदापि न होने पाये।" पिप्पलाद ने कहा।

"इसे कौन-सा नाम दिया जाये ?" वरुण ने पूछा।

"इसे आप वज्र कहें। इसकी कठोरता, इसका वेग, इसकी धार तथा इसका भार अन्य सब शस्त्रों से अधिक हैं। पर्वत की चोटियों तक को यह उखाड़कर फेंक सकता है। लेकिन उपयोग करते समय मर्यादा का विचार अवश्य रखें।" पिप्पलाद ने कहा।

"कैसी मर्यादा ?" अश्विनीकुमारों में से एक ने पूछा।

"यह शस्त्र तपस्वी की अस्थियों से बना हुआ है। जो तपस्वी नहीं हैं, वे इसका उपयोग न करें। देवताओं में, जहाँ तक हम जानते हैं, इन्द्र की तपस्या सर्वोपरि है, वे ही देवाधिदेव हैं। इस शस्त्र का उपयोग केवल इन्द्र ही करें। महर्षि दधीचि की भी यही इच्छा थी।" पिप्पलाद ने कहा।

उस क्षण से वज्र इन्द्र का आयुध कहलाया।

यह आयुध वास्तव में बड़ा ही अद्‌भुत था। इसी को प्राप्त करने के लिए इन्द्र युद्ध-भूमि छोड़कर दधीचि के आश्रम में आया था। आयुध बन जाने के बाद अब उसे एक क्षण भी युद्ध-स्थल से दूर रहना अच्छा न लगा। असुर-सेना देव-प्रदेश में दूर तक घुस गयी थी, और दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ती जाती थी। आर्यों की वृत्र को परवाह न थी। वह जब चाहे तब उनको पराजित कर सकता था। व्यग्र था वह आर्यों के इष्टदेवों को पराजित करने के लिए। देवों की पराजय के पश्चात् आर्यों का न कहीं स्थान रहता और न

उनकी हिम्मत होती असुरों के विरुद्ध खड़े होने की। देवों ने झंझावात चलाये, शस्त्रों की वर्षा की, प्रत्येक पर्वत और घाटी में दुर्भेद्य मोरचे बनाये; परन्तु असुरों का विजय-प्रवाह रुका नहीं। ज्यों-ज्यों असुरों को विजय मिलती गयी, उनका उत्साह भी बढ़ता गया। असुरों की ओर से युद्ध का सारा बोझ शची ने वृत्र के ऊपर डाल दिया था, और वृत्र भी बड़ी कुशलता से इस कार्यभार को संभाल रहा था। देव-सेना भी घमासान युद्ध के लिए कृतसंकल्प थी। देवता इस बात को समझ गये थे कि जितनी सरलता से वे पुलोमा का वध करने में सफल हुए, उतनी सरलता से वृत्र को मार नहीं सकते। उनके लिए यह जीवन-मरण का युद्ध था। इसलिए एक ओर विजय और दूसरी ओर दासत्व का दर्शन करनेवाले देवों ने अपना सुख, वैभव सब छोड़कर युद्ध को ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझा।

वृत्र प्रत्येक मोरचे पर देवों को पराजित करता हुआ आगे बढ़ता जाता था। किसी एक स्थान पर यदि देव शक्तिशाली सिद्ध होते, तो तुरन्त वृत्र का रथ धमधम करता हुआ वहाँ पहुँच जाता। उसे देखते ही असुरों में नवीन चेतन आ जाती। अग्निदेवों का समूह आग्नेयास्त्र चलाकर वृत्र को जलाने का प्रयत्न करता; सूर्यों की सेना जलते हुए तीर फेंककर वृत्र को बींध डालना चाहती; तीसरी ओर से महान वेगवाले मरुतों की सेना वृत्र पर भयंकर झंझा-वात की भाँति टूट पड़ती। परन्तु किसी का भी शस्त्र या अस्त्र वृत्र का बाल तक बाँका न कर पाता था। खड्ग, भाला या बाण के प्रहारों से वृत्र अपने को सफलतापूर्वक बचा लेता था और हुंकार करता हुआ देवों के दल पर महा-मारी की तरह टूट पड़ता था। वृत्र के साहस और पराक्रम को देखकर हतोत्साह हो रही असुर-सेना द्विगुणित जोश से देवों पर प्रहार करती। सायंकाल होते-होते तो देव-सेना मैदान छोड़कर भाग जाती और असुरों का विजय-डंका बजने लगता।

असुर-सेना में वृत्र की आज्ञा अन्तिम मानी जाती थी। शची भी उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करती थी। जब पुरुषों की टुकड़ियाँ थक जातीं, तब स्त्रियों की सशस्त्र टुकड़ियाँ लेकर वह युद्ध-भूमि में पहुँच जाती। वृत्र को घेरकर जब

देवता घमासान युद्ध शुरू करते, तब यकायक न जाने कहाँ से शची का रथ वहाँ पहुँच जाता, और शीघ्र ही देव-सैनिकों के शरीर तीर-भालों से बिंधे हुए पृथ्वी पर लोटते नजर आते। एक स्थान पर वृत्र अकेला खड़ा हुआ युद्ध कर रहा था। देवों ने यकायक उस पर प्रबल आक्रमण किया। इन्द्र द्वारा सुशिक्षित मेघ-समूह मुसल शस्त्र बरसाता हुआ आगे बढ़ा। इस भयंकर आक्रमण ने वृत्र के रथ को थोड़ा पीछे ढकेल दिया। वृत्र का रथ कभी पीछे हट नहीं सकता, इस विश्वास को माननेवाली असुर-सेना वृत्र के रथ के पीछे हटने से चकित हो गयी। सारी असुर-सेना में घबराहट फैल गयी। सैनिकों की हिम्मत टूटने लगी। कुछ दूर पर खड़ी हुई शची इस परिस्थिति को देख रही थी। उसने अपने रथ को शीघ्रता से आगे बढ़ाया, और धनुष-टंकार करती हुई वृत्र के पास पहुँच गयी। अपने पराक्रम से उसने असुरों के हृदय में नवीन शक्ति का संचार किया। देवों के बढ़ाव को उसने रोका, और कुछ देर बाद युद्ध की बाजी उलट दी। देव-सेना भागने लगी। वृत्र ने पराजय में से विजय को उदित होते हुए देखा। इस विजय का श्रेय शची को मिलना चाहिए, यह भी वह जान गया था। विजय निश्चित होने पर वृत्र ने शची के पास आकर कहा—"शची ! तुम्हारा आभार मानने आया हूँ।"

"किस बात का ?" शची ने पूछा।

"आज की विजय का ! वह तुम्हारी ही आभारी है।"

"विश्वास मानो वृत्र, कि मैं विजय के लिए ही युद्ध कर रही हूँ। तुम कदाचित् पीछे रह जाओ, परन्तु मैं तो युद्ध करती हुई आगे ही बढ़ती जाऊँगी —ठेठ, देवनगरी तक।" शची ने कहा।

वृत्र को शची का यह कथन अच्छा न लगा। उसको सेनापति बनाने के बाद भी शची को यह गुमान था कि सत्ता का उच्चतम शिखर अथवा केन्द्र वह स्वयं है।

"मैं पीछे रह जाऊँ ? अभी तक तो ऐसा हुआ नहीं, शची !" वृत्र ने उत्तर दिया।

"मेरा कथन यह है कि स्वर्ग-विजय बिना मैं रुकूँगी नहीं। तुम्हारे निश्चय

से भी अधिक दृढ़ मेरा निश्चय है।"

"होगा; परन्तु इन्द्र अभी तक युद्ध में दीख नहीं पड़ा!" वृत्र ने कहा।

"सुना है कि वह देवनगरी को सुरक्षित बनाने के कार्य में व्यस्त है।"

"यानी उसको भय है कि उसकी देवनगरी असुरों द्वारा घेरी जायेगी।"

"परन्तु क्षण-भर के लिए भी वह रण-क्षेत्र में न आये, यह आश्चर्य की बात है।" शची ने कहा। न जाने क्यों वृत्र ने शची के इस कथन का कोई उत्तर नहीं दिया।

शची बराबर वृत्र को आगे बढ़ा रही थी। उसी ने वृत्र को प्रधान सेनापति बनाया था। युद्ध-कार्य में भी वह वृत्र को ही आज्ञा देने का काम सौंपती; और स्वयं भी वृत्र की आज्ञा का पालन करती थी। परन्तु सब-कुछ करते हुए भी, शची की आँख सर्वत्र घूमती रहती थी। किसी भी विषम परिस्थिति में वृत्र उसे अपने निकट पाता। आज तो असुरों की पराजय को उसने विजय में बदल दिया था। कदाचित् वृत्र व्यूह-रचना की दृष्टि से पीछे हटा हो! युद्ध में विजय के लिए कभी कुछ पीछे भी हटना पड़ता है, उसे पराजय नहीं कह सकते। वृत्र ही कुछ पीछे हटकर पुनः आगे न बढ़ता, इसका क्या प्रमाण? तब शची ने बीच में आकर अपना शौर्य क्यों प्रदर्शित किया? कभी ऐसा भी होता कि वृत्र स्वयं शची को सन्तुष्ट करने के लिए ऐसे अवसर प्रदान करता। तब आभार-प्रदर्शन का ऐसा उत्तर शची ने क्यों दिया? विजय के लिए ही वह युद्ध कर रही है। वृत्र यदि पीछे रह भी जाये, तो भी शची बढ़ती हुई देवनगरी तक अवश्य पहुँचेगी।

और यदि वह बढ़ती हुई देवनगरी तक पहुँच गयी, तो असुर सम्राज्ञी होने के नाते उसी की विजय कही जायेगी।

देवों को पराजित करने, स्वर्ग का देश जीतने और इन्द्र को अपदस्थ करने से वृत्र को मिलेगा क्या? केवल यश! न मिलेगा स्वर्ग का राज्य, या स्वर्ग का सिंहासन! युद्ध में बराबर साथ रहने से स्वर्ग का स्वामित्व और स्वर्ग का राजमुकुट तुरन्त शची को मिल जायेगा। वृत्र को तो मिलेगा नहीं। तब स्वर्ग का राजमुकुट शची के चरणों पर रखकर वह उसके हृदय को कैसे जीत सकेगा?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि वृत्र की योजना समझकर ही शची भयंकर युद्ध में भी उसके साथ-साथ घूम रही हो ? और शची कहीं ऐसा न कर बैठे कि अन्तिम क्षण में इन्द्र की पराजय ही रुक जाये ! अथवा वह इन्द्र का वध ही न होने दे ! युद्ध में इन्द्र को न देखने का कितना असन्तोष उसने व्यक्त किया ? इन्द्र से मिलने की उसकी अभिलाषा अभी लुप्त नहीं हुई थी। और इन्द्र क्यों दीख नहीं पड़ रहा था ? कहीं शची ने उसे छिपाने का कोई भयंकर षड्यन्त्र तो नहीं किया है ?

वृत्र अपने शिविर में चला गया। उसके पास ही शची का भी शिविर था। देवों की भाँति असुरों की छावनी में विशेष वैभव या रंग-राग नहीं रहता था। विजय प्राप्त करने पर वहाँ उत्सव अवश्य होते। और ऐसे उत्सवों में सरलतापूर्वक सम्मिलित होकर वृत्र और शची सैनिकों के स्नेह और सम्मान के पात्र बन जाते थे। आज रात के विजयोत्सव में वृत्र सम्मिलित न हुआ। शची ने सन्देश भेजकर उसे आग्रहपूर्वक बुलाया। वृत्र को शची की आज्ञा माननी पड़ी।

असुर-सैन्य के दोनों उच्च अधिकारी सैनिकों से थोड़ी दूर हटकर एक छोटी-सी पहाड़ी पर जाकर बैठ गये। यद्यपि सैनिक-वृन्द उनको देख सकता था, तथापि वहाँ एकान्त होने के कारण आपस में बातचीत करने की सुविधा थी। छावनी के दीपक और मशालों का प्रकाश उस स्थल तक पहुँचा रहा था। आकाश में तारे भी चमक रहे थे। वृत्र और शची के हृदयों में अनेकों प्रश्न उपस्थित हो रहे थे, जो उन्हें विजयोत्सव का आनन्द लेने न देते थे।

"उत्सव में क्यों नहीं आ रहे थे ?" शची ने पूछा। बातचीत सर्वदा शची ही प्रारम्भ करती थी।

"उत्सव तुम्हारा था !" वृत्र ने उत्तर दिया।

"इसका क्या अर्थ ? जब तक मैं सम्राज्ञी-पद पर हूँ, उत्सव तो मेरा होगा ही।" शची बोली।

"सत्य है, परन्तु आज की विजय तो तुम्हारी व्यक्तिगत विजय थी, सम्राज्ञी-पद की नहीं।"

"तुमको यह बात पसन्द नहीं आयी ?"

"पसन्द आने, न आने का प्रश्न आज्ञापालक के लिए नहीं हुआ करता।"

"देखो वृत्र ! मैंने युद्ध में आज्ञा देने का काम बन्द कर दिया है। अपने राज-चिन्ह को भी अपने साथ नहीं रखती। राज्य मेरा है, इस बात का सूचक कोई व्यवहार भी मैं नहीं करती। फिर भी तुमको कौन-सी बात खटकती है ?"

"सच-सच बता दूँ ?"

"अवश्य। मैंने निश्चय किया है कि...."

"क्या ?"

"तुम्हारी बात का बुरा न माननो; और तुम्हारे तेज को लेश-मात्र भी मन्द न होने देना !"

"यह हो सकेगा ?"

"क्यों नहीं ? अब तो देव और असुर मुझको भूलकर तुम्हीं को पहचानने लगे हैं।"

"इतना होने पर भी सर्वोपरि राज-सत्ता तो तुम्हारे में ही केन्द्रित है, यह कोई कैसे भूल सकता है।"

"वृत्र ! क्या तुमको इस बात से ईर्ष्या होती है ?"

"नहीं, मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम असुर-राज्य के साथ-साथ देव-राज्य की भी सम्राज्ञी बनो !"

"तब तुम चाहते क्या हो ? तुम्हें कौन-सी बात खटकती है ?"

"तुम्हारी उपस्थिति।"

"मेरी उपस्थिति ? उससे तुम्हारा क्या नुकसान होता है ? वृत्र ! हम दोनों साथ-साथ बड़े हुए हैं, और एक दूसरे को भलि-भाँति पहचानते हैं।"

"सत्य है। इसी लिए तो मुझे तुम्हारी उपस्थिति खटकती है।"

"कहो तो मैं अपना राज्य-पद छोड़ दूँ।"

"तब तो तुम इन्द्र के पास जल्दी पहुँच जाओगी।"

"तुम वृत्र न होते, मेरे साथ बड़े न हुए होते, तो इसी क्षण तुमको अपदस्थ करके यहाँ से निकाल देती, कदाचित् प्रहार भी करती !"

"क्रोध न करो शची ! मेरी शंका का अभी समाधान नहीं हुआ।"

"इन्द्र के विरुद्ध इस युद्ध को घोषित करने पर भी ? भयंकर लड़ाइयाँ लड़ने पर भी ?"

"हाँ !"

"तुम्हारे जैसे शंकाशील आदमी अन्त में शंका को ही सत्य मानते हैं। बताओ, तुम्हरी शंका को दूर करने के लिए मैं क्या करूँ ?"

"हम लोगों ने यह युद्ध क्यों छेड़ा, कारण समझाओगी ?"

"इसमें समझाने का प्रश्न ही क्या है ? मैं भी जानती हूँ, और तुम भी अच्छी तरह से जानते हो कि देवों और असुरों के बीच परम्परा से वैर-भाव चला आ रहा है। आर्य हमको राजभाग नहीं देते। नहुष के यज्ञ में हमारा अपमान किया गया। हमारे मार्ग को रोका, हमें गलत मार्ग पर लगाया और मार्ग में ही हमको बन्दी बनाने के लिए नहुष ने अपनी सेना भेजी। यदि इन्द्र न होता तो त्वष्टा का आश्रम युद्ध-भूमि बन जाता।"

"फिर इन्द्र का नाम लिया ! शची, अभी तक तुमको स्वप्न में भी इन्द्र दीख पड़ता है।" वृत्र ने कहा।

"स्वप्न में दीख पड़नेवाला इन्द्र स्वप्न में ही भले रहे ! जीवित इन्द्र के साथ तो मैं जीवन-मरण का युद्ध कर रही हूँ।" शची ने सच्ची बात वृत्र को कह सुनायी। उसके मन में अकथ्य वेदना हो रही थी। एक असुर-श्रेष्ठ शची के इन्द्र-प्रेम की शंका अभी तक अपने मन में पाले हुए था।

"इस युद्ध को तुम सफल होने दोगी ?"

"हमारे ऊपर यह भी आरोप ? अभी कितने आरोप मेरे ऊपर और लगाओगे, यह मेरी समझी में नहीं आता। वृत्र, जिस युद्ध को मैंने छेड़ा उसे सफल क्यों न होने दूँगी ?"

"मुझे इन्द्र का, और उसकी चतुर नीति का भय है। न जाने कब तुम्हारे पास आकर वह युद्ध बन्द करा दे। इन्द्र ने तुम्हारे ऊपर जबर्दस्त जादू कर रखा है।" वृत्र ने कहा।

एक क्षण के लिए शची की भृकुटी कुंचित हुई। उसने दृष्टि स्थिर करके

एक बार वृत्र को देखा। उसके नेत्रों में बिजली की चमक आ गयी। वृत्र कुछ संकोच में पड़ गया। दूसरे ही क्षण शची सौम्य हो गयी। आज क्रोध न करने का उसने निश्चय किया था। वृत्र के लगाये हुए अभियोग असह्य थे। परन्तु यदि वह क्रोध के वश में हो जाये तो उन अभियोगों से उसे शीघ्र मुक्ति न मिल सकेगी। सभी अभियोगों का खण्डन करने के लिए वह तैयार थी। शची की राज्य-श्री ने उसकी उग्रता का शमन किया अथवा वृत्र के आक्षेपों की सचाई ने तो कहीं उसे शान्त नहीं कर दिया?

"ठीक है, वृत्र! अपनी शंकाओं का कारण तुम स्वयं जानते होगे! मैं तो तुम्हारी शंकाओं का निवारण करने का सतत प्रयत्न किया करती हूँ। परन्तु यह बताओ कि यदि इन्द्र से मैं प्रेम करती हूँ तो उसके प्रेम को स्वीकार करने और इस युद्ध को बन्द करने से मुझे कौन रोक सकता है?" शची ने उत्तर दिया।

"इस समय तो तुम्हें रोक रहा है असुरों का नेतृत्व। परन्तु जब इन्द्र हारने लगे, अथवा जब इन्द्र के वध का समय आये तब, तुम्हारा असुर-गौरव काम आयेगा या नहीं, इस विषय में मुझे पूरी शंका है।" वृत्र ने कहा।

शची जानती थी कि वृत्र अपने मन में जिस बात को सच्चा मानता है, वही उसके मुख से निकल रही है। उसका कथन स्पष्ट था, हृदय से निकला हुआ—उसमें न थी कोई मार्मिकता, न किसी प्रकार की वेधकता! शची को इससे प्रसन्नता हुई। क्यों? निष्कपट बात थी, इसलिए अथवा उसमें बार-बार इन्द्र का नाम आता था, इसलिए? लेकिन इस विषय पर अधिक विचार न करके शची ने वृत्र को उत्तर दिया—"इस युद्ध में इन्द्र का वध भी सम्भव है, और हो सकता है कि आर्यों के सम्पर्क में आने से मैं राजदेह के वध का निषेध कर दूँ; परन्तु इतना याद रखना वृत्र, कि इन्द्र के पराजय की आकांक्षा जितनी तुम्हारे हृदय में है, उतनी ही मेरे हृदय में भी। यह न होता, तो इस युद्ध को मैं शुरू ही क्यों करती? इन्द्र-पराजय की इच्छा बिना यह युद्ध निरर्थक है। और क्या तुमको विश्वास है कि पराजित इन्द्र के साथ मैं प्रेम कर सकूँगी?"

नहीं! मैं जानता हूँ कि हारे हुए इन्द्र के साथ तुम प्रेम न करोगी।

परन्तु अपनी पराजय की स्थिति इन्द्र आने ही न दे तो ?"

"इन्द्र के वध या उसकी पराजय में से एक तो अवश्य होकर रहेगा—इसका तो तुमको विश्वास है न ?"

"मुझे वरदान प्राप्त है कि कोई भी शस्त्र मेरे ऊपर आघात नहीं कर सकता !"

"मैं जानती हूँ। और अब सारी असुर-सेना भी इस बात को जान गयी है। देवता तो जानते ही होंगे। यही कारण है कि असुर-सेना आगे बढ़ रही है, और देवता अमरापुरी की ओर भाग रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में तुम क्यों इस भयंकर युद्ध में लगे हुए हो, इसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आया।"

"असुरों की स्वर्ग-विजय के लिए।"

"झूठ ! यह तो मैं भी चाहती हूँ, और सारी असुर-प्रजा चाहती है। परन्तु तुम स्वयं अपनी ओर से स्वर्ग जीतना क्यों चाहते हो ?" शची ने पूछा।

वृत्र कुछ देर तक चुप रहा। उसने तत्काल कोई उत्तर न दिया। उत्सव मानने में लगे हुए सैनिकों की ओर मुख घुमाकर वह देखता रहा।

"उत्तर क्यों नहीं देते ?" शची ने पूछा।

"उत्तर मैं समय पर दूँगा। मेरे लिए इस बात का समय अभी आया नहीं है।" वृत्र ने कहा।

"परन्तु मेरे लिए तो समय आ गया है। इस क्षण मेरा, तुम्हारा और असुर-युद्ध का भविष्य तुला पर चढ़ा हुआ है। तुम्हारा जवाब सुनकर या तो तुम्हारी बात को मान लूँगी, जैसे कि आज तक मानती आयी हूँ, या युद्ध की बागडोर अपने हाथ में लेकर युद्ध को चालू रखने अथवा बन्द कर देने का निर्णय करूँगी।" शची ने धमकी दी।

"क्या युद्ध करते-करते थक गयी हो ?"

"जीवित प्राणी को युद्ध शोभा देता है, तुम्हीं विचारो वृत्र ! यदि मानव अभिमान को नष्ट करने का कोई दूसरा मार्ग होता, तो हम या तुम युद्ध का मार्ग ग्रहण करते ?"

"अब तो विजय हमारे सामने है शची, फिर भी तुम ऐसी बात करती

हो ? यही कारण है कि तुम्हारा युद्ध से दूर, पीछे रहना आवश्यक है। स्त्रियों को युद्ध अप्रिय भी हो सकता है।"

"यह तुम झूठी बात कह रहे हो। युद्ध मुझे प्रिय हो, या अप्रिय हो, मैंने अभी तक कोई ऐसा काम नहीं किया जिससे हमारे गौरव को क्षति पहुँचे; और आगे कभी करूँगी भी नहीं। स्वर्ग जीतना ही मेरा लक्ष्य है।"

"स्वर्ग मुझी को जीतने दो, शची !"

"तुम्हारे कथन का तात्पर्य मैं नहीं समझी। सेनापति तुम हो। तुम्हारी आज्ञा को मैं भी मानती हूँ! स्वर्ग को जीत सकोगे, तो तुम्हीं जीतोगे। और कौन जीतेगा ?"

"विजय के अवसर पर तुम्हारा साथ मुझे नहीं चाहिए।"

"यश के बँट जाने का भय है ? जैसी तुम्हारी इच्छा !"

"नहीं, नहीं ! मुझे भय इस बात का है, कि मेरे जीवन का एकमात्र स्वप्न कहीं अपूर्ण न रह जाये।" वृत्र ने पुनः उलझन-भरी समस्या खड़ी कर दी।

"तुम्हारा ऐसा कौन-सा स्वप्न है, जो मेरे कारण अपूर्ण रह जायेगा ?"

"यह वार्ता तुम्हारे ही आसपास गुँथी हुई है।"

"तो उसे कह डालो, मैं समझ सकूँ ऐसे शब्दों में। मेरी ही बात है और मैं ही विघ्नरूप हूँ—कुछ समझ में नहीं आता।"

"सुनो शची ! मैं स्पष्ट बात कहता हूँ। वर्षों से यह लालसा है कि एक महाराज्य जीतकर उसे तुम्हारे चरणों में समर्पित करूँ।"

शची चौंकी। युद्ध का शूरमा कहीं प्रेम का शूरमा तो नहीं बन रहा ?

"मैंने इसके लिए मना कब किया ?" शची बोली।

"तुम्हारे चरणों पर रखने के लिए राज्य ही कहाँ है ? असुर-राज्य की सार्वभौम सत्ता तो तुम्हारे हाथ में है ही ! बाकी बचा है स्वर्ग का राज्य !"

"आर्यों को क्यों भूल रहे हो ?"

"उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं। स्वर्ग विजय होते ही अपने-आप हमारी शरण में आ जायेंगे।"

"उस स्वर्ग को जीतने के लिए ही तो हम दोनों प्रयत्नशील हैं।"

"मुझे अकेले ही स्वर्ग जीतना है, इन्द्रासन पर बैठना है और स्वर्ग का अधीश्वर बनकर सारा स्वर्ग-प्रदेश तुम्हारे चरणों पर रखना है। चाहो तो तुम्हीं अकेली आगे बढ़कर स्वर्ग जीत लो; नहीं तो मुझी को अकेला आगे जाने दो, और स्वर्ग-विजय का यश प्राप्त करने दो। तुम साथ में रहोगी तो राजमुकुट तुम्हारे मस्तक पर रखा जायेगा। और मेरी यह अभिलाषा है कि वह मुकुट एक बार मैं धारण करूँ और उसको उतारकर तुम्हें भेंट कर दूँ।"

"इससे क्या फर्क होगा?"

"फर्क यही कि सेव्य और सेवक का भेद जाता रहेगा। आज मैं तुम्हारा सेवक हूँ। सेवक और सेव्य के बीच हजारों कोस का अन्तर रहता है। स्वर्ग का स्वतन्त्र राजा बनकर इस भेद को मैं मिटा देना चाहता हूँ।"

"उसके बाद?"

"उसके बाद स्वर्ग का राजमुकुट तुमको समर्पित कर मैं पुनः तुम्हारा सेवक बनकर रहूँगा। आज मैं तुमको जो कुछ भी दूँ, वह राज-भाग माना जायेगा। स्वर्ग का स्वतंत्र अधीश्वर बनकर जो वस्तु प्रदान करूँगा, वह भेंट कही जायेगी—दो समकक्ष नरेशों का लेन-देन!"

"मुकुट के साथ और भी कुछ रहेगा?"

"हृदय!"

"अच्छा, तुमको मेरा प्रेम चाहिए?"

"कहा होता, तो तुम मेरी प्रार्थना को अस्वीकार करती।"

"क्यों?"

"मेरे और तुम्हारे बीच जो स्थिति-भेद है उसी कारण।"

"यह तुम किस आधार पर कहते हो? मैंने तो कभी ऐसा प्रदर्शित नहीं होने दिया।"

"यह तुम्हारी उदारता थी। परन्तु यह अन्तर मेरे मन में तो बराबर खटकता ही रहता था।"

"हूँ।"

"अब क्यों चुप हो गयी?"

"यह वरदान तुमने प्राप्त किया, इस महायुद्ध को छेड़ा, और इतना पराक्रम दिखाया, क्या यह सब देवों को पराजित करने और असुरों के राज्य के विस्तार के लिए नहीं, अपितु मुझे प्राप्त करने के लिए ही है?"

"इसमें बुराई क्या है? और मैं भी यदि तुम्हारे समस्त कार्यों को और इस युद्ध को भी इन्द्र-दर्शन का बहाना भर बताऊँ तो कैसा रहे?"

"इसमें भी क्या बुराई है? जो पुरुष मुझे प्रिय लगता हो, वह यदि अन्य प्रकार से सामने न आये, तो उसे चुनौती देकर मैं युद्ध-भूमि में भी बुला सकती हूँ।" क्षण-भर आवेश में आकर शची ने उत्तर दिया। वृत्र और शची के नेत्र मिले, उस दृष्टि में विग्रह दीख पड़ा। लेकिन वह विग्रह क्षण-मात्र में शान्त भी हो गया।

शची ने बात को आगे बढ़ाया—"ठीक है, वृत्र! तुमको जो कहना हो सो कहो। मेरे ऊपर तो तुम आरोप लगाते ही आये हो। तुम यही चाहते हो न कि मैं इस युद्ध में से हट जाऊँ?"

"और स्वर्ग मुझ अकेले को ही जीतने दो।"

"अच्छा! तुम्हारी इच्छा के अनुरूप ही होगा। मैं इससे भी आगे बढ़ती हूँ। आज से तुम शची के राज-सेवक नहीं रहे!"

"मुझे निवृत्त कर रही हो?"

"नहीं, नहीं! यहाँ की सारी सेना तुम्हें भेंट दे रही हूँ। जितना प्रदेश तुम विजय करो, उतने के तुम स्वतंत्र राजा होगे। स्वर्ग-विजय तक मैं तुम्हारी मित्र रहूँगी। जब तक मुझको प्रतीत होता रहेगा कि तुम स्वर्ग जीत सकोगे, तब तक मैं इस युद्ध से पृथक् रहूँगी। स्वयं निवृत्त होकर देखा करूँगी। इसका यह तात्पर्य नहीं कि असुर-राज्य की सेना या संपत्ति से तुम वंचित रहोगे। वे बराबर तुमको मिलती रहेंगी। बस?" शची ने कहा, और अपना मुख घुमाकर उत्सव की ओर देखने लगी।

वृत्र ने एक प्रकार की शान्ति का अनुभव किया। जो वह चाहता था, उसे मिल गया। शची ने उसे स्वतन्त्रता प्रदान की, और स्वर्ग विजय होने पर उसे देवताओं का अधीश्वर मानना स्वीकार कर लिया। वरदान के कारण

उसे कोई पराजित न कर सकेगा। इन्द्र के बदले इन्द्रासन पर वह अवश्य विराज़मान होगा। और इन्द्रासन मिलने पर शची की दृष्टि बिलकुल बदल जायेगी। वह उसे किसी भी प्रकार नीचा न समझेगी। और तब अपने पास लगभग सटकर-बैठी हुई शची से वह पत्नी बनने की प्रार्थना कर सकेगा।

शची को पत्नी बनाने की कल्पना करनेवाले वृत्र को यह भय हुआ कि आज की बातचीत से शची कहीं रुष्ट न हो जाये।

"शची! मेरी बात का बुरा तो नहीं लगा?" वृत्र ने शान्त होकर बैठी हुई शची से प्रश्न किया।

"मुझे बुरा क्यों लगेगा?"

"तुम्हारे विरुद्ध आज मैंने बहुत से आरोप लगाये, इसलिए।"

"मैं समझ गयी कि उसके पीछे कौन-सी भावना थी। तुम्हारे जैसे असुर वीर को मेरा आधिपत्य पसन्द न आये, यह स्वाभाविक है। तुम्हारी सारी योजना मेरे ध्यान में आ गयी। तुम स्वर्ग का राज्य मुझे भेंट में देने का निश्चय कर चुके हो। मेरे स्थान और पद के समकक्ष होकर तुम मेरी बराबरी में खड़े होना चाहते हो।"

"तुम्हारी इस समझ से मेरा मार्ग सरल हो गया। अब देखना, कल से मैं स्वर्ग की ओर कितनी तेजी बढ़ता हूँ। और वह क्षण आते देर नहीं लगेगी कि स्वर्ग का सिंहासन जीतकर मैं तुम्हारे चरणों पर रख दूँगा।"

"परन्तु वृत्र, यदि मैं और तुम इन्द्र को जीत न सके?"

"तुमको यह विचार आना ही न चाहिए। तुम जानती हो कि मैं अजेय हूँ। देव, दानव या मानव कोई भी आज तक के बने हुए किसी भी शस्त्र से मुझे मार नहीं सकता। मुझे भय इतना ही था कि इस युद्ध में कहीं इन्द्र बच-कर निकल न जाये!"

"इन्द्र इस समय भी भागकर निकल न गया हो, यह कौन कह सकता है? इधर वह दीख नहीं पड़ता।"

"पराजित होकर भागनेवाले इन्द्र की ओर तुम देखना भी पसन्द न करोगी, यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ।"

"सच कहते हो, वृत्र ?"

"इसी में तो मेरे जीवन की सफलता निहित है।"

"किस प्रकार ?"

"इन्द्र यदि सामने आयेगा, तो उसका वध निश्चित है और यदि रणभूमि से भाग गया, तो उसकी पराजय।"

"परन्तु इससे तुम्हारे जीवन को सफलता कैसे मिलेगी ?"

"इन्द्र के मार्ग से हट जाने के बाद मेरे अतिरिक्त और कोई पुरुष तुमको पसन्द न आयेगा।"

"लेकिन मैं किसी भी पुरुष को पसन्द न करूँ तो ?"

क्षण-भर के लिए वृत्र की आँखों में भयंकर ज्वाला प्रकट हुई। उन्हीं आँखों से वृत्र ने शची की ओर देखा। आँखों की उस ज्वाला को शची ने भी देखा। देखकर वह मुस्करायी। पुरुष की दृष्टि में नारी का इतना महत्त्व कि उसको जीतने के लिए देव-दानव का भयंकर युद्ध हो! शची के मन में एक विचार आया, जिसको प्रकट करते ही वृत्र के नेत्रों से अग्नि-वर्षा होने लगी। स्त्री के जीवन में पुरुष क्या अनिवार्य है ? आर्यों के कितने ही तपस्वी अपने जीवन-भर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, यह बात शची ने सुनी थी। आर्य-आश्रमों में बहुत-सी ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहती हैं। देवताओं में इन्द्र अभी तक अविवाहित ही था। यद्यपि अनेक अप्सराएँ और देवकन्याएँ उससे विवाह करने के लिए लालायित थीं। तब शची का काम पुरुष के बिना क्यों नहीं चल सकता ? शची के विचारों को भंग करते हुए वृत्र ने कहा—"मुझे तुम्हारी भेंट न चाहिए, शची! तुम्हारी सेना की भी मुझे आवश्यकता नहीं। मैं अकेला ही देवों से लड़ूँगा, और विजय प्राप्त करूँगा।"

"पागल न बनो, वृत्र! इस प्रकार सोचने का कारण क्या है! क्या मैं तुम्हारी शत्रु हूँ ?"

"शत्रु नहीं तो और क्या हो ?"

"तुम्हारे कहने के अनुसार ही युद्ध का प्रत्येक सूत्र तुमको सौंपती जाती हूँ, तिस पर भी तुम मुझे शत्रु समझते हो ?"

"मैं सारे स्वर्ग का राज्य तुम्हारे चरणों पर चढ़ाने को तैयार हूँ। तिस पर भी तुम कहती हो कि मुझे तुम पसन्द न करोगी। तब कौन-सा पुरुष तुमको प्रिय होगा?"

"वृत्र! प्रेम की मेरी और तुम्हारी व्याख्या भिन्न है। स्वर्ग का राज्य देकर तुम मुझे खरीदना चाहते हो! तराजू के एक पलड़े में स्वर्ग और दूसरे मेंमे रा शरीर रखने की तुम्हारी इच्छा है?"

"केवल तुम्हारा शरीर नहीं, तुम्हारे हृदय, मन, जीव, आत्मा सभी कुछ को।"

"मैं कभी अपना तुलादान न होने दूँगी।"

"इसी से प्रमाणित होता है कि इन्द्र के प्रति तुम्हारा मोह अभी गया नहीं—और अपने जीते-जी मैं तुमको कभी इन्द्र के हाथ में जाने न दूँगा।" वृत्र ने दृढ़ता से कहा।

शची हँस पड़ी। असुर वीरों में अगुआ वृत्र उससे विनती कर रहा था! वरदान प्राप्त करके अवध्य बना हुआ वृत्र उसको धमकी देता था। देवों को पराजित करके अमरापुरी जीतने निकला हुआ वृत्र उसकी हृदय से कामना करता था! वृत्र उपहास का पात्र न था। परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने महत्त्व से शची को प्रभावित करना चाहता, विशेष करके कोई पुरुष, तो शची का नारीत्व उग्र रूप धारण कर उसके प्रति विद्रोह करता था। इसलिए गम्भीर होकर बातें करनेवाले वृत्र पर सहज रूप में हँसकर शची ने कहा—"वृत्र! अब मुझे सब बातों का स्पष्टीकरण कर लेने दो। तुम इन्द्र को हराकर स्वर्ग का राज्य प्राप्त करोगे, वह राज्य तुम मुझे समर्पित करोगे और इस भेंट के बदले में मुझे अपनी पत्नी बनाओगे। यही न?"

"बात तो यही है। वैसे तुम इस बात को जिन शब्दों में चाहो कह लो।"

"और तुम्हारी भेंट के बदले में जो तुम चाहते हो, वह मैं न दूँ तो?"

"तो यही कहूँगा कि तुमने एक अवध्य और स्वर्ग के अधिपति नराधिप का तिरस्कार किया!"

"हो सकता है कि स्वर्ग का वह अवध्य राजा मुझे प्राप्त करने के लिए मेरे

विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दे !"

"इस सम्भावना तक पहुँच गयी, यह अच्छा ही हुआ।"

"तो इस सम्भावना को वास्तविकता का रूप प्रदान कर ही दिया जाये। तुम इन्द्र से लड़ाई लड़ने जा रहे हो, इस कारण इन्द्र को असुर-हाथ का चमत्कार दिखाने की मेरी मनोकामना पूरी न होगी। परन्तु देवराज बनकर जब तुम मुझसे लड़ने आओगे, तब मैं जी खोलकर लड़ूँगी। कोई भी विश्व-विजेता मुझसे लड़ ले, मैं तो यही चाहती हूँ और यदि मैं पराजित होकर जीवित रहूँ तो मेरा गुलामी का पट्टा लिखा ही समझना !" शची ने उपहास करते हुए बात को आगे चलायी।

अपने प्रति शची का इतना तिरस्कार क्यों है, यह वृत्र की समझ में न आया। और इसलिए उसे क्रोध आ गया। क्रोध के आवेश में उसने अपनी सेनापति के पद की कटार शची के सामने रखकर कहा—"यह तुम्हारा सेनापति-पद मैं लौटा रहा हूँ। आज से मैं एक स्वतन्त्र व्यक्ति हूँ। अब मैं तुम्हारा सेवक न रहा। अपना युद्ध तुम स्वयं सँभाल लो।"

"बहुत अच्छा ! मेरी और तुम्हारी जो इच्छा थी, वही हुआ। तुम अब हमारे सेवक न रहे। युद्ध का संचालन भी मैंने सँभाल लिया। यह संचालन अपने हाथ में लेकर तुमसे विनती करती हूँ कि एक मित्र के नाते, एक स्वतन्त्र व्यक्ति के नाते अमरापुरी की विजय तक युद्ध का संचालन अपने हाथ में ही रखो।"

शची ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

शची की आज्ञा को अस्वीकार करना सम्भव न था। ऐसे मैत्रीपूर्ण सहयोग की याचना को कौन अस्वीकार कर सकता है? सुनकर वृत्र चकित हुआ। सेनापति-पद से एक बार हटाकर शची मित्रता के नाते पुनः उस पद को ग्रहण करने के लिए वृत्र से प्रार्थना कर रही थी! ऐसा कहकर वह कहीं वृत्र का उपहास तो नहीं कर रही थी? उपहास करती भी हो, तब भी वह वृत्र का साथ तो खोज ही रही थी। आज तक वृत्र ने जो कुछ माँगा, वह शची उसे देती गयी। देवासुर-युद्ध आरम्भ किया वृत्र ने। शची ने उसकी भी सम्मति दी। वृत्र ने

इस युद्ध का नेतृत्व माँगा; शची ने वह भी दिया। सेवक के स्थान पर उसे मित्र बनाया—स्वतन्त्र और सम्मानित कोटि का मित्र! और अमरापुरी की विजय तक पुनः सारा युद्ध-भार उसके हाथ में सौंप दिया। इन्द्र के प्रति यदि सच्चा प्रेम होता, तो उसके विरुद्ध संग्राम करने की इतनी सुविधाएँ वह वृत्र को क्यों देती?

वृत्र के हृदय में बुद्धि का प्रकाश हुआ और असूया अदृश्य हो गयी। इन्द्र-प्रेम के विषय में घड़ी-घड़ी शची को व्यंग्य-वचन सुनानेवाले वृत्र को थोड़ा विचार करने पर यह ख़याल भी आया कि कदाचित् शची को इन्द्र के प्रति प्रेम न भी हो। और यदि हो भी तो इन्द्र के वध के बाद वृत्र को छोड़कर अन्य कोई स्नेह-पात्र रह नहीं जायेगा।

शची ने कहा कि वह किसी भी पुरुष को अपना प्रेम नहीं भी दे सकती है। क्या ऐसा सम्भव है? यदि न भी हो, तो इन्द्र की मृत्यु के बाद केवल वृत्र ही एकमात्र ऐसा पुरुष रह जायेगा, जिसका अलौकिक पौरुष शची को आकर्षित किये बिना नहीं रहेगा। और उसके बाद वृत्र में इतना बल और चातुर्य था कि वह शची को अपने वश में कर ले। इसलिए शची को बल से अपने वश में करने का विचार वृत्र के मन में नहीं आया।

कहीं ऐसा तो नहीं कि शची इन्द्र और वृत्र दोनों की परीक्षा ले रही हो? पुरुष रूप पर मोहित होता है, स्त्री बल पर! शची एक वीरांगना और सम्राज्ञी अवश्य थी। परन्तु अन्त में थी तो वह स्त्री ही! इन्द्र और वृत्र दोनों के आकर्षण का अनुभव करती हुई शची ही क्यों न इस बात की इच्छा करती हो कि इन दो युगमान्य पुरुषों का बल कसौटी पर कसा जाये! पसन्द करने के पहले परीक्षा करना—कसौटी पर कसना स्वाभाविक है। वृत्र को विश्वास होने लगा कि जिस क्षण वह इन्द्र को पराजित करेगा, उसी क्षण शची अपनी वर-माला उसके गले में पहना देगी।

इसलिए शची ने जब उसको मित्र बनाया, तो वह उसकी प्रार्थना कैसे अस्वीकार करता? वृत्र का हृदय कोमल भावों से भर गया।

"शची तुमको समझना कठिन है। परन्तु तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन कैसे

हो ?" वृत्र ने कहा।

"अब आज्ञा नहीं, प्रार्थना कहो! वृत्र, जितनी शीघ्रता सम्भव हो, उतनी शीघ्रता से अमरापुरी की ओर प्रयाण करो। इन्द्र-विजय का मैं तुम्हें अवसर देती हूँ।" शची ने कहा।

"और इस अवसर को मैं न ग्रहण करूँ, तो?"

"तो मैं ग्रहण करूँगी। इन्द्र की पराजय मेरे हाथों होगी।"

उस दिन से वृत्र का उत्साह बढ़ गया। उसने देवताओं पर भयंकर प्रहार शुरू किये। देव घबराकर पीछे हटने लगे और वृत्र की विजयवाहिनी आगे बढ़ती गयी। इन्द्र को प्रतिदिन आश्चर्य में डालनेवाले समाचार मिलने लगे। वृत्र की विजय योजनाबद्ध हो रही थी। वृत्र ने देखते-ही-देखते पचीस देवनगरों का विध्वंस कर डाला। देव-नारियों ने भागकर हिमालय की गुफाओं में आश्रय लिया। वृत्र को रोकने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। ऋषियों के आश्रमों में से असुर हजारों गायें हाँक ले गये! उन्होंने आर्यों के यज्ञों को भ्रष्ट करना प्रारम्भ किया। इन्द्र को असुरों की विजय के सब समाचार बराबर मिलते रहे। अन्त में यह खबर भी आयी कि वृत्र अब अमरापुरी के द्वार पर पहुँचना ही चाहता है।

दधीचि के आश्रम से लौट रहे इन्द्र ने रथ को तेजी से दौड़ाया। परन्तु अश्वों के वेग की भी सीमा थी। इसलिए विश्वकर्मा ने रथ को विमान के रूप में बदल दिया और उसमें यन्त्र लगा दिये। अपने विमान में उड़ता हुआ इन्द्र जल्दी से आगे बढ़ा।

[२२]

अमरापुरी के चारों ओर वृत्र की सेना घेरा डाले पड़ी थी। बाहर से कोई कुमक पहुँच न सके इसका पूरा प्रबन्ध था। इन्द्र के विमान को भी तोड़कर गिरा देने के लिए प्रवीण असुर धनुर्धारी ताक लगाये खड़े थे। स्वर्गभूमि की

और शीघ्रता से लौटनेवाले इन्द्र को हिमगिरि पार करके यक्षों ने युद्ध के सब समाचार दिये। इन्द्र ने अपने विमान को वहीं यक्षों के निरीक्षण में छोड़ा और हाथ में केवल वज्र धारण करके हिमाच्छादित पर्वतों की राह पर चल पड़ा।

"आज तक देवनगर को घेरने का साहस किसी ने किया न था।" अश्विनों में से एक ने कहा।

"आज तक किसी इन्द्र ने इस नगर को मेरी तरह अरक्षित छोड़ा भी न था!" इन्द्र ने मुस्कराकर कहा। इन्द्र के मुख पर जरा भी विकलता न थी।

"आप छोड़कर न जाते, तो हमें वज्र जैसा आयुध कैसे मिलता!" वरुण ने कहा।

"जब कोई उपाय नहीं रह जायेगा, तभी इस शस्त्र का प्रयोग करूँगा। किसी भी शस्त्र में ऐसी कठोरता देखने में नहीं आयी।" इन्द्र ने कहा। निरर्थक हत्या करना इन्द्र को अच्छा न लगता था।

"इस शस्त्र का प्रयोग हो, तब समझ में आये।" अश्विन का वाक्य अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि सामनेवाली पहाड़ी पर युद्ध-घोष हुआ।

अमरापुरी के आसपास रहनेवाले असुर-विरोधी तत्वों का नाश करने के हेतु भेजी गयी एक सशस्त्र असुर-टुकड़ी ने सामने से पाँच देवों को आते हुए देखा। असुरों ने देवों को पहचान लिया, और वे उनका संहार करने के लिए लपके। अब लड़ने के अतिरिक्त देवों के सामने कोई मार्ग न था। मृत्यु और बन्धन में से किसी एक को पसन्द करना हो, तो वीर पुरुष मृत्यु को ही पसन्द करते हैं।

"चिन्ता नहीं, हम लड़ेंगे। केवल वही पहाड़ी पार करना बाकी था। उसके बाद तो अमरापुरी में पहुँचने का गुप्त मार्ग मिल ही जाता।" विश्वकर्मा की ओर देखकर इन्द्र ने कहा। देवों को मालूम था कि इस पहाड़ी के पीछे स्थित घाटी में एक ऐसे गुप्त मार्ग का द्वार था, जिसके द्वारा वे सरलता से देवनगरी में पहुँच सकते थे। इस मार्ग-द्वार को खोलने की कुञ्जी केवल इन्द्र और विश्वकर्मा के पास ही रहती थी।

"वज्र का प्रयोग यहाँ कर देखें, देवराज!" मितभाषी विश्वकर्मा ने कहा।

"इस स्थान पर क्यों?" इन्द्र ने पूछा।

"उसकी शक्ति का अन्दाज लगाने के लिए और वह देखिए दूसरी पहाड़ी पर भी शत्रुओं के सैनिक खड़े हैं। मालूम ऐसा होता है कि दुश्मन चारों ओर हैं।" दूसरी टुकड़ी की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए वरुण ने कहा।

सचमुच पाँचों देवों को घेरने के लिए चारों ओर से असुर-टुकड़ियाँ दौड़ी आ रही थीं। असुरों ने घेरे को मजबूत बनाकर तीरन्दाजों को आगे रखा। जब वे निकट आ गये तो इन्द्र ने ऊँचे स्वर में कहा—"इन्द्र का सन्देश वृत्र तक पहुँचाने के लिए जिसे जीवित रहना हो, वह मेरे मार्ग से हट जाये।"

"सन्देश पहुँचाने के लिए हम इन्द्र को ही उठा ले जायेंगे।" कहता हुआ टुकड़ी का नायक अपने सैनिकों के साथ आगे बढ़ा।

"यदि वह उठाया न जा सके?" वरुण ने ऊँची आवाज में पूछा।

"तब उसकी लाश सन्देश ले जायेगी।" टुकड़ी के नायक ने कहा। देवताओं ने उस टुकड़ी को पहाड़ी से नीचे उतरते देखा।

"अभी भी समय है, रुक जाओ, और वृत्र के पास मेरा सन्देश ले जाओ।" इन्द्र ने अन्तिम बार उन्हें सचेत किया।

परन्तु असुरों पर धमकी का कोई असर नहीं हुआ। चारों ओर से घिरे हुए पाँचों देव, जिनका अत्यधिक महत्त्व था, असुरों से बचकर जा नहीं सकते थे। देवपुरी को जीतने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले विजयोन्मत्त असुर वीर इन्द्र की धमकियों से डरनेवाले न थे। उन्होंने एक भयङ्कर अट्टहास किया, और हृदय को हिला देनेवाली चीत्कार के साथ बाण-वर्षा करते हुए वे आगे बढ़े। दूसरी ओर से अन्य टुकड़ियों ने भी आक्रमण कर दिया।

"देवराज! बचने का अब दूसरा मार्ग नहीं है। वज्र का प्रयोग कीजिए।" विश्वकर्मा ने सलाह दी।

यह सुनते ही इन्द्र ने वज्र उठाया। उसके उठाये जाते ही उसमें से विद्युत् जैसा प्रकाश निकला, जिसने असुर-टुकड़ियों को चौंधिया दिया। असुर-सैनिक कुछ क्षण के लिए रुक गये। इन्द्र की इच्छा अभी वज्र-प्रहार करने की न थी। परन्तु जब असुरों ने चारों ओर से प्रबल आक्रमण किया और स्थिति गम्भीर

हो गयी तब इन्द्र ने असुरों की मुख्य टुकड़ी पर वज्र का प्रहार कर दिया।

सारा हिमगिरि प्रकाश से चमक उठा, और उस प्रकाश के साथ-ही-साथ ऐसा भयंकर धड़ाका हुआ, मानो सौ बिजलियाँ एक साथ कड़क कर गिरी हों! पर्वतों में इस धड़ाके की हजार-हजार प्रतिध्वनियाँ हुईं, जिसे अमरापुरी के निवासियों और घेरा डालनेवाली असुर-सेना ने भी सुना। योजनों तक यह भयंकर नाद सुनायी दिया। लोग उसको सुनकर स्तब्ध रह गये। जिस पहाड़ी पर वज्र गिरा था, उसके ऊपर का हिम, पत्थर, मिट्टी और अन्य वस्तुएँ आकाश में उड़ती हुई नजर आयीं और साथ ही असुरों की टुकड़ी भी बे-पता हो गयी। पलक झपकाते यह प्रलय ताण्डव समाप्त हो गया, और विद्युत् के रंगरूप का वज्र घूमता हुआ पुनः इन्द्र के पास लौट आया। वज्र ने जो विनाशलीला की, उसका असर अभी खत्म नहीं हो पाया था। पत्थर के टुकड़े चारों ओर उड़ रहे थे। जिस पहाड़ी से असुर-सेना की टुकड़ी नीचे उतर रही थी, वह असुरों के साथ अदृश्य हो गयी थी और देवों को आगे बढ़ने के लिए सीधा-सपाट मार्ग मिल गया था।

आसपास की पहाड़ियों पर भी वज्र का असर हुआ। समस्त पार्वत्य प्रदेश कम्पित हो उठा। असुर-सैनिक वज्र के प्रकाश और धड़ाके से भयभीत होकर स्तंभित-से हो गये। पर्वत की चोटी का विनाश उन्होंने अपनी आँखों से देखा। बज्र को अपनी विनाशलीला पूरी करके पुनः इन्द्र के हाथ में जाते देख उन बेचारों के होश उड़ गये और कइयों के हाथ में से शस्त्र भी नीचे गिर गये।

"इन्द्र का सन्देश भले ही न ले जाओ, परन्तु इन्द्र की संहारक शक्ति का सन्देश ले जाने के लिए यदि जीवित रहना चाहते हो तो भागो; नहीं तो मैं पुनः प्रहार करता हूँ।" इन्द्र ने बचे हुए असुर-सैनिकों को उद्देश्य कर उच्च स्वर में कहा।

असुरों ने एक दूसरे के सामने देखा, अपने नायकों की ओर दृष्टि दौड़ायी, और तब सहसा सब भाग खड़े हुए।

इन्द्र चाहता तो भागनेवाले सैनिकों को वज्र से मार सकता था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। देवों को इन्द्र का यह कार्य अच्छा न लगा। युद्ध-

भूमि से भागनेवाले, पीठ दिखानेवाले और निःशस्त्र शत्रु पर वार न करने की देवों और आर्यों की सामरिक नीति थी। देवों और आर्यों में श्रेष्ठतम इन्द्र-देव स्वयं इस परम्परा का पालन करता और दूसरों से करवाता था।

देवों को भी वज्र की संहारक शक्ति पर आश्चर्य हुआ। स्वयं इन्द्र भी चकित रह गया। इस वज्र के द्वारा सारी सृष्टि का संहार हो सकता था। विनाश की उसमें अबाध शक्ति थी। परन्तु सृष्टि के संहार के बाद इन्द्र राज्य किस पर करेगा? कौन उसकी पूजा करेगा? किसके साथ वह युद्ध करेगा? शस्त्रों का उपयोग संहार के लिए हो, अथवा रक्षा के लिए? अश्विनीकुमार कभी-कभी देवों, यक्षों या गन्धर्वों पर शल्य-क्रिया करते थे; परन्तु यह क्रिया उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए की जाति थी, मारने के लिए नहीं। दूसरे प्रकार की चिकित्सा जहाँ काम न आ सके वहाँ शल्य का उपयोग होना चाहिए। अपने जीवन को बचाने के लिए जब वध के अतिरिक्त कोई मार्ग न रह जाये तभी किसी का वध करना चाहिए। असुरों को—भागनेवाले असुर-सैनिकों को अब मारने की कोई आवश्यकता न थी।

हिमालय का वह भाग पुनः खाली हो गया। सामनेवाली पहाड़ी वज्र से उड़ गयी थी, अतः बीच का मैदान विस्तीर्ण हो गया था। देवताओं ने इस मैदान को शीघ्रता से पार किया। मैदान जहाँ पूरा होता था, वहाँ एक चोटी थी। इन्द्र ने इस चोटी का स्पर्श किया। उसे छूते ही एक शिला अपने स्थान से हट गयी, और एक गुप्त मार्ग दीख पड़ा।

"हम लोग इसी मार्ग से अमरापुरी चलें।" इन्द्र ने कहा।

"मुख्य मार्ग से जाने में अब क्या हानि है?" अश्विन ने पूछा।

"देर लगेगी, और अमरापुरी को घेरकर खड़ी हुई असुर-सेना हमको रोकेगी।" इन्द्र ने कहा।

"रोक कर क्या कर लेगी? वज्र जैसा शस्त्र तो हमारे पास है ही।" वरुण ने कहा।

"वज्र का हर घड़ी उपयोग करना उचित नहीं। उसका निर्माण तो वृत्र के लिए हुआ है। घिरे हुए देवों की परिस्थिति पहले जान लेना चाहिए।"

इन्द्र ने कहा; और उस गुप्त मार्ग से देव अमरापुरी में जाने के लिए तैयार हुए।

"इस पहाड़ी तक असुर-सैनिक न आये होते, तो उनके प्राण बच जाते।" गुप्त मार्ग के द्वार में प्रवेश करते हुए इन्द्र ने कहा।

"उनका यहाँ तक आना अच्छा ही हुआ। वज्र की शक्ति का पता चल गया।" वरुण ने कहा।

"असुर-छावनी में भी इसकी जबर्दस्त प्रतिक्रिया होगी।" अश्विन ने कहा।

"इन्द्रदेव के आगमन से अब देवों में नये जीवन का संचार होगा।" विश्वकर्मा बोल उठे।

वज्र-प्रहार से भयभीत होकर भागे हुए असुर-सैनिक वृत्र की छावनी में पहुँचे। वे भय के मारे काँप रहे थे। ये सैनिक अनुभवी और युद्ध-कला में निपुण थे। सामान्यतः युद्ध-भूमि के आसपास निरीक्षण का काम करनेवाली टुकड़ियों की दक्षता उच्च प्रकार की होती थी। इस टुकड़ी के सैनिकों को भयभीत और काँपते हुए देखकर असुर-छावनी का व्यवस्थापक उन्हें सीधा वृत्र के पास ले गया। वहाँ वृत्र के साथ शची भी उपस्थित थी। सैनिकों को इस प्रकार भयग्रस्त देखकर दोनों को परम आश्चर्य हुआ।

"क्या हुआ? इस प्रकार क्यों काँप रहे हो?" वृत्र ने पूछा।

"इन्द्र समीप ही है।"

"उसे पकड़कर क्यों न ले आये?"

"पकड़ न सके...."

"कहते हुए लाज नहीं आती? हाथ में आये हुए शत्रु के नेता को पकड़ न सके?" वृत्र ने कहा।

"इन्द्र के पास अद्भुत शस्त्र है! निमिष-मात्र में उसने हमारी सारी टुकड़ी को उड़ा दिया।"

"तुम लोग भी क्यों न अदृश्य हो गये? क्या मुँह लेकर यह कहने आये हो?"

"असुर-श्रेष्ठ! इन्द्र अथवा किसी भी देव से हमको भय नहीं, परन्तु इन्द्र

के पास जो नया विद्युत् शस्त्र है...."

"चुप रहो। काँपते क्यों हो, कायर! मुझे भी डराना चाहते हो? इन भागकर आये हुए सैनिकों के शस्त्र रखवा लिये जायें, और अपमानित करके राजधानी में वापस भेज दिया जाये।" वृत्र ने आज्ञा दी।

इधर कुछ समय से शची वृत्र के सामने कुछ बोलती ही न थी। वृत्र की आज्ञा अन्तिम मानी जाती थी। शची की इच्छा हुई कि भागकर आनेवाली टुकड़ी के नेता से इन्द्र और इन्द्र के शस्त्र के विषय में अधिक समाचार प्राप्त करे। परन्तु इस कार्य से वृत्र पुनः शंकाशील बनेगा, यह सोचकर वह चुप रही। अपमानित किये जाने की बात सुनकर टुकड़ी के नेता ने अपनी कमर में रखी हुई कटार निकाली और देखते-ही-देखते अपने कलेजे में मार ली। भूमि पर गिरते-गिरते उसने कहा—"हम लोगों में से कोई भी मृत्यु से नहीं डरता यह इस बात की साक्षी है। हम लोग भागकर यहाँ आये हैं केवल दो बातें कहने...."

उस असुर वीर के शरीर से रुधिर बह रहा था। आत्माभिमान का यह दृश्य देखकर वृत्र किंचित् लज्जित हुआ। वृत्र ने आसपास खड़े हुए सैनिकों से उस घायल सैनिक की शुश्रूषा करने का आदेश देकर पूछा—"वे दो बातें क्या हैं?"

"एक तो यह कि इन्द्र इसी जगह है, कहीं आसपास..." घायल सैनिक ने कहा।

"मैं तो चाहता ही हूँ कि वह सामने आये।"

"वह बिलकुल पास आ गया है। कदाचित् अमरापुरी में पहुँच भी गया हो। उसके पास एक ऐसा शस्त्र है, जिससे वह पर्वतों को तोड़ सकता है, और समस्त सेना का एक ही बार में संहार कर सकता है। इन्द्र और इन्द्र के इस शस्त्र से अपनी रक्षा करें, मरते-मरते मेरी यही विनती है।"

"तुमको मरने नहीं देंगे।" शची ने कहा। संज्ञा खो देने की परिस्थिति में पहुँचनेवाले उस सैनिक को तुरन्त दवा तथा शुश्रूषा के लिए अन्यत्र भेज दिया गया। अन्य सैनिकों को क्षमा-प्रदान कर दी गयी।

एकान्त होने पर वृत्र ने शची से कहा—"इन्द्र अन्त में सामने आया ही!"

"परन्तु हाथ में नहीं आया।"

"अब आयेगा।"

"कहाँ से?"

"आसपास के पर्वत या झाड़ियों में से।"

"मेरा मन कहता है कि वह अमरापुरी के अन्दर पहुँच गया।"

"कैसे कहती हो, शची? घेरा डालनेवाली हमारी सेना का भेदन किये बिना वह अन्दर जा नहीं सकता।"

"मुझे विश्वास है कि नगरों के अन्दर जाने का कोई गुप्त मार्ग देवों ने अवश्य रखा होगा। मुझे दो-तीन बार ऐसे मार्ग देखने का अवसर मिला है।"

"हो सकता है। तब कल का युद्ध अधिक भयंकर होगा। इन्द्र सामने आया, तब तो काम बन ही जायेगा।"

"वृत्र तुमको भी इन्द्र का मोह है?"

"इन्द्र का नहीं, इन्द्र से युद्ध करने का!"

"वह नायक इन्द्र के शस्त्र के बारे में क्या कह रहा था? मेरी कुछ समझ में नहीं आया।"

"इन्द्र है देवों का अधिपति। पुलोमा जैसे महापराक्रमी को उसके शस्त्र ने बींध डाला। भागकर आनेवाला नायक भले ही अनुभवी हो, परन्तु देवराज से युद्ध करना उसका काम नहीं, वह डर गया होगा।"

उसी समय अमरापुरी में डंके बजने लगे, नगर-निवासियों ने हर्ष-नाद किया, और मन्दिर घंटा-रव से गूँज उठे। असुर-सेना ने इस ध्वनि को सुना। दो दिनों से देव-सेना अमरापुरी का द्वार बन्द करके असुरों के अन्तिम आक्रमण को रोक रही थी। देवता भयंकर युद्ध करते हुए पीछे हटते गये, और असुर वृत्र के नेतृत्व में आगे बढ़ते गये। असुर-सेना देवताओं को हराती हुई बढ़ती-बढ़ती देवनगरी के द्वार तक पहुँच गयी थी। देवों ने अपनी नगरी के द्वार बन्द कर लिये, और उसकी रक्षा में संलग्न हो गये। असुरों के प्रहार से इस नगरी की रक्षा कितने दिनों तक हो सकेगी, यह कहना कठिन था। नगरी के

द्वार और प्राचीरों पर असुर-सेना भयंकर हमले करती रही। देवों के अगुआ निराश हो गये थे। अन्त में नगरी की रक्षा का भार तपस्वी सप्तर्षियों ने अपने हाथ में लिया। दुर्ग के अन्दर और प्राचीरों पर खड़े रहकर इन तपस्वियों ने देवताओं के हृदय में नयी चेतना प्रकट की और कुछ समय के लिए असुरों के आक्रमण के वेग को धीमा कर दिया। सप्तर्षि जैसे तपस्वियों को शस्त्र धारण करना पड़ा, इस बात से वृत्र को प्रतीत हो गया कि अमरापुरी के पतन में अब देर नहीं है। दो-चार दिनों में नगरी आत्म-समर्पण कर देगी। नगरी के द्वार तक तेजी से आनेवाली असुर-सेना को वृत्र ने थोड़ी विश्रान्ति लेने की आज्ञा दी। सेना ने घेरा डालकर विश्राम करना शुरू किया। वृत्र को विश्वास हो गया कि वह किसी भी क्षण अमरापुरी का द्वार तोड़कर अन्दर प्रवेश कर सकता है। इन्द्र का पता न था। असुरों पर सिन्धु के जल-प्रवाह को मोड़ने के बाद इन्द्र गायब हो गया था। भागा हुआ इन्द्र अब पुनः युद्ध-क्षेत्र में आये, यह सम्भव न था। उसके अदृश्य हो जाने से एक बहुमूल्य प्रसंग हाथ से निकल गया था; वह था शची के सामने इन्द्र से द्वन्द्व-युद्ध करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का सुन्दर अवसर! अमरापुरी का दुर्ग जल्दी-से-जल्दी कैसे हाथ में आये इस बात की योजना में लगे हुए वृत्र को उसी के सैनिकों ने बताया कि इन्द्र पास ही किसी स्थान में है। इन्द्र के शस्त्र की बात सुनकर उसे हँसी आयी। इतने ही में देवनगरी से दुंदुभि बजने की आवाज सुनायी दी, मानो कोई मंगल प्रसंग उपस्थित हुआ हो!

"तुम्हारी धारणा सच मालूम पड़ती है, शची।" वृत्र ने कहा।

"कौन-सी धारणा?"

"इन्द्र के अमरापुरी में प्रवेश करने की! यदि ऐसा न होता, तो हारनेवाले देवता इस प्रकार आनन्द न मनाते।"

"इन्द्र के आने-मात्र से क्या देव इतने उत्साहित हो गये?"

"उत्साहित होने का कारण भी है। पराजय के क्षण में उनका राजा आकर खड़ा हो जाये, तो उत्साह का बढ़ना स्वाभाविक ही है।" वृत्र ने कहा।

"रण मे भागनेवाला राजा पराजय के समय क्यों आया?" शची ने पूछा।

"या तो विष्टि के लिए, अथवा युद्ध को भयंकर बनाने के लिए।"

"विष्टि करना चाहते हो वृत्र ?"

"तुम्हारी क्या इच्छा है ?" आँख को थोड़ा संकुचित करके वृत्र ने पूछा।

"मैंने तो पहले ही कह दिया है कि जो तुम्हारी इच्छा वही मेरी इच्छा।"

"तुम क्या सलाह देती हो ?"

"सुनो, वृत्र ! युद्ध तब तक नहीं रुक सकता, जब तक मैं इन्द्रासन पर पैर न रख लूँ। तुम रोकने का प्रयत्न करो, तब भी रुकूँगी नहीं। मुझे शान्ति नहीं चाहिए, मैं विजय चाहती हूँ।"

"इतनी दूर आकर, सारी देव-भूमि पर विजय-वैजयन्ती फहराने के बाद विष्टि करना स्वीकार नहीं है।"

वृत्र अमरापुरी को देख रहा था। ज्योंही उसका कथन पूरा हुआ, किसी बात ने उसको आश्चर्य में डाल दिया। वृत्र के नेत्र स्थिर हो गये। वृत्र का यह व्यवहार देखकर शची को भी विस्मय हुआ। इतने में वृत्र यकायक बोल उठा —"देखो-देखो, शची ! अमरापुरी के दुर्ग पर सन्धि की ध्वजा उड़ रही है !"

"सन्धि की ध्वजा ? आश्चर्य है ! क्या इन्द्र लौटकर सुलह करना चाहता है ? हम लोगों ने तो सोचा था कि उसके लौटने पर युद्ध अधिक तेज होगा।" शची ने कहा। उसके मुख पर तिरस्कार का भाव दीख पड़ा। वृत्र को यह देखकर आनन्द हुआ कि शची का तिरस्कार इन्द्र के प्रति था।

"क्या उत्तर दिया जाये ?" वृत्र ने पूछा।

"तुम जानो ! यदि थक गये हो, तो सुलह कर लो—किसी भी शर्त पर!" शची ने कहा। वृत्र समझ गया कि इन्द्र की भीरुता के प्रति शची का तिरस्कार बढ़ रहा था। वृत्र के प्रति अभी शची के मन में तिरस्कार जागा न था।

"सन्धि की शर्त को जानने में आपत्ति क्या है ?" वृत्र ने कहा। शची ने कोई उत्तर न दिया। इन्द्र की हीनता को प्रसिद्धि देने के लिए वृत्र ने विष्टि की वार्ता करना स्वीकार कर लिया, और असुर-छावनी के ऊपर भी सुलह का ध्वज उड़ने लगा। वृत्र ने देवों के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाया।

देवों के प्रतिनिधियों के रूप में पूज्य सप्तर्षि विष्टि-ध्वज फहराते हुए असुर-छावनी में आये। इन्हीं सप्तर्षियों ने इन्द्र की अनुपस्थिति में अमरापुरी के दुर्ग की रक्षा की थी। देवों की ओर से युद्ध-विराम का प्रस्ताव आना असुर-वर्ग के लिए गर्व की बात थी। वृत्र ने यद्यपि सप्तर्षियों का पूरा सम्मान किया, पर उसके मुख पर गर्व की झलक स्पष्ट दीख पड़ती थी। इस गौरवपूर्ण प्रसंग पर शची न जाने क्यों अप्रसन्न थी। अपने ही हाथ से इन्द्र अपने स्वाभिमान को क्यों खो रहा था? इससे तो अच्छा होता कि विष्टि-याचना न करके वह अदृश्य ही रहता, अथवा रणभूमि में वीरगति को प्राप्त करता। ऐसी परि-स्थिति में उसने शची का सम्मान और स्नेह अधिक मात्रा में प्राप्त किया होता! इन्द्र के शौर्य का पतन तो नहीं हो रहा था? और इन्द्र के शौर्य-पतन में शची को अपने शौर्य-पतन का आभास क्यों हो रहा था?

परन्तु सप्तर्षियों की स्पष्ट बातों से शची के मन का भाव बदल गया। इन्द्र का सन्देश केवल इतना ही था—"युद्ध का आरम्भ असुर-पक्ष ने किया था, आर्यों की गायें वे ही हाँक ले गये थे। देव और दानव जी-भर के लड़ चुके। यह युद्ध अकारण शुरू किया गया—इस बात की ओर इन्द्र ने असुरों का ध्यान बार-बार आकर्षित किया। इन्द्र एक बार पुनः आग्रह करता है कि अब युद्ध को यहीं समाप्त कर दिया जाये। देव, आर्य और असुर अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर रहकर राज्य करें। तीनों प्रजा मित्र बनकर रहे। व्याव-सायिक एवं सांस्कृतिक लेने-देन में सुविधाएँ प्रदान करने के प्रश्न पर विचार-विनिमय हो। एक दूसरे की राज्य-व्यवस्था अथवा जीवन-प्रणाली में कोई हस्त-क्षेप न करे, और जहाँ-जहाँ आवश्यकता हो कला, संस्कार और उद्योगों के पारस्परिक विकास के लिए उचित कार्यवाही की जाये।"

"यह सलाह बहुत ही सुन्दर है। परन्तु क्या आपको विश्वास है कि देव-नगरी तक पहुँचे हुए असुर विजित देव-प्रदेश का त्याग करना स्वीकार करेंगे?" वृत्र ने कहा।

"युद्ध द्वारा किये गये विनाश का यदि आपको खयाल हो और उसे आप देख सकते हों, तो असुरों को आप समझाएँ, और इन्द्रदेव के प्रस्ताव को स्वी-

कार करें। आप उनके नेता हैं।" एक ऋषि ने कहा।

"यदि असुर न मानें?"

"तो भयंकर परिणाम के लिए आप तैयार रहें।"

"भयंकर परिणाम किसके लिए—हमारे अथवा देवों के लिए?" वृत्र ने सस्मित पूछा।

"देवाधिदेव इन्द्र अमरापुरी में आ गये हैं, देवनगरी के द्वार बन्द करके देव रक्षात्मक युद्ध कर रहे हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि ये द्वार कभी खुलेंगे ही नहीं!"

"वे द्वार तो हमारे ही हाथ से खुलेंगे। हम उन्हें तोड़ देंगे।"

"असुर-श्रेष्ठ, अधिक दर्प अच्छा नहीं! अभी समय है, विचार कर लें! व्यर्थ में हजारों आदमियों की हत्या न करायें! सम्मान के साथ किया हुआ समझौता हिंसात्मक—विनाशपूर्ण—विजय से कहीं गौरवपूर्ण है।" दूसरे ऋषि ने वृत्र से कहा।

"मुनिवर, मेरी और शची की एक ही प्रतिज्ञा है—इन्द्रासन लेने की। मैं इन्द्रासन लेकर उसे शची को समर्पित कर दूँगा।" वृत्र ने कहा।

"और वृत्र से यह कार्य न हुआ, तो मैं अकेली उसे पूरा करूँगी।" शची ने पूरी प्रतिज्ञा कह सुनायी।

"यह कार्य असम्भव है।" मुनि ने कहा।"

"यह शर्त मान्य हो, तभी समझौता हो सकता है।" वृत्र ने अपनी बात को स्पष्ट किया।

"तुमको इन्द्रासन का एक रहस्य बताऊँ, वृत्र?"

"कौन-सा रहस्य?"

"वह न लेने से ग्राह्य होता है, और न देने से समर्पित।"

"क्यों?"

"इन्द्रासन कोई स्थूल राज्यासन नहीं है। वह विराजता है प्रत्येक आर्य, ऋषि-मुनि और देव के हृदय में। अमरापुरी का विध्वंस करने अथवा वहाँ के स्थूल सिंहासन पर बैठने-मात्र से कोई इन्द्र नहीं हो जाता, न इन्द्रासन को जीत

सकता है।" ऋषि ने अपनी बात समझायी।

"एक बार मुझे इस स्थूल सिंहासन पर बैठ लेने दें। उसके बाद आपके सूक्ष्म और व्यापक इन्द्रासन का विचार भी मैं कर लूँगा।"

"यह नहीं हो सकता।"

"मैं क्यों न प्रयत्न कर देखूँ। बहुत-सी अनहोनी बातें हो जाती हैं।"

"तब देवराज इन्द्र सन्धि का प्रस्ताव वापस लेकर आपको युद्ध की चुनौती देते हैं!" सप्तर्षियों में से एक ने दृढ़ता से कहा। सातों देव-प्रतिनिधि अपने उपवस्त्र झाड़कर खड़े हो गये। ऐसा लगा मानों उनके उपवस्त्रों में से युद्ध की वर्षा हो रही हो! वृत्र भी खड़ा हो गया, और उसने सम्मानपूर्वक ऋषियों को विदा करने का प्रयत्न किया। परन्तु सप्तर्षियों ने वृत्र के शिष्टाचार की ओर जरा भी ध्यान न दिया। विदा होनेवाले ऋषियों का ध्यान खींचते हुए वृत्र ने कहा—"इन्द्र स्वयं युद्ध में उतरेंगे, अथवा प्रतिनिधि द्वारा युद्ध करेंगे?"

एक मुनि ने घूमकर कहा—"आप जिस प्रकार का युद्ध चाहें, उसी प्रकार का युद्ध होगा।"

"वे स्वय ही युद्ध में उतरें, तो अच्छा हो! बहुत समय तक छिपे रहे!" वृत्र ने कहा।

सप्तर्षि देवनगरी लौट गये। वृत्र का दर्पपूर्ण औद्धत्य शची को अच्छा न लगा। इन्द्र को इस प्रकार ललकारने की कोई आवश्यकता न थी।

अमरापुरी के द्वार-रक्षकों ने सप्तर्षियों को अन्दर कर लिया। अभी सूर्यास्त होने में देर थी। वृत्र अमरापुरी के घेरे को अधिक कड़ा करने की योजना में लग गया। उसे इस बात की जरा भी आशा न थी कि सन्धि-वार्ता में असफल सप्तर्षियों के लौटते ही देव असुरों पर अचानक हमला कर देंगे। वह तो इन्द्र-विजय की कल्पना में मस्त हो रहा था। इन्द्र की उपस्थिति दो-एक दिन देवों की हिम्मत कायम रख सके! यकायक वृत्र की विचार-परम्परा टूट गयी। उसने साश्चर्य देखा कि अमरापुरी के बारहों द्वार खोल दिये गये, और उनमें से देवों की सैनिक टुकड़ियाँ आक्रमण के लिए बाहर निकलीं और असुरों की सेना पर टूट पड़ी।

पराजित देव-सेना, दुर्ग में छिपकर बैठी हुई देव-सेना इस प्रकार यकायक अपने नगर के सब द्वार खोल दे, यह एक अनहोनी घटना थी। इस कार्य में कितना भय था ! इन्द्र कोई नयी सेना, अथवा नये साधन, गुप्त मार्ग से लाया हो, इस बात की जरा भी संभावना न थी। और लाया ही हो तो उनका उपयोग बुद्धिमानी से करना चाहिए। यह नहीं कि इस प्रकार जौहर करके टूट पड़े। ऐसे में तो विनाश निश्चित था।

परन्तु इस समय तो पहला काम देवों के प्रवाह को रोकना था। यों तो असुर-सेना सर्वदा तैयार रहती थी। परन्तु इधर देवों के दुर्ग में छिपकर बैठ रहने से उसमें कुछ लापरवाही आ गयी थी। वृत्र को अथवा असुर-सेना में से किसी को भी यह आशा न थी कि देवता इस प्रकार का आत्मघाती आक्रमण करेंगे।

देव-सेना ने भयंकर आक्रमण किया। मरुतों के तूफानी धावे के सामने असुर-सेना टिक न सकी। वह पीछे हटने लगी। वृत्र ने देखा कि मरुतों की टुकड़ी का नेतृत्व स्वयं इन्द्र कर रहा था। इन्द्र वृत्र के खेमे की ओर बढ़ रहा था। वृत्र को किसी का—व्यक्ति अथवा शस्त्र का कोई भय न था। इन्द्र को सामने से आता देखकर वह अपने अंग-रक्षकों के साथ आगे बढ़ा। शची ने भी इन्द्र को देखा। युद्ध के लिए उत्सुक वृत्र को भी उसने देखा। वह स्वयं भी सतर्क हो गयी। अमरापुरी के बारहों दरवाजों के बाहर देव और असुरों के बीच भयंकर युद्ध होने लगा। शस्त्रों की खड़खड़ाहट, वीरों की युद्ध-गर्जना, घायल और मरनेवाले सैनिकों के आर्तनाद, युद्ध करनेवाले और युद्ध का प्रोत्साहन देनेवाले कवियों की काव्य-ललकार, हाथियों की चीत्कार और अश्वों की हिनहिनाहट देवनगरी के द्वार पर नरक का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। जीवन को रौंदनेवाली मृत्यु अपने भयंकर रूप में निःशंक होकर वहाँ घूम रही थी। देव और दानव मानों उसकी दलाली कर रहे थे। मरने-मारने के अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई कार्य ही न था। व्यवस्थित और अव्ययस्थित दोनों ही रीतियों से मृत्यु के साधन इकट्ठे हो गये थे और संहार की तांडव-लीला हो रही थी।

इतने में समाचार मिला कि असुर-सेना के पृष्ठ-भाग पर नहुष की आर्य-सेना प्रबल आक्रमण कर रही है। अभी तक युद्ध की जो खबरें आयी थीं उनसे मालूम हुआ था कि देवों को सहायता पहुँचाने के लिए नहुष ने जो आर्य-सेना तैयार की थी, वह अभी बहुत दूर है। वृत्र, शची और असुर-सेना के अन्य युद्ध-विशारदों की यह योजना थी कि नहुष की सेना के आने के पहले ही देवनगरी का पतन हो जाना चाहिए, और युद्ध की गति भी यही बतलाती थी। इतने में यकायक खबर मिली कि देवों के विरुद्ध युद्ध में संलग्न असुरों के पृष्ठ-भाग पर जाने कहाँ से आकर नहुष की आर्य-सेना भयंकर प्रहार कर रही है। इन्द्र के सामने वृत्र जूझ रहा था। अपनी टुकड़ी की रक्षा के लिए थोड़ा पीछे हटकर उसने दो पहाड़ियों का आश्रय लिया। शची उसके साथ ही थी। पहाड़ियों की ओर बढ़ रहे इन्द्र को वृत्र ने आगे आने दिया।

"शची! हमारी एक गणना गलत हो गयी।"

"कौन-सी?"

"यही नहुष के आक्रमण की! हमारी पिछली पाँति टूट रही है।"

"इससे क्या हानि होगी? तुम तो अवध्य हो!"

"मैं अवध्य हूँ, यह सत्य है; परन्तु तुम और सब सैनिक तो अवध्य नहीं हो।"

"तुम क्या करना चाहते हो? देखो, इन्द्र निकट आ गया है। जल्दी से कहो।"

"मैं इन्द्र की खबर लेता हूँ, तुम नहुष को रोको—पीछे जाकर!"

"यदि कुछ पीछे हटना पड़े?"

"क्यों? किस लिए? आधी सेना का मोरचा बदल डालो। तुम्हारे साथ की सेना नहुष का सामना करे, और मेरे साथ की इन्द्र से लड़े।"

"मैं पहले ही प्रहार में आर्यों की पाँति को तोड़कर उसमें दरार डाल दूँगी। और उस दरार में से होती हुई आर्य-सेना के पिछाये में पहुँच जाऊँगी।"

"तुम्हारी योजना का रहस्य मेरी समझ में नहीं आया।"

"देवताओं को सहायता देना छोड़कर नहुष मेरे पीछे दौड़ेगा। और मैं उसकी सेना को अपने पीछे आने दूँगी, कुछ समझ में आया?" स्मित करते

हुए शची ने समझाया।

वृत्र शची की मुस्कराहट को देखकर समझ गया। नहुष की सैन्य-शक्ति कितनी ही बलशाली क्यों न हो, शची की एक मोहक मुस्कराहट उसको व्यर्थ कर देने के लिए पर्याप्त थी, यह बात वृत्र की समझ में आ गयी!

"आगे जो करना हो सो तुम जानो। मैं तो इन्द्र से युद्ध करने जा रहा हूँ। देखूँ मैं क्या कर सकता हूँ।" वृत्र ने कहा। एक समय मृत या जीवित इन्द्र को पकड़कर शची के चरणों पर रखने की प्रतिज्ञा वृत्र ने की थी। आज भी वही प्रतिज्ञा उसके हृदय को प्रोत्साहित कर रही थी। परन्तु एक बार निष्फल हो चुका था इसलिए इस बार अपने निश्चय को प्रकट करने की उसकी हिम्मत न हुई।

देखते-ही-देखते दोनों असुर-नेता पृथक् हो गये। वृत्र इन्द्र के प्रबल बढ़ाव को रोकने में लग गया, और शची अपनी सेना के पिछले मोरचे को घुमाकर नहुष पर टूट पड़ी। नहुष की सेना का बढ़ाव रुक गया। नहुष को भी मालूम हो गया कि उसकी सेना को रोकनेवाले असुरों की वाहिनी का नेतृत्व शची कर रही है। कुछ समय तक देवासुर-युद्ध से दूर रहकर इन्द्र ने कई महत्व के काम किये थे। उसने दधीचि की अस्थियों का शस्त्र प्राप्त किया; मार्ग में जहाँ-जहाँ आर्य-बस्तियाँ मिलीं, वहाँ रुककर आर्य-सैनिकों की सुव्यस्थित टुकड़ियाँ बनायीं और आर्यावर्त की रक्षा के लिए उचित आदेश देकर उनको वहीं छोड़ दिया; और आर्यों की दूसरी सेना भी तैयार की जो इन्द्र की आज्ञा मिलते ही असुरों के पृष्ठ-भाग पर आक्रमण करने के लिए प्रस्तुत थी। इन्द्र ने स्वर्ग पहुँचने के सब प्रत्यक्ष और गुप्त मार्ग नहुष को बता दिये थे। मित्रता के नाते उसने यह भी बता दिया था कि अनुलंघनीय पर्वत और घाटियाँ गुप्त मार्ग द्वारा सरलता से कैसे पार की जा सकती हैं। दोनों ने मिलकर यह योजना बनायी थी कि जब इन्द्र अमरापुरी पहुँच जाये, तब नहुष यकायक स्वर्गपुरी का घेरा डालकर पड़ी हुई असुर-सेना पर टूट पड़े और उसका विनाश कर दे। यह योजना थोड़े अंश में सफल भी हुई। यद्यपि तात्कालिक विजय असम्भव थी, तथापि इस योजना के कार्यान्वित होने से असुर-सेना में

चिन्ता और अव्यवस्था अवश्य उत्पन्न हुई, और उनका घेरा कुछ कमजोर होने से देव-सेना का आवागमन सरल हो गया।

असुर-सेना को कुछ पीछे हटना पड़ा। असुर-छावनी भी दूर हटकर स्थापित की गयी। परन्तु अन्त में वृत्र ने इन्द्र के बढ़ाव को रोक दिया। देव-सेना का बढाव अवश्य रुक गया, परन्तु इन्द्र को रणभूमि से भगाने, पकड़ने, अथवा मारने के सभी प्रयास निष्फल हुए। वृत्र को इन्द्र का भय न था। मृत्युञ्जय वृत्र पूर्ण निर्भय था। इतना होने पर भी वह इन्द्र को हरा न सका। इन्द्र की दक्षता से वह परिचित था। परन्तु इधर युद्ध में उसको न देखकर, और देवपुरी तक दुश्मनों को बढ़ने देने की नीति से इन्द्र के नेतृत्व के प्रति वृत्र को अनास्था ही नहीं अनादर भी उत्पन्न हो गया था। उसे विश्वास हो गया था कि इन्द्र शीघ्र ही उसके हाथ पकड़ा जायेगा और स्वर्ग का सिंहासन भी उसको प्राप्त हो जायेगा। परन्तु इस बार के युद्ध ने इन्द्र के सम्बन्ध में वृत्र की भावना को बहुत-कुछ बदल दिया। इन्द्र अवध्य नहीं था, तथापि वृत्र के प्रहार उसका कुछ न कर सके। वृत्र भयंकर और अचूक निशाना लगा-लगाकर प्रहार करता; परन्तु इन प्रहारों को वरुण, मरुत्, अग्नि, सूर्य और चन्द्रवर्ग के देव-योद्धा अपने ऊपर ले लेते और इन्द्र की रक्षा करते! इन देवताओं को घायल करता हुआ वृत्र इन्द्र के सामने जा पहुँचा और उन दोनों महावीरों में होने लगा महायुद्ध! वह युद्ध इतना भयंकर और दक्षतापूर्ण था कि दोनों पक्ष—देव और असुर अपना कर्त्तव्य भूलकर, स्तब्ध होकर खड़े हो गये, और दोनों योद्धाओं की शक्ति और रणकुशलता को आँखें फाड़े देखने लगे।

स्तब्ध खड़ी हुई दोनों सेनाओं के बीच वृत्र और इन्द्र का युद्ध हो रहा था। न जाने कहाँ से आकर शची पास ही में खड़ी हो गयी थी। रणभूमि मृत अथवा घायल सैनिकों से पटी पड़ी थी। जो जीवित थे वे मन्त्र-मुग्धवत् इन्द्र और वृत्र का युद्ध देख रहे थे। सब को विदित था कि वृत्र के शरीर पर किसी भी शस्त्र का आघात नहीं होता। इन्द्र को यह सुविधा प्राप्त न थी। कभी-कभी वृत्र ऐसे प्रबल प्रहार करता कि इन्द्र के धराशायी होने का भय खड़ा

हो जाता। परन्तु इन्द्र चपलता से इन प्रहारों का निवारण कर वृत्र के प्राण संकट में डाल देता था। यद्यपि इसका कोई विशेष असर वृत्र पर नहीं होता था। शस्त्रों को परे ढकेलता, अट्टहास और गर्जना करता वृत्र पुनः इन्द्र पर आक्रमण करता। इस प्रकार यह महायुद्ध चल रहा था। इतने ही में धमधम करता हुआ शची का रथ आकर मैदान में खड़ा हो गया। वृत्र और इन्द्र दोनों की दृष्टि उस पर गयी, और उनके हाथ रुक गये।

शची समझ गयी। वृत्र और इन्द्र दोनों की आँखें उसने पहचानीं। वृत्र की आँखें एक प्रश्न पूछ रही थीं—नहुष की सेना का क्या हुआ?

"वृत्र! युद्ध बन्द करो। सन्ध्याकाल हो रहा है। आर्यों को सन्ध्या के समय युद्ध अनुकूल नहीं होता।" यकायक शची के शब्द सुनायी दिये।

"नहुष की सेना का क्या हुआ?" वृत्र ने पूछा।

"आज की रात्रि के लिए युद्ध-विराम! तुम भी वैसा ही करो।" वृत्र की ओर घूमकर शची ने कहा।

"इन्द्र को विरोध हो तो?" वृत्र ने पूछा।

"मुझे कोई विरोध नहीं; परन्तु रात्रि में यदि युद्ध हुआ तो हम अपनी रक्षा अवश्य करेंगे!" शची और वृत्र की बातचीत सुनकर इन्द्र ने कहा। इन्द्र की देह पर शस्त्रों के आघात नजर आते थे। एक व्रण से तो रुधिर बह रहा था, और उसके ऊपर का वस्त्र लाल हो गया था। शची दूर से खड़ी-खड़ी इस व्रण को देख रही थी। धवल देह पर रुधिर का लाल रंग कैसा सुन्दर मालूम होता था! उधर वृत्र की देह पर शस्त्राघात के कोई चिन्ह नहीं थे।

यकायक इन्द्र ने अपना शस्त्र म्यान में रखा।

उसी समय वृत्र के मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि इन्द्र के साथ द्वन्द्व-युद्ध करके सारी समस्या का हल एक ही बार क्यों न कर लिया जाये।

देव-सैनिकों के साथ-साथ असुर-सैनिकों का भी संहार होता था। कुछ मारे जाते थे, कुछ घायल होकर वेदना का अनुभव करते थे। प्रचुर मात्रा में युद्ध-सामग्री का विनाश होता था। वृत्र और इन्द्र द्वन्द्व-युद्ध करके युद्ध का निपटारा कर लें तो हजारों सैनिकों के प्राण बच जायें, सामग्री का विनाश रुके, और

हिंसा-भरी असाधारण परिस्थिति का भी शीघ्र ही अन्त हो जाये ।

वृत्र को कोई भी शस्त्र मार न सकता था, वह प्रायः अजेय था । तब डर किस बात का ? सेनाओं के युद्ध में तो सामुदायिक दक्षता और शौर्य की परख होती है, व्यक्तिगत शौर्य की नहीं । व्यक्तिगत वीरता की परख तो द्वन्द्व-युद्ध में ही हो सकती है ।

इन्द्र भले ही शस्त्रास्त्र में प्रवीण हो, परन्तु उससे वृत्र को क्या डर ? शस्त्राघात का असर वृत्र पर होगा ही नहीं । इन्द्र कितने समय तक टिक सकेगा ? अन्त में उसे धराशायी होना ही पड़ेगा ।

बस ! तब द्वन्द्व-युद्ध ही कर लिया जाये ।

"देवराज ! शची की इच्छा को स्वीकार कर मैं युद्ध बन्द करता हूँ । तुमने तो शस्त्र पहले ही म्यान में रख दिया ।" वृत्र ने हँसते-हँसते कहा ।

"मैं तो युद्ध करने के लिए सर्वदा तैयार रहता हूँ । हमारी नीति और परम्परा हमको रात्रि में युद्ध करने से रोकती है ।" इन्द्र ने उत्तर दिया ।

"आज की रात के लिए हम भी आर्य बन जाते हैं ।" वृत्र ने कहा ।

"तुम तो आर्य ही हो, भाई ! यदि तुमने मेरा सन्देश स्वीकार किया होता, और मेरी सलाह शची ने मान ली होती, तो आज हम लोग आर्य बनकर साथ बैठे होते ।" इन्द्र ने कहा ।

"तुमने शची को कौन-सी सलाह दी थी, और कब ?"

"तुम तपश्चर्या करके लौटे तब, उस पहाड़ी को तोड़ने से पहले ।"

"सलाह क्या थी ?" आश्चर्य का अनुभव करते हुए वृत्र ने पूछा ।

"यह शची से पूछना । मेरा वह प्रस्ताव अभी भी कायम है ।"

"और सन्धि की माँग ?" वृत्र ने हँसते हुए पूछा ।

"वह भी कायम है । सप्तर्षियों के प्रतिनिधित्व से सन्तोष न हो, तो मैं स्वयं उस माँग को उपस्थित करने आया हूँ, यह कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं ।" इन्द्र ने उत्तर दिया ।

"शची बिना इन्द्रासन लिये लौटेगी नहीं । स्वयं अपने बारे में भी एक प्रस्ताव करता हूँ, बोलो, स्वीकार करोगे ? इस प्रस्ताव को मान लेने से युद्ध

का विनाश और संहार बच जायेगा।"

"उस प्रस्ताव को कह डालो यदि युद्ध का बिनाश रुकता हो।"

"हम दोनों कल प्रातःकाल से द्वन्द्व-युद्ध करें और उसका जो परिणाम हो वही इस युद्ध का परिणाम माना जाये।"

"मुझे मान्य है।" इन्द्र ने तत्काल उत्तर दिया।

उभय-पक्ष की सेना ने युद्ध करना तो पहले ही बन्द कर दिया था। अब वे धीरे-धीरे एक-दूसरे से दूर हटने लगीं। दोनों पक्षों की छावनियों में विजय-वाद्य बजने लगे।

देवों की सेना ने अमरापुरी के दुर्ग के बाहर अपना पड़ाव डाला। असुरों को कुछ पीछे हटना पड़ा था; अतः उनकी छावनी थोड़ी दूर पर थी। असुरों के पृष्ठ-भाग में नहुष की सेना पड़ी हुई थी। इस सेना के एक भाग को चीरती हुई शची आर्यों के पीछे पहुँच गयी थी। नहुष ने उसको पकड़ने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वह उसके हाथ न आयी। इतने में सायंकाल का समय हुआ, और आर्य-प्रथा से अनुसार उसने युद्ध बन्द कर दिया। शची से भी उसने वैसा करने का आग्रह किया, जिसे शची ने स्वीकार कर लिया। युद्ध बन्द करके शची शीघ्र ही इन्द्र और वृत्र का युद्ध देखने के लिए पहुँच गयी। इस युद्ध का परिणाम जानने के लिए वह बड़ी उत्सुक थी।

वहाँ आकर उसने देखा कि अभी तक दोनों के युद्ध का कोई निर्णय नहीं हुआ है, और दोनों महावीरों ने दूसरे दिन प्रातःकाल द्वंन्द्व-युद्ध करने का निर्णय किया है। यह निश्चय उसको पसन्द आया या नहीं, यह उसके मुख के भाव से जाना न जा सका। युद्ध-भूमि से लौटने के पहले वृत्र ने इन्द्र को लल-कारकर पूछा—"तुम्हारे पास सब को भयभीत करनेवाला कोई शस्त्र है या नहीं?"

"यह प्रश्न क्यों? तुमने उसे अभी तक देखा नहीं है!"

"उसे भी द्वन्द्व-युद्ध के लिए ले आना।"

"माँगनेवाले को जो माँगे, वह सब मैं देता—हूँ युद्ध तथा वह शस्त्र भी।" कहता हुआ इन्द्र रथ घुमाकर चला गया।

द्वन्द्व-युद्ध के समाचार ने देवासुर-संग्राम के वातावरण को बदल दिया। असुर जानते थे कि वृत्र अजेय है; देवों को इन्द्र की विजय का विश्वास था। और दोनों योद्धाओं को भी अपनी-अपनी विजय का पूर्ण विश्वास था।

[२३]

असुर-सेना को वृत्र के निर्णय में अत्यधिक उदारता दीख पड़ी। सेना के विनाश को बचाने के लिए—असंख्य असुरों की प्राण-रक्षा के निमित्त—वृत्र स्वयं अपने-आपको संकट में डाल रहा था। सेना वृत्र से प्रसन्न तो थी ही, अब वह उस पर निछावर हो गयी। उसके इस महान् त्याग ने सब का हृदय जीत लिया। प्रत्येक सैनिक के हृदय में यही अभिलाषा जागी कि उनका प्रिय सेनापति स्वर्ग विजय करे और असुर-सम्राज्ञी शची उसको अपना पति बनाये।

परन्तु शची इस समय स्वस्थ न थी। रात-भर उसे नींद नहीं आयी थी। वृत्र भी रात-भर जागता ही रहा था। उसके अवध्य देह पर न तो कोई व्रण था और न थकावट का कोई चिन्ह ही। वह प्रातःकाल के युद्ध के बारे में सोचता रहा। इन्द्र भयंकर युद्ध करेगा, इसका उसे पूरा विश्वास था। उसके बहुत से प्रहारों और पैतरों का इन्द्र प्रत्युत्तर देगा, और वृत्र को हराने की पूरी चेष्टा करेगा। परन्तु कहाँ तक? वृत्र के प्रबल प्रहारों के आगे उसका कुछ भी बस न चलेगा। वृत्र के भयंकर प्रहार अन्त में उसको धराशायी कर देंगे। वृत्र को अपनी अजेयता पर पूर्ण विश्वास था। इन्द्र के भूमिशायी होते ही इन्द्रासन उसके हाथ में आ जायेगा। और इन्द्रासन पर अधिकार होने के बाद शची के हृदय को जीतने में कितनी देर लगेगी? यदि दोनों का विवाह स्वर्ग में ही सम्पादित हो तो क्या कहने! तब तो स्वर्ग की अप्सराओं को, स्वर्ग के गन्धर्वों और स्वर्ग के मुनिगणों को साथ लेकर विवाहोत्सव मनाया जायेगा! और वे भरत-वंशीय नट? उनको इन्द्र-ध्वज के स्थान पर असुर-ध्वज के पूजन के लिए बाध्य किया जायेगा और उनके अभिनय का स्वरूप ही बदल दिया जायेगा!

इन सुनहरे स्वप्नों ने वृत्र की नींद ही उड़ा दी और वह रात-भर जागता रहा।

सवेरा होने के कुछ समय पहले ही वृत्र ने शैय्या का परित्याग किया। मालिश ने उसके शरीर के प्रत्येक अंग में स्फूर्ति भर दी। मालिश के बाद स्नान-पूजन समाप्त कर उसने शस्त्र धारण करना प्रारम्भ किया। देखते-ही-देखते वह द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार हो गया। उसके खेमे के द्वार पर खड़े हुए रथ के अश्व हिनहिना रहे थे। प्रभात की तेज-किरणें स्वर्गभूमि को प्रोज्वलित करें इसके पहले ही वृत्र शची के निवास-स्थान पर पहुँच गया। शची भी शस्त्र धारण करके तम्बू के द्वार पर ही टहल रही थी। वृत्र और शची ने पारस्परिक नमस्कार किया। परन्तु न जाने क्यों शची के नेत्रों में आज वृत्र के लिए पहले जैसा आदर-मान न था।

"इतने शीघ्र तैयार होकर आ गये?" शची ने पूछा।

"युद्ध के उत्साह ने मेरी नींद हर ली। तुम भी तो इतनी शीघ्र बाहर आ गयी?" वृत्र ने कहा।

"क्या करूँ? मुझे भी नींद नहीं आयी।"

"क्यों?"

"तुम्हारा यह द्वन्द्व-युद्ध का साहस मुझे जरा भी पसन्द नहीं आया।"

"क्यों? इससे तो युद्ध का अन्त जल्दी हो जायेगा।"

"अन्त क्या होगा, कुछ सोचा है?"

"सोचना क्या है? वृत्र की ही विजय होगी! और इसमें तुम्हें शंका नहीं होनी चाहिए!"

"विजय में तुम्हें या हमें भले ही शंका न हो परन्तु देव यदि इस विजय को स्वीकार न करें?"

"हम लोग यहाँ आये किस लिए हैं? विजय उनको स्वीकार करना ही पड़ेगी।"

"जिस इन्द्र ने कल तुम्हारे साथ इतना भयंकर युद्ध किया, और आज द्वन्द्व के लिए तैयार हो गया वह परिणाम को सोचे बिना ही इतना बड़ा साहस नहीं करेगा।"

"क्या अभी भी तुमको यह विश्वास है कि अन्त में तुम्हारा इन्द्र ही विजयी होगा ?"

"मेरा इन्द्र ? वृत्र ! मुँह सँभालकर बोलो।" शची की आँखों में क्रोध की वक्रता दीख पड़ी, और क्षण-भर के लिए वृत्र भी कुछ लज्जित-सा हो गया।

"क्षमा करना, शची ! मुझसे तुम्हारे प्रति कोई अन्याय हुआ हो तो।" वृत्र ने कहा।

"तुम मेरे साथ बराबर अन्याय करते आ रहो हो।"

"मैं कभी अन्याय नहीं करता; लेकिन इन्द्र के प्रति तुम्हारा पक्षपात मुझे जरा भी अच्छा नहीं लगता।"

"मैंने कभी इन्द्र का पक्षपात नहीं किया। है तुम्हारे पास एक भी प्रमाण ? मैं तो सृष्टि के नियामक तत्वों पर विचार कर रही थी। जिस प्रकार तुम अदृश्य होकर वरदान ले आये, उसी प्रकार सम्भव है, इन्द्र ने भी कोई वरदान प्राप्त कर लिया हो। सृष्टि के ये गहन तत्व युद्ध में भी सन्तुलन पैदा कर सकते हैं। अवध्य रहने का तुमको वरदान मिला है, इन्द्र भी, कदाचित् वैसा ही वरदान ले आया हो। और यदि ऐसा है तब तो तुम दोनों अवध्य रहकर अनेक कल्पों तक इसी प्रकार युद्ध करते रहोगे।" शची ने कहा।

वृत्र को भी शची की बात का मर्म और महत्त्व समझ में आया। वह उसके बारे में विचार करने लगा। अब तो चाहे जो भी हो, वृत्र का यह कर्तव्य था कि वह युग-युगान्त तक इन्द्र से लड़ता रहे और शची को उसके आकर्षण से मुक्त रखे ! वृत्र को याद आया कि उसने जब भी कभी इन्द्र के विषय की अपनी शंका व्यक्त की, शची ने हर बार उसका साथ दिया। इतना ही नहीं, इन्द्र के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए वृत्र जितने भी अधिकार माँगता, शची उससे कहीं अधिक सत्ता उसे प्रदान करती थी। तब शंका करने का कारण क्या था ? कोई कारण न भी हो, परन्तु शची अपने मुख से इन्द्र का नाम ले यह वृत्र के लिए सह्य नहीं था। इन्द्र दोनों का दुश्मन था। सारा युद्ध उसी के विरुद्ध था ! ऐसी स्थिति में उसका नाम भी न लिया जाये, यह कैसे हो सकता था ? कहीं ऐसा तो नहीं कि इन्द्र को देखने और उससे मिलने के लिए शची ने युद्ध छेड़ा

हो ? शची के व्यवहार से भी कभी-कभी यही प्रतीत होता था। तब शची ने इतनी सत्ता वृत्र को क्यों दे रखी थी ? वृत्र की कुछ समझ में न आया। इतना अवश्य था कि वृत्र को कभी-कभी यह आभास होता कि शची उसकी ओर भी आकर्षित होती थी। इतना सब होते हुए भी जब किसी प्रसंगवश वह शची के मुख से इन्द्र का नाम सुनता तो उसे ईर्ष्या होती, और वह सोचने लगता कि कहीं शची इन्द्र से प्रेम तो नहीं करती ? इस समय भी उसे ऐसे ही विचार आने लगे।

"कदाचित् तुम्हारे विचार सत्य हों, परन्तु अब दूसरा मार्ग ही क्या है ? मैंने ही उसे चुनौती दी और अब मैं ही पीछे कैसे हटूँ ?" सोच-विचार में पड़े हुए वृत्र ने कहा।

"यह तो तुम्हीं जानो। तुम दोनों के द्वन्द्व से युद्ध का फैसला होने की शर्त मुझे मंजूर नहीं।" शची ने कहा।

"इन्द्र को बचाने का प्रयत्न तो नहीं कर रही हो ?" वृत्र की ईर्ष्या इन शब्दों में फूट पड़ी। युद्ध के संचालन में मुँह-माँगे अधिकार देने पर भी शची इन्द्र को बचाने का प्रयत्न कर रही थी, ऐसा आभास वृत्र को हुआ। सुनकर शची क्षुब्ध हो गयी। असुर-जाति के समस्त पुरुष-वर्ग के प्रति उसे तिरस्कार उत्पन्न हुआ। परन्तु असाधारण संयम रखकर उसने धीरे से कहा—यद्यपि उसके नेत्रों से तो क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ ही निकल रही थीं—"देखो वृत्र ! इन्द्र को बचाने की मेरी इच्छा होती, तो आज तुम स्वर्ग-द्वार तक पहुँच नहीं पाते। यों तो मेरे विषय में जो सोचना चाहो, सोच सकते हो, परन्तु इतना याद रखना कि इन्द्र का वध करके अथवा उसे पराजित करके जिस क्षण तुम इन्द्रासन प्राप्त करोगे, उसी क्षण मेरे शत्रु बन जाओगे।"

"क्यों ?"

"मैं स्वयं इन्द्रासन पर अधिकार करना चाहती हूँ।"

"वह तो मैं तुम्हीं को देनेवाला हूँ।"

"दान में दी हुई वस्तु मैं नहीं लेती।"

"अच्छा ! कोई बात नहीं ! हम दोनों में कभी युद्ध हुआ नहीं, वह भी हो जायेगा।" हँसते हुए वृत्र ने कहा। वह जानता था कि इन्द्र के बीच में से

हट जाने पर शची के लिए वही एकमात्र पुरुष होगा और पुरुष तो स्त्री से सर्वदा बलवान रहा ही है।

"मैं भी तुमसे द्वन्द्व-युद्ध करूँगी।"

"पारस्परिक बलाबल को नापने का इससे बढ़िया और कोई ढंग हो नहीं सकता। परन्तु शची, इन्द्र ने तुमसे पूछने के लिए क्या कहा था?" वृत्र ने कहा। अपने बल पर निस्सीम विश्वास रखनेवाले वृत्र को इन्द्र का कथन याद हो आया।

"मुझसे पूछने के लिए इन्द्र ने कहा था? मुझे तो कुछ याद नहीं।"

"उसने तुमको कोई सलाह दी थी?"

"हाँ-हाँ! याद आया। बता दूँ तुम्हें?"

"अवश्य।"

"इन्द्र ने मुझे सलाह दी थी कि मैं तुमसे विवाह कर लूँ।" बड़े ही तिरस्कार-पूर्वक शची ने इन्द्र की सलाह कह सुनायी।

वृत्र चकित होकर बोल उठा—"क्या? कहा तुमने? क्या सच कहती हो?"

"अब उधर देखो! वह इन्द्र का रथ सामने से आ रहा है। युद्ध करने के लिए।"

वास्तव में इन्द्र का रथ बड़े वेग से दौड़ता हुआ चला आ रहा था। वृत्र के कुछ सोचने के पहले ही वह उसके सामने आकर खड़ा हो गया।

इन्द्र ने यही सलाह दी थी कि शची वृत्र के साथ विवाह कर ले। वरदान प्राप्त करके लौटने पर वृत्र ने शची और इन्द्र को एकान्त में खड़े देखकर कितनी-कितनी शंकाएँ मन में की थीं! इन्द्र की सलाह को शची ने क्यों स्वीकार नहीं किया?

शची ने यदि इन्द्र की सलाह मान ली होती तो सुर-असुर-युद्ध इतनी भयंकरता को कभी न पहुँचता! और आज इन्द्र स्वर्ग में तथा वृत्र और शची असुर-प्रदेश में शान्तिपूर्वक अपने-अपने राज्य सँभाल रहे होते!

शची ने इस सलाह को क्यों नहीं माना? बड़ी तपश्चर्या के बाद सिद्धि

प्राप्त करनेवाले वृत्र के लिए क्या उसके हृदय में स्थान नहीं था ? इन्द्र की तपश्चर्या शची को प्रिय थी, इस भ्रम में पड़कर वृत्र ने भी कठिन तप किया और मृत्युञ्जय होने का वरदान प्राप्तकर वह अजेय हो गया था। परन्तु शची ने कभी यह नहीं कहा कि वह वृत्र को चाहती है। उसके नेत्रों में वृत्र ने कभी अपने प्रति अनुराग न देखा। वृत्र के हाथ में युद्ध की सर्वोपरि सत्ता देकर वह केवल अपनी उदारता और विश्वास ही तो व्यक्त नहीं करती रही ? एक नृपति अपने सेनापति के प्रति ऐसे भाव प्रकट कर सकता है। परन्तु वृत्र को अपने स्त्रीत्व का सम्पूर्ण समर्पण करने के लिए वह तैयार न दीख पड़ी।

इन्द्र पराजित हो अथवा मारा जाये, यही इस द्वन्द्व-युद्ध का परिणाम होना चाहिए। इतना होने पर भी यदि शची वृत्र को स्वीकार न करे तो वृत्र का तप, युद्ध-कौशल, पौरुष और सारा जीवन ही निष्फल हो जायेगा ! शची और वृत्र के निष्फल जीवन इस प्रकार के कृत्रिम सहयोग में कब तक चल सकेंगे ? और यदि इन्द्रासन लेकर शची का विचार छोड़ दिया जाये ?

परन्तु शची तो युद्ध की चुनौती देती है ! दान में दिया हुआ इन्द्रासन उसे नहीं चाहिए।

वृत्र को अपना समस्त जीवन निष्फल प्रतीत होने लगा। नियति की यह कैसी विडम्बना थी !

इन्द्र ने शची को। वृत्र के साथ विवाह करने की सलाह दी थी। इस सलाह के पीछे कौन-सी भावना होनी चाहिए—उदारता अथवा दम्भ ?

वृत्र भी शची को इन्द्र से विवाह करने की सलाह क्यों नहीं देता ? लेकिन इन्द्र इस मामले में भी बाजी मार ले गया। और शची के सामने उसने अपनी उदारता का परिचय दिया। शची का प्रेम प्राप्त करने के लिए उसने बड़ी ही चतुराई से काम लिया। तो क्या वह वृत्र से अधिक चतुर था—अथवा वास्तव में ही वह अधिक महान था ? वृत्र की समझ में न आया कि अब वह क्या करे ?

वृत्र के मन में तरह-तरह के विचारों का तुमुल संघर्ष शुरू हुआ। परन्तु अब द्वन्द्व के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। द्वन्द्व की चुनौती दी जा चुकी

थी, वह स्वीकृत भी हो गयी थी, और दोनों ओर से उसकी पूरी तैयारी भी हो चुकी थी। द्वन्द्व-युद्ध के लिए वीरोचित नियम बने हुए थे। चुनौती स्वीकार कर लिए जाने के बाद दोनों वीर लड़ना शुरू करते थे, और जब तक दोनों में से किसी एक की मृत्यु न हो जाती अथवा कोई एक पराजय स्वीकार न कर लेता, बराबर लड़ते रहते थे। कोई तीसरा आदमी या पक्ष किसी की भी सहायता नहीं कर सकता था। सेना भी इस युद्ध में भाग नहीं ले सकती थी। यदि कोई विवाद उपस्थित होता तो दोनों पक्ष के मध्यस्थ अपना निर्णय देते, और उसे उभय-पक्ष को स्वीकार करना पड़ता। युद्ध देखने का अधिकार सब को था, परन्तु हस्तक्षेप करने का किसी को भी नहीं। युद्ध प्रारम्भ होने के पहले कोई अमैत्रीपूर्ण कार्य नहीं होना चाहिए, परन्तु युद्ध छिड़ जाने पर प्रतिद्वन्द्वी को हराने के लिए कुछ भी उठा न रखना चाहिए। युद्ध के अलिखित नियमों का पालन करते हुए जो परिणाम हो उसे अबाधरूप से स्वीकार करना पड़ता था। एक प्रतिद्वन्द्वी की मृत्यु हो जाने के बाद भी परिणाम का पालन अनिवार्य शर्त थी और इस प्रकार का आश्वासन देना पड़ता था। द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती को स्वीकार करना ही पड़ता था, उसे अस्वीकार करनेवाला पराजित समझा जाता था। द्वन्द्व-युद्ध का नैतिक धरातल बहुत ऊँचा माना जाता था और उसके नियमों की पाबन्दी पूरी सख्ती से की जाती थी।

वृत्र भी रथ में जा बैठा। उसके रथ का चालक था मिस्र देश का एक असुर-राजकुमार। इन्द्र के रथ को चलाता था सूर्य का सारथि अरुण। सारथियों को कोई मारता नहीं था, वे अवध्य थे। दोनों के रथ एक-दूसरे के पास आकर रुक गये। दोनों वीर रथ से नीचे उतर आये, उन्होंने परस्पर हाथ मिलाया, एक-दूसरे का आलिंगन किया और इस बात को दुहराया कि इस द्वन्द्व-युद्ध के परिणाम पर ही देवासुर-संग्राम का भविष्य निर्भर करेगा।

तभी दूर से शची के ये शब्द सुनायी दिये—"इस द्वन्द्व से केवल वृत्र और इन्द्र का पारस्परिक युद्ध समाप्त होगा, असुर-साम्राज्य के साथ हो रहा युद्ध पूरा न होगा; वह तो चलता ही रहेगा, जब तक मैं दूसरी आज्ञा न दूँ।"

इन शब्दों को सुनकर देव और असुरों में आश्चर्य व्याप्त हो गया। शची

ने सम्पूर्ण असुर-सेना वृत्र के हवाले कर उसे स्वतन्त्र असुर-नरेश घोषित किया था, यह सब को विदित था। वृत्र को भी आश्चर्य हुआ। शची का कथन उसे अप्रासंगिक लगा। इन्द्र मुझे कभी पराजित नहीं कर सकता, इस विश्वास के साथ द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती देनेवाले वृत्र को शची के इस व्यवहार से आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था।

"आपकी बात मैं समझ नहीं सका, शचीकुमारी !" इन्द्र ने कहा।

"असुरों को जीतने के लिए आपको दो युद्ध करने पड़ेंगे।" शची ने समझाया।

"एक वृत्र के साथ, यह तो मैंने समझा। परन्तु दूसरा युद्ध किसके साथ करना होगा?" इन्द्र ने पूछा।

"दूसरा मेरे साथ।" शची ने उत्तर दिया।

"वह भी स्वीकार है। अब वृत्र के साथ रणांगण में उतरूँ?" इन्द्र ने कहा।

इन्द्र के इस कथन ने वृत्र को भी विचार में डाल दिया। द्वन्द्व-युद्ध केवल एक ही बार हुआ करता था। शची ने पृथक् द्वन्द्व-युद्ध का आग्रह क्यों किया? क्या वह यह सिद्ध करना तो नहीं चाहती थी कि इन्द्र के प्रति उसे प्रेम नहीं है? शची के आसपास रहस्य का वातावरण बनता जा रहा था। क्या वह इन्द्र को सच्चे हृदय से चाहती थी? यदि ऐसा था तो उसने इन्द्र को युद्ध के लिए क्यों ललकारा? शची के मन की बात वृत्र की समझ में न आयी। क्या वह इन्द्र से प्रेम करती है या वृत्र से? कहीं ऐसा तो नहीं कि उसे केवल युद्ध में विजय चाहिए? अथवा अपनी राज्य-तृष्णा के पीछे वह किसी भी पुरुष का प्रेम स्वीकार करना न चाहती हो? पुरुष का प्रेम कदाचित् उसके लिए बन्धन न बन जाये! उसके कठोर स्त्रीत्व में पुरुष के लिए क्या कोई स्थान ही नहीं था?

वृत्र और इन्द्र पुनः अपने-अपने रथ में बैठ गये। वृत्र की चिन्ताओं और विचारों ने अभी तक उसका पीछा न छोड़ा था। युद्ध के विशाल मैदान में देव और असुरों की सेनाएँ विभक्त होकर इस महान् द्वन्द्व-युद्ध को देखने के लिए खड़ी हो गयीं। दोनों सेनाएँ इसके परिणाम के लिए अधीर थीं, यद्यपि दोनों

को अपने-अपने प्रतिनिधि की विजय की पूर्ण आशा थी। रथ के अश्व भी इस प्रकार के युद्ध से परिचित थे। मानो जय-पराजय का आधार उन्हीं पर हो इस तरह ये तेजस्वी अश्व भयंकर हिनहिनाहट करते हुए विद्युत् वेग से एक दूसरे की ओर दौड़े, भिड़े और लड़ते-लड़ते आधे खड़े हो गये। चतुर सारथियों ने उनको पृथक् किया। अब इन्द्र तथा वृत्र के युद्ध की बारी आयी।

"कौन-सा शस्त्र उठाऊँ ?" वृत्र ने ललकारकर पूछा।

"जैसी तुम्हारी इच्छा।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

इसके बाद युद्ध शुरू हुआ। धनुष-बाण, भाला, बरछी, त्रिशूल आदि चलाने का कार्य चपलता से होने लगा। वृत्र के छोड़े हुए बाण ऐसे लगते थे मानो इन्द्र के शरीर का भेदन कर डालेंगे; परन्तु इन्द्र की ढाल और उसकी चपलता बाणों को निरर्थक कर देती थी। इन्द्र पूरी शक्ति से भाले को फेंकता, दर्शकों को ऐसा आभास होता कि वृत्र इस प्रहार से अवश्य आहत होगा, परन्तु वृत्र इस प्रहार को ढाल पर रोककर विफल कर देता। वृत्र का यह खयाल था कि दोपहर होते-होते इन्द्र थक जायेगा। वृत्र के शरीर पर किसी भी शस्त्र का आघात न होता था, परन्तु इन्द्र को यह सुविधा प्राप्त न थी। उसकी देह पर बराबर आघात हो रहे थे और दो-तीन स्थानों में व्रण हो जाने के कारण बराबर रुधिर बह रहा था। दोपहर होने आया परन्तु इन्द्र ने क्लान्ति का जरा भी अनुभव नहीं किया। वह उसी जोश से सतत युद्ध करता रहा। क्षण-भर के लिए वृत्र के मन में यह विचार आया कि कहीं इन्द्र भी अमर होने का वरदान लेकर न आया हो ! भगवान शंकर का क्या भरोसा ? भोलेनाथ ने प्रसन्न होकर उसे भी मनोवांछित वरदान दे दिया हो !

लेकिन वृत्र केवल वरदान के भरोसे ही युद्ध में नहीं उतरा था। शंकर ने वरदान न भी दिया होता, तब भी उसे इन्द्र से युद्ध करना ही पड़ता। अपने जीवन-भर वह इन्द्र की बराबरी करने का प्रयत्न करता रहा था। पिता और गुरु त्वष्टा ने शस्त्र तथा शास्त्र दोनों में वृत्र को इन्द्र के समान ही प्रशिक्षित किया था। असुर-प्रजा में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न था। आर्यों के अग्रणी नहुष की उसे कोई परवाह न थी। समस्त विश्व में यदि उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी

था तो वह अकेला इन्द्र ही था। इन्द्र को पराजित करना वृत्र के जीवन का चरम लक्ष्य बन गया था। और जब से उसको ऐसा आभास हुआ कि शची इन्द्र का नाम सुनकर पुलकित होती है, उस दिन से इन्द्र को हराने की उसकी अभिलाषा उग्रतम बन गयी थी। बुद्धिमानी और विवेक के आवरण के नीचे वह देवता और आर्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का अवसर बराबर खोजता रहा। परन्तु पुलोमा और इन्द्र दोनों की नीति शान्तिमय होने के कारण युद्ध का कोई प्रसंग शीघ्र नहीं आया। असुरों के प्रदेश में वृत्र का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। इसी बीच आर्य-प्रदेश में असुर-प्रतिनिधि-मण्डल ले जाने का अवसर आया। वृत्र वहाँ गया और उसे युद्ध करने का मनचाहा बहाना मिल गया। परन्तु उसका मनोवांछित युद्ध छिड़ न सका। नहुष के यज्ञ के समय फिर अवसर आया, परन्तु इन्द्र के बीच में पड़ने से पुनः समाधान हो गया, यद्यपि नहुष ने शची को प्राप्त करने के लिए अपनी ओर से ऐसे अनेक कार्य किये थे, जिनके कारण युद्ध छिड़ सकता था। अन्त में बहाना मिल ही गया—सीमा पर रहनेवाले आर्यों की गायों को हाँक ले जाने के कारण युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी और भागता-फिरता इन्द्र सामने आकर खड़ा हो गया!

इन्द्र से उसकी प्रतिद्वन्द्विता क्यों हुई?

शची के कारण! यह असुर राजकुमारी वृत्र और इन्द्र के बीच झगड़े का कारण बनी खड़ी थी। वह दोनों के हृदयों को उद्वेलित कर रही थी। इन्द्र स्वर्ग का स्वतन्त्र राजा था और वृत्र असुर-सम्राज्ञी का दास। पदों का यह अन्तर इन्द्र के पक्ष में था। वृत्र के लिए स्वर्ग को जीतकर वहाँ का राज्य प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग था ही नहीं। इन्द्र को पराजित करे, स्वर्ग का राज्य जीते और एक स्वतन्त्र नृपति का स्थान प्राप्त करे, तभी उसे शची का प्रेम मिल सकता था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही उसने देवासुर-संग्राम प्रारम्भ किया था। युद्ध का नियोजन भी उसी की इच्छा और योजना के अनुसार होता रहा। कभी-कभी शची के मन की बात और व्यवहार उसकी समझ में न आता। युद्ध करते-करते बहुत बार उसकी दृष्टि शची की ओर जाती, परन्तु उसको पता न लगता कि शची के मन का झुकाव किस ओर है। वह किस की जीत

चाहती है ? वृत्र शची के साथ बचपन से बड़ा हुआ था। इतना तो वह जानता था कि वृत्र के ऊपर इन्द्र के भयंकर प्रहार शची को प्रिय न थे। परन्तु इन्द्र के प्रति शची की कोमलता भी छिपी न रहती थी। इस पहेली को सुलझाने का एक ही मार्ग था—इन्द्र को जितना शीघ्र हो सके धराशायी कर दिया जाये।

अत्यन्त बलपूर्वक बाणों की वर्षा करता हुआ वृत्र इन्द्र के रथ के सामने बढ़ आया। इन्द्र-रथ बाणों में छिप गया। इन्द्र ने बड़ी ही कुशलता से वृत्र के बाणों को काटकर गिराया, और भाला उठाया। इधर दोनों रथों के अश्व उग्र बनकर पुनः एक-दूसरे के ऊपर दौड़े। भयंकर टक्कर हुई और दोनों रथ चूर-चूर हो गये। रथी और सारथी पृथ्वी पर गिर पड़े। इस प्रसंग ने वृत्र को और भी उत्तेजित कर दिया। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। वृत्र ने यह निश्चय किया था कि सूर्यास्त के पहले ही इन्द्र को धराशायी कर देगा। सायंकाल हुआ ही चाहता था। भूमि पर उतरते ही वृत्र ने इन्द्र को ललकारा—"किस शस्त्र से लड़ना चाहते हो ?"

"जिस शस्त्र से तुम्हारी इच्छा हो !" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"खड्ग, गदा, बरछी, परशु ?"

"मैं सभी चला सकता हूँ।" इन्द्र ने कहा, और भूमि पर खड़े हुए रथियों के बीच पुनः द्वन्द्व-युद्ध होने लगा।

युद्ध-कला और बल में दोनों समकक्ष थे। दोनों भिन्न-भिन्न शस्त्र चलाने और उनका निवारण करने में समान रूप से निपुण थे। वृत्र को मात्र एक ही सुविधा थी। शस्त्र-प्रहार का कोई असर उसकी देह पर होता न था, न कोई व्रण होता, न रुधिर-प्रवाह दीख पड़ता था। इन्द्र का शरीर व्रणों से भर गया था और स्थान-स्थान पर रुधिर भी दीख पड़ता था। इतना होने पर भी इन्द्र के मुख पर व्यथा अथवा थकावट के कोई चिह्न न थे। वृत्र को विश्वास था कि उसके भयंकर प्रहारों के आगे इन्द्र का धैर्य टिक न सकेगा, और सायंकाल होते-होते युद्ध का फैसला हो जायेगा।

सूर्यास्त का समय निकट आ चला था। परन्तु इन्द्र अभी जरा भी नहीं

थका था! यह देख वृत्र व्यग्र हो गया। क्रुद्ध होकर उसने अपनी सुप्रसिद्ध गदा उठायी, और इन्द्र पर प्रहार किया। दर्शकों ने अपने कलेजे थाम लिये। वृत्र के इस भयंकर गदा-प्रहार से इन्द्र का बचना असंभव था। सब को मालूम था कि वृत्र का दुर्धर्ष गदा-प्रहार प्राणघातक हुआ करता है। देखनेवालों ने आँखें बन्द कर लीं। निश्चय ही प्रहार का वेग इन्द्र को धराशायी कर कुचल डालेगा, उसके प्राण ले लेगा! बैठे-बैठे युद्ध को देखनेवाली शची यकायक खड़ी हो गयी। सारे मैदान में सन्नाटा छा गया।

यकायक दैव-सैनिकों का हर्षनाद सुनायी दिया। इन्द्र ने पैतरा बदलकर अत्यन्त दक्षतापूर्वक गदा के वार को बचा लिया। फिर प्रहार की भयंकरता की परवाह न करके बड़ी ही कुशलतापूर्वक उसने गदा के दंड को पकड़ा और उसे घुमाकर दूसरी ओर फेंक दिया। वृत्र का अनिवार्य गदा-प्रहार निष्फल गया। इन्द्र ने सरलता से अपने को बचा लिया।

क्रोधोन्मत्त वृत्र ने हुंकार की—"जादूगर तो नहीं हो, इन्द्र?"

"शस्त्र को भले ही जादू कहो, परन्तु यह मत भूलो कि मैं अभी तक शस्त्रों का निवारण करता आया हूँ, अपनी ओर से एक भी प्रहार नहीं किया है।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

बात बिलकुल सच थी। अभी तक वृत्र ही आक्रमण करता आया था और इन्द्र बराबर बचाव कर रहा था।

"तो अभी तुम्हारी ओर से प्रहार बाकी है?" वृत्र ने पूछा।

"हाँ।"

"तो करो, अपने शस्त्रों को छिपाकर क्यों रखे हो? क्या डर लगता है?"

"मुझे भय लगता है या नहीं, इसका तुमको पता लग जायेगा; मेरा प्रहार कभी निष्फल नहीं जाता।"

"ऐसी बात है? तब किस बात का रास्ता देख रहे हो? यदि तुम्हारे सब शस्त्र पूरे हो गये हों, तो आओ मुष्टि-युद्ध करें...."

"अभी हमारे सब शस्त्र पूरे नहीं हुए वृत्र!"

"तो जिस शस्त्र का उपयोग न हुआ हो, उसको हाथ में लो! यह तो

वही....'' वृत्र का कथन पूरा हो, इसके पहले ही इन्द्र ने वज्र को हाथ में लिया। इस नूतन शस्त्र के तेज ने सब को चौंधिया दिया।

वृत्र ने अट्टहास करके कहा—''यह शस्त्र है या चमकता हुआ दर्पण?''

''यह तो उन असुरों से पूछो जो इसके प्रभाव को देख चुके हैं।'' इन्द्र ने उत्तर दिया।

''केवल इसकी चमक से डराकर तुमने उनको भगाया था। मैंने पूछ लिया है। राल की ऐसी कितनी ही ज्वालाएँ मैंने बुझा डाली हैं।'' कहकर वृत्र ने प्रबल वेग से इन्द्र पर आक्रमण किया। यहाँ तक कि शस्त्रों की मार से उसने इन्द्र को ढक दिया।

दोनों योद्धा लड़ते-लड़ते पास में बहनेवाली सिन्धु नदी के रेतीले पट में पहुँच गये।

''बोलो वृत्र, इस समय दिन है या रात?'' इन्द्र ने सिंह गर्जना की।

''दोनों में से एक भी नहीं, यह तो सन्ध्या का समय है।'' वृत्र ने उत्तर दिया। इतने में यकायक मरुतदेवों ने शस्त्र-वर्षा करके पास के पर्वत शिखर पर उड़नेवाले बादलों को हटाकर दोनों योद्धाओं के ऊपर कर दिया।

''वृत्र! यह भूमि है, या पानी?'' युद्ध करते-करते इन्द्र ने पूछा। वृत्र को आश्चर्य हुआ। नदी का रेतीला पट न थी कठिन भूमि, और न थी वह जल की धारा! दोनों महावीरों को ढाँकनेवाला बादल न पृथ्वी था, न पानी!

वृत्र को शंकर का वरदान याद आया। उसे रक्षण मिला था दिन और रात्रि के समय। भूमि पर और जल पर मृत्यु वृत्र के पास न आ सकती थी। लड़ते-लड़ते इन्द्र वृत्र को सन्ध्या के ऐसे समय-विभाग पर ले आया था, जो न दिन कहा जा सकता था और न रात्रि। स्थान भी ऐसा था, जिसे न भूमि कहा जा सकता था और न जल। ऊपर से बादलों की छाया थी। ऐसे स्थल और समय में वृत्र को शिव का वरदान किसी प्रकार की रक्षा नहीं प्रदान करता था। इन्द्र के प्रश्न इसी बात का संकेत कर रहे थे। वरदान माँगते समय वृत्र भूल गया था कि सन्ध्या का भी एक समय होता है, और एक स्थान ऐसा भी हो सकता है, जो न जल हो और न भूमि!

परन्तु तभी उसे याद आया कि धातु, बाँस, काष्ठ अथवा अश्म से बना हुआ कोई भी शस्त्र उसे मार नहीं सकता। स्थल और समय के विषय में उत्पन्न हुई वृत्र की विकलता शान्त हो गयी।

"वरदान के परे मुझे मारना चाहते हो?" वृत्र ने उत्तर दिया।

"पराजय स्वीकार करो, तो मैं न मारूँ।" इन्द्र ने कहा।

"पराजय? वृत्र स्वीकार करे? और तुम्हारे सामने? भूल रहे हो, इन्द्र! मुझे मारनेवाला शस्त्र इस युग में अभी तक बना ही नहीं, तुम अपनी जान बचाओ।"

"तुम्हें खबर नहीं, वृत्र, कि तुम्हें मारनेवाला शस्त्र तैयार हो गया है, और वह मेरे हाथ में है।" यह कहकर इन्द्र ने वज्र को उठाकर दिखाया।

घने बादलों में जैसे बिजली चमकती है वैसे ही वह शस्त्र चमक उठा। वृत्र को भी वह बिलकुल नवीन प्रकार का, कभी भी न देखा हुआ एक अद्भुत शस्त्र मालूम हुआ। षट्कोणों से छह स्थानों पर आघात करने की उसमें व्यवस्था थी। यह शस्त्र कैसे चलाया जाता है, और इसका कैसे निवारण करना चाहिए, इस बात को सोचते हुए वृत्र के कान में इन्द्र के ये शब्द सुनायी दिये—"वृत्र! समय थोड़ा है। शीघ्र निश्चय कर लो! यदि जीवित रहना चाहते हो, तो युद्ध को रोक दो और अमरापुरी के द्वार से लौट जाओ। तुम्हारे जीवित रहने से मुझे आनन्द होगा।"

"यदि तुम्हारा कहा न करूँ?"

"तो देखो मेरे इस वज्र को! एक बार मेरे हाथ से निकलेगा तो तुम्हारे प्राण लिये बिना लौटेगा नहीं।"

"शस्त्रों को जैसे मैं चलाना जानता हूँ, वैसे ही उनका निवारण भी कर सकता हूँ।"

"वृत्र! मैं पुनः कहता हूँ कि भलाई इसी में है कि देव और असुर मित्र बनकर इस स्थान से जायें।"

"असुर विजय प्राप्त किये बिना नहीं लौटेंगे और वाग्वितण्डा में पड़कर मैं अवसर को खोऊँगा नहीं। देखें तुम्हारा शस्त्र!" कहकर वृत्र ने बिजली के सदृश

चमकती हुई अपनी बरछी पूरे बल के साथ इन्द्र पर फेंकी। इन्द्र के सामने मानो साक्षात् काल दौड़ा!

और उसी क्षण इन्द्र के हाथ से वज्र छूटा। बिजली की चमक और भयंकर गड़गड़ाहट हुई। सारा मैदान और आसपास के पर्वत-शृंग प्रतिध्वनित हो गये। दोनों पक्ष की सेनाएँ स्तब्ध रह गयीं। वज्र ने बीच ही में बरछी के टुकड़े उड़ा दिये, और वह विद्युत् वेग से वृत्र की ओर बढ़ा। वृत्र ने उसे अपनी ढाल और तलवार से रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु रोक न सका। देखते-ही-देखते वृत्र के हाथ की ढाल-तलवार को हवा में उड़ाते हुए वज्र ने अपने तीक्ष्ण षट्कोण वृत्र के शरीर में चुभो दिये।

वज्र के प्रहार और आघात को वृत्र सह न सका। धक्का लगते ही वह नीचे रेती पर गिर पड़ा, मानो नदी का कंगारा ही बैठ गया हो! वृत्र के नीचे गिरने पर भी वज्र अपना काम करता ही गया। अपनी पैनी धार से उसने वृत्र का हृदय विदीर्ण कर डाला। अभी तक युद्ध में वृत्र के देह से रुधिर का एक बिन्दु भी नहीं निकला था; वज्र का आघात होते ही रुधिर की धाराएँ बह चलीं! दोनों सेनाएँ चित्रलिखित-सी खड़ी इस चमत्कार को देखती रहीं। दर्शकों की समझ में नहीं आया कि वास्तव में क्या हुआ। वृत्र भूमि पर गिरा, और वज्र लौटकर इन्द्र के हाथ में आ गया। इन्द्र ने सिंहनाद किया। इस नाद ने दर्शकों की स्तब्धता को तोड़ा, और सब लोगों ने आश्चर्य-सहित देखा कि वृत्र भूमि पर गिरा हुआ है। देव-सेना हर्ष के उन्माद में उछलने लगी, और असुर-सेना लज्जित तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी।

इन्द्र भी वीरोन्माद से जूझ रहा था। वज्र ज्योंही लौटकर उसके हाथ में आया, उसकी उग्रता शान्त हो गयी। जिस व्यक्ति ने उसके प्राण लेने में कुछ उठा न रखा था, उसको अन्तिम श्वास लेते हुए देखकर वह उसकी ओर दौड़ा। वृत्र की आँखें बन्द हो रही थीं। परन्तु इन्द्र को निकट आया देखकर उसने नेत्र खोले और कहा—"इन्द्र! विजय तुम्हारी है। मैं तुमसे कमजोर निकला।"

"कमजोर बिलकुल नहीं। मेरी बराबरी में खड़े होनेवाले एक तुम्हीं थे,

वृत्र ! जरा बैठोगे ? पानी ले आऊँ ?" इन्द्र ने पूछा। वृत्र को अपने शरीर के सहारे बैठाकर इन्द्र उसके व्रण में से निकलते रुधिर को पोंछने और बन्द करने का प्रयत्न करने लगा।

"अब मैं मृत्यु को पास आता हुआ देख रहा हूँ। मुझमें कोई कमी अवश्य थी, नहीं तो इस प्रकार धराशायी न होता। मुझको वरदान माँगना आया नहीं ! शुक्राचार्य ने कहा था कि वरदान माँगने में यदि स्वार्थ की लेशमात्र भी भावना होगी, तो वह वरदान शाप हो जायेगा। वज्र का आघात लगा और तुरन्त ही मेरा स्वार्थ अदृश्य हो गया। इन्द्र ! मृत्यु भी कभी-कभी हमको उच्चतर भूमिका में ले जाती है।"

"बोलो मत वृत्र ! मेरा बस चले तो तुमको मरने न दूँ। अरे, अश्विनी-कुमार कहाँ हैं ?" पास ही में खड़े हुए देव-मण्डल को उद्देश्य कर इन्द्र ने कहा।

इतने ही में इन्द्र और वृत्र के सामने सशस्त्र शची आकर खड़ी हो गयी।

"शची ! इन्द्र की विजय हुई।" धीमे स्वर में वृत्र ने कहा।

"तुमसे लड़कर, मुझसे लड़कर नहीं ! अभी युद्ध बन्द नहीं हुआ। मैं द्वन्द्व के लिए इन्द्र को चुनौती देती, हूँ।" शची ने कहा।

"इस समय ? सन्ध्याकाल में ? जब वृत्र घायल होकर पड़ा है ?" इन्द्र को आश्चर्य हुआ।

"हाँ ! स्वर्ग को जीते बिना और इन्द्रासन पर बैठे बिना, मैं इस युद्ध को बन्द नहीं करूँगी।" शची ने दर्प से कहा।

"पागल तो नहीं हो, शची ! जरा पास आकर बैठो !" वृत्र ने कहा।

[२४]

वृत्र को घेरकर देव तथा असुरों के अग्रणी बैठ गये। अश्विनीकुमार उसे औषधि देने के कार्य में लगे। सब लोगों ने मिलकर वृत्र को एक पलंग पर सुला दिया। असुरों की ओर से शुक्राचार्य आकर अश्विनीकुमारों की सहायता

करने लगे। वृत्र की पूरी परिचर्या होने लगी। युद्ध में घायल होनेवाले अथवा मृत्यु को प्राप्त होनेवाले सैनिकों के साथ शायद ही कभी ऐसा व्यवहार होता था। परन्तु वृत्र का पद और मर्यादा विशिष्ट थी। असुरों का वह प्रधान सेनापति ही नहीं, असुर-जगत् का सर्वश्रेष्ठ पुरुष और असुर-संस्कृति का प्रतीक था। शची उससे विवाह कर ले, यह सारा असुर-समाज मन से चाहता था, और वैसा न होते देखकर सब को आश्चर्य होता था। वृत्र को शची के हृदय के भेद का पता लग गया था। शची को असुरत्व का भले ही अभिमान हो, भले ही वह देवों के साथ भयंकर युद्ध कर रही हो, और वृत्र की मरण-शैय्या पर भी उसको देवासुर-युद्ध बन्द करना स्वीकार न हो, परन्तु यह तो निर्विवाद था कि उसका स्त्री हृदय चुपचाप इन्द्र के लिए तड़पा करता था। अपने हृदय पर संयम रखकर वह इस बात को उजागर न होने देती थी, परन्तु चतुर वृत्र उसकी वास्तविक मनोकांक्षा को समझ गया था।

वृत्र ने अपने जीवन में एक ही दोष किया—येनकेन प्रकारेण शची को प्राप्त करना ! चाहे इन्द्रासन लेकर, अथवा शची से युद्ध करके भी ! वज्र का आघात लगते ही वृत्र की आँखें खुल गयीं। सारा जीवन उसने शची को पाने के प्रयत्न में बिताया था। यह उसका स्वार्थ था, निम्नीकोटि का व्यक्तिगत स्वार्थ था, और इसी स्वार्थ के कारण वह इन्द्र की बराबरी न कर सका था। देवराज किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं समग्र देवों की हित-रक्षा के लिए लड़े थे। शची को प्राप्त करना उनका उद्देश्य न था।

शरीर से ज्यों-ज्यों रुधिर निकलता जाता था, वृत्र को अपने जीवित रहने की आशा कम होती जाती थी। इन्द्र, शची, शुक्र, नहुष और रक्षा उसके पास ही बैठे हुए थे। रक्षा की ओर दृष्टि जाते ही वृत्र ने कहा—"रक्षा ! यदि मैं जीवित रह सकूँ, तो जीवन-भर तुम्हारा हाथ नहीं छोड़ूँगा।"

रक्षा के मुख से एक अक्षर तक न निकला। आँखों में वेग से आनेवाले आँसुओं को उसने दृढ़ता से रोके रखा।

"किसी भी उपाय से वृत्र को जीवित रखना होगा। मेरे देवत्व में किस बात की न्यूनता है, यह वृत्र ने मुझे दिखा दिया। मैं इसको अपना सच्चा मित्र

मानता हूँ।" कहते हुए इन्द्र ने शुक्र तथा अश्विनों की ओर देखा।

"मैं जीवित रहूँ या न रहूँ, युद्ध अब बन्द हो जाना चाहिए शची!" वृत्र ने कहा।

"मेरा निश्चय बदला नहीं करता। इन्द्रासन लिये बिना युद्ध बन्द नहीं होगा।" शची ने कहा।

"मुझे पराजित करनेवाले इन्द्र से तुम कैसे लड़ोगी?"

"तुम मुझसे अधिक बलवान हो, यह समझने की भूल तुमने अपने जीवन-भर की। तुम्हारा यही अहं मेरे और तुम्हारे बीच अन्तराय बनकर खड़ा रहा।"

"जो होना था, वह हो गया। अब तुम अपने अहं को बीच में मत लाओ।" वृत्र ने कहा। व्रण में होनेवाले असह्य दर्द के कारण उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं। कुछ देर बाद उसने पुनः आँखें खोलीं। दोनों अश्विनीकुमारों और शुक्र के अतिरिक्त उसके पास और कोई न था।

"इन्द्र और शची कहाँ गये?" वृत्र ने पूछा।

"अपने-अपने शिविर में।" शुक्र ने उत्तर दिया।

"युद्ध बन्द करके?"

"नहीं। शची ने इन्द्र को द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती दी है।"

"इन्द्र उसे स्वीकार करेगा?"

"दूसरा मार्ग ही क्या है?"

"मैं एक मार्ग बताऊँ?"

"अवश्य, परन्तु इतनी औषधि और पी जाओ।" शुक्र ने कहा।

"मुझे जीवित रहना है, केवल कल रात्रि तक, अधिक नहीं।" वृत्र ने कहा।

"इतनी ही देर क्यों? इन्द्र की आज्ञा है कि तुमको पूर्ण रीति से जीवित रखने का प्रयत्न किया जाये।" शुक्र ने कहा।

"यह आज संभव नहीं। संभव तभी होगा जब देव, दानव या मानव अमृत को खोज निकालेंगे। मेरी एक ही इच्छा है कि अपने मरने से पहले इस देवासुर-संग्राम को बन्द करा दूँ। उसके बाद मरने में मुझे शान्ति मिलेगी।"

"यह बन्द नहीं हो सकेगा। शची मना करती है।"

"मेरी एक प्रार्थना कोई शची तक पहुँचा देगा ?" वेदना को सहन करते हुए वृत्र ने कहा।

"क्या कहना चाहते हो ? कल प्रातःकाल पुनः द्वन्द्व-युद्ध शुरू हो जायेगा !"

"शची को इतना ही सन्देश पहुँचा दें कि वह युद्ध मेरी आँखों के सामने हो।"

"तुम्हारी आँखों के सामने ? वृत्र ! तुमको ध्यान है कि तुम...."

"हाँ, हाँ; मैं जानता हूँ कि मैं मृत्यु-शैय्या पर पड़ा हूँ। परन्तु मुझे यह युद्ध देखना ही होगा। इन्द्र मुझसे अधिक बलवान है, यह सिद्ध हो गया। अब मुझे अपनी आँखों देखना है कि शची और इन्द्र में कौन अधिक बलवान सिद्ध होता है।"

"अपने शरीर को अत्यधिक कष्ट मत दो।"

"मृत्यु समय की आकांक्षा तो क्रूर जल्लाद भी स्वीकार करते हैं।"

"इस युद्ध को देखने से तुमको क्या लाभ होगा ?"

"विजेता को देखकर मैं शान्तिपूर्वक मरूँगा। आप औषधि दें, या न दें, इन्द्र और शची के युद्ध का निपटारा होने तक मैं मरूँगा नहीं।" कहकर वृत्र ने औषधि पी ली और व्रण की मरणान्तक पीड़ा को भूलकर निद्राधीन हो गया।

रात-भर वह सोता ही रहा। मृत्यु की गोद में पड़े हुए इस पराजित वीर को कौन-से मधुर स्वप्नों ने सुख की नींद सुलाया ? क्या यह औषधि का गुण तो न था ?

वृत्र इतनी गाढ़ निद्रा में पड़ा था कि प्रातःकाल होने पर उसको जगाना पड़ा।

"मुझे क्यों जगाया ?" परिचर्या करनेवाले अश्विनीकुमारों और शुक्र से वृत्र ने पूछा।

"अब युद्ध आरम्भ हो रहा है।"

"मैं भी तैयार....अरे ! मैं तो उठ भी नहीं सकता मैं। तो पड़ा हूँ मृत्यु-शैय्या पर।" युद्ध का नाम सुनते ही वृत्र का शौर्य उमड़ आया, परन्तु दूसरे ही क्षण उसे अपनी वास्तविक स्थिति का भान हुआ।

शची और इन्द्र के बीच युद्ध आरम्भ हो रहा है।" शुक्र ने कहा।

"किस स्थान पर?"

"तुम्हारे सामने, इसी मैदान में। शिविर की पर्णभित्ति हटाते ही युद्ध तुमको साफ-साफ दीख पड़ेगा।"

"अच्छा! तो शची ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया!" कहकर वृत्र ने बैठकर युद्ध देखने का प्रयत्न किया। उसके सामने का परदा हटा दिया गया। इन्द्र और शची पैदल चलकर युद्ध के मैदान की ओर आ रहे थे। 'जिस वेग से इन्द्र मेरी ओर बढ़ा था, वह वेग इस समय क्यों नहीं दीख पड़ता?' वृत्र के मन में विचार आया। शची की देह में अद्भुत स्फूर्ति दीख पड़ती थी।

वीरों ने हाथ मिलाया और नये द्वन्द्व-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। हाथ मिलाते ही शची ने अपने चक्र-द्वारा इन्द्र पर इतना प्रबल आघात किया कि दर्शकों के मन में भीति हुई कि कहीं इन्द्र का मस्तक न उड़ जाये। शची का प्रहार वृत्र के प्रहार जैसा ही सशक्त था। परन्तु इन्द्र ने इस आघात का निवारण किया। इसके बाद शची जो-जो प्रहार करती वह उन सब का निवारण करता गया। शची के प्रचण्ड आक्रमणों से देवताओं को भय होने लगा। कहीं यह असुर राजकुमारी इन्द्र को हरा न दे। लेकिन इन्द्र वृत्र के ऊपर जैसे प्रबल आघात करता था, वैसे शची पर करता हुआ नजर न आया। घायल और थका हुआ इन्द्र कब तक विद्युत् सरीखो चपल और सिंहनी के समान शक्तिशालिनी शची के सामने टिक सकेगा—इस विचार के आते ही देव-मण्डल में विषाद छा गया। युद्ध में शची ने अद्भुत स्फूर्ति और चपलता का प्रदर्शन किया। सब लोगों को यह विश्वास हो गया कि अब इन्द्र के पतन में देर नहीं। परन्तु इन्द्र शान्त था। वह शची के सभी प्रहारों का एक के बाद एक निवारण करता जा रहा था।

यकायक शची ने अपने शस्त्र फेंक दिये और प्रबल वेग से दौड़कर इन्द्र को बलपूर्वक अपने भुजपाश में लपेट लिया। लोगों ने देखा कि क्रोधोन्मत्त शची मल्लयुद्ध के लिए कूद पड़ी है और इन्द्र को धराशायी करने का प्रयत्न कर रही है।

इन्द्र ने शान्तिपूर्वक अपने को शची की पकड़ से छुड़ा लिया, और कुछ परे हटकर शची के नये पैतरे के लिए तैयार हो गया। इन्द्र के शरीर-स्पर्श से शची ने एक अद्भुत प्रकार के सुखद कम्प का अनुभव किया। परन्तु अपने भाव को छिपाकर आवेश का प्रदर्शन करते हुए उसने कहा—"देवराज! ठीक से क्यों नहीं लड़ रहे हो? थक गये हो या भयभीत हो। पराजय स्वीकार करते हो?"

"हाँ, शची! भयभीत अवश्य हूँ।" सस्मित इन्द्र ने उत्तर दिया।

"तो शस्त्र डाल क्यों नहीं देते मेरे चरणों पर!"

"शस्त्र डाल दूँ, तो अपनी रक्षा कैसे करूँ, तुम्हारे इन प्रहारों से?"

"तुम्हारे कहने का तात्पर्य कहीं यह तो नहीं कि तुम केवल अपनी रक्षा कर रहे हो? मेरी तरह तुम भी प्रहार करो मेरे ऊपर!"

"स्त्री के ऊपर प्रहार करनेवाला देव नहीं रह जाता! अरे, देव तो क्या, वह मानव या पशु भी नहीं रह जाता!"

"मुझे स्त्री समझकर दया आती है? किसने तुमसे दया की याचना की?" शची का क्रोध उग्रतर हो उठा।

"दया-याचना का प्रश्न ही नहीं है। स्त्रियों के ऊपर मैं शस्त्र चला ही नहीं सकता।"

"मैं शस्त्र से आघात करूँ, तब भी नहीं?"

"हाँ! स्त्री पर शस्त्र उठाने तक का निषेध है। अधिक-से-अधिक मैं अपनी रक्षा-मात्र कर सकता हूँ?"

"तुम जानते हो कि मैं स्वर्ग जीतने आयी हूँ?"

"हाँ।"

"और इन्द्रासन पर बैठने के लिए भी?"

"हाँ! इन्हीं उद्देश्यों से तो तुमने युद्ध छेड़ा है।"

"यदि जानते हो तो इन्द्रासन मुझे क्यों नहीं लेने देते?"

"यदि मैं देवों का प्रतिनिधि न होता, तो इन्द्रासन तुमको अवश्य सौंप देता। यदि देव-सभा कहे तो अवश्य सौंप दूँगा।"

"मुझे इन्द्रासन जीतकर लेना है, दान में नहीं! आर्य-ब्राह्मणों की भाँति

मैं दान-दक्षिणा नहीं लेती !"

"यह मुझे विदित है। मुझे पराजित करो और इन्द्रासन पर जाकर बैठो।"

"तुम ठीक से युद्ध तो करते नहीं ! उस तरह लड़ो जिस तरह वृत्र से लड़ते थे।"

"वृत्र पुरुष था।"

"फिर वही बात ! इस प्रकार लड़ते हुए तुमको शर्म नहीं आती ?"

"आती है ! तुम्हारे विरुद्ध युद्ध करने में मेरा मन लग नहीं सकता।"

"मैं भी यदि पुरुष जाति को दया की दृष्टि से देखूँ ?"

"सारी पुरुष-जाति स्त्री की दया की पात्र है। स्त्री का हृदय सर्वदा दयालु होता है। यही कारण है कि आज तक स्त्री-पुरुष में युद्ध नहीं हुआ—न देव-समाज में न असुर-समाज में !"

"तुम क्या करना चाहते हो ?"

"तुम जो कहो ! वैसे मैं तो चाहता हूँ कि इस युद्ध को बन्द करके हम देव और असुर मित्र बन जायें !"

"मेरे सर्वश्रेष्ठ असुर को तुमने मारा है !"

"इस बात का मुझे बड़ा खेद है। उसको बचाने का मैं पूरा प्रयत्न कर रहा हूँ।" इन्द्र ने कहा।

यकायक मध्यस्थों ने युद्ध रोकने के लिए अपना धवल ध्वज फहराया। यह संकेत वृत्र के शिविर के पास से किया जा रहा था। शची और इन्द्र दोनों को आश्चर्य हुआ। वृत्र अन्तिम साँस तो नहीं ले रहा है ? वृत्र की मृत्यु केवल असुरों के ही लिए नहीं, देवों के लिए भी एक बहुत बड़े शोक का विषय था। पक्ष चाहे जो हो, वीरता का सभी सम्मान करते हैं। और यद्यपि देवता वृत्र से बहुत डरते थे, तथापि उसकी शूरता की प्रशंसा भी करते थे।

मध्यस्थों की आज्ञा मानकर इन्द्र और शची ने युद्ध बन्द कर दिया। उन दोनों को ऐसा प्रतीत हुआ कि वृत्र की अन्तिम घड़ी अब निकट आ गयी है। अतः दौड़ते हुए वे वृत्र के पास पहुँचे।

"तुम दोनों को वृत्र अपने पास बुला रहा है।" शुक्राचार्य ने कहा।

वृत्र के पलङ्ग के पास जाकर ये दोनों दुश्मन उसके एक-एक ओर बैठ गये।

"वृत्र! क्या होता है?" शची ने पूछा।

"पश्चात्ताप!" वृत्र ने उत्तर दिया।

"पश्चात्ताप! किस बात का? तुमने ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया है, जिसके कारण पश्चात्ताप करना पड़े।" शची ने कहा।

"यदि मैंने उदारता दिखायी होती, तो यह भयंकर देवासुर-संग्राम न होता। इस युद्ध का पाप मेरे सिर है!"

"तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं। युद्ध तो मैंने छेड़ा है, परन्तु मुझे उसका कोई पश्चात्ताप नहीं।"

"मैं बीच में न आता, तो तुमने इन्द्र के साथ कभी का समझौता कर लिया होता।"

"कभी नहीं।"

"मरने के पहले मेरी दृष्टि खुल गयी है। मैं सत्य को देख रहा हूँ। मेरी इच्छा है कि मरने के पहले अपनी भूल को सुधार लूँ। शची! इन्द्र! तुम दोनों से कह रहा हूँ।" वृत्र ने कहा।

"वृत्र! इतने विनम्र न बनो। मुझे यह अच्छा नहीं लगता और तुमको शोभा भी नहीं देता।"

"मेरी माँग अनुचित न होगी। मेरी अन्तिम इच्छा तुम दोनों पूर्ण करोगे न?" वृत्र ने पूछा।

"तुम जो कहो वह सब करने को तैयार हूँ। केवल युद्ध बन्द करने की बात मत कहना।"

"युद्ध कब बन्द करोगी?" वृत्र ने पूछा।

"इन्द्रासन लेने के बाद!" शची ने उत्तर दिया।

"इन्द्रासन मिल जाये, तब तो युद्ध बन्द कर दोगी न?"

"हाँ, अवश्य। परन्तु इस इन्द्र को क्या कहूँ? न जी खोलकर लड़ता है,

और न युद्ध की समाप्ति ही होने देता है।" शची बोली।

"यह भी मैंने देखा। मैंने सुना कि इन्द्र स्त्री पर प्रहार नहीं करता। केवल अपने ऊपर होनेवाले प्रहारों को बचाता है।"

"और युद्ध में विजय प्राप्त किये बिना, इन्द्रासन लिये बिना, मैं युद्ध बन्द करूँगी नहीं।" शची ने कहा।

"इन्द्रदेव! बड़प्पन के तुम आगार हो। मृत्यु-शैय्या पर पड़े हुए वृत्र की एक माँग स्वीकार करोगे?" वृत्र ने बड़े भावपूर्वक इन्द्र की ओर देखकर कहा।

"माँग लो, वृत्र! शची के लिए यदि इन्द्रासन माँगना हो, तो वह भी माँग लो! मैं स्त्री से कदापि नहीं लड़ूँगा। उसके सामने मेरा शस्त्र उठ ही नहीं सकता। और भाई! इन्द्रासन का यों भी मुझे मोह नहीं।" इन्द्र ने कहा।

"मुझे भगवान शंकर एक ऐसे मार्ग का निर्देश कर रहे हैं, जिसमें किसी की भी हार-जीत का प्रश्न नहीं उठता। इस मार्ग को ग्रहण करने से युद्ध रुक जायेगा, इस भीषण संहार का अन्त होगा और मैं शान्तिपूर्वक मरूँगा। वचन दो, शची, मेरा कहना मानोगी।" वृत्र के शब्दों में आर्जव था।

"यदि ऐसा मार्ग तुम जानते थे, तो आज तक बताया क्यों नहीं?" शची ने पूछा।

"अपने अहं और अभिमान के कारण। वह अब अदृश्य हो गया। अब जल्दी वचन दो!" वृत्र ने कहा, और पड़े-पड़े उसने अपना एक हाथ बढ़ाया।

मरते हुए वृत्र की बात रखने की खातिर शची ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया। वृत्र के मुख पर सन्तोष का भाव दीख पड़ा। क्लान्ति के कारण वह कुछ देर तक बोल न सका, और आँखें बन्द किये पड़ा रहा। वृत्र की अन्तिम अभिलाषा क्या थी, यह जानने के लिए सब लोग उत्सुक थे। कहीं ऐसा न हो कि अपनी अन्तिम बात कहे बिना ही वृत्र की मृत्यु हो जाये।

शुक्र ने शीघ्र ही अपनी औषधि का एक घूँट वृत्र को पिला दिया। दवा पीते ही वृत्र ने पुनः आँखें खोल दीं।

"इन्द्र! तुम भी वचन दोगे?"

"किस बात का वचन?"

"मैं जानता हूँ कि यह देवासुर-युद्ध तुमको पसन्द नहीं। यह विग्रह रुक जाये, और तुम्हारा इन्द्रासन तुम्हारे ही पास रहे, ऐसा मार्ग बताऊँ तो?" वृत्र ने पूछा।

"यह कैसे हो सकता है? यदि चाहो तो तुम या शची इन्द्रासन माँग लो, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।" इन्द्र ने कहा।

"मैं माँगा हुआ इन्द्रासन लेने की नहीं। मैं स्वयं उसे छीनूँगी।" शची ने कहा।

"इन्द्र! मुझे तुम्हारा आसन नहीं चाहिए। मरते-मरते मैं तुम्हारी मैत्री चाहता हूँ। मुझे उसमें किसी नूतन स्वर्ग के दर्शन हो रहे हैं।" वृत्र ने कहा।

मरणासन्न वृत्र के हाथ में अपनी मैत्री का हाथ देने में इन्द्र को कोई आपत्ति न हुई। उसने अपना एक हाथ वृत्र के हाथ में रख दिया। एक अद्-भुत दृश्य उपस्थित हुआ। वृत्र के एक हाथ में शची का हाथ था, और दूसरे में इन्द्र का। वृत्र ने दोनों हाथ पकड़कर दबाये, और क्षण-भर के लिए आँखें बन्द कर लीं। जब उसने पुनः आँखें खोलीं, तब वह अधिक स्फूर्तिवान दीख पड़ा। उसके शरीर में एक नवीन प्रकार की शक्ति जाग्रत हुई। उसने शची और इन्द्र दोनों के हाथों को बलपूर्वक खींचा और अपने कलेजे के ऊपर लाकर उनका मिलाप करा दिया।

"मैं कल से, वज्र का आघात लगने के क्षण से ही तुम दोनों के हस्त-मिलाप की माँग कर रहा हूँ। यह हस्त-मिलाप स्थायी हो। शुक्राचार्य! लग्न-मंत्र का उच्चारण करो अथवा असुर बना हुआ मैं आर्य ही मंत्र पाठ करता हूँ!" इतना कहते-कहते वृत्र थक गया, और उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

शची और इन्द्र दोनों ने यह हस्त-मिलाप होने दिया। दोनों में से किसी ने भी अपना हाथ खींचा नहीं। शची के मुख पर मधुर लालिमा दीख पड़ती थी। युद्ध करते समय इन्द्र के शरीर-स्पर्श से जो कम्प हुआ था, वैसे ही कम्प का अनुभव इस समय भी शची को हुआ। वृत्र के कार्य ने इन्द्र को कठिनाई में डाल दिया। परन्तु उस वीर की अन्तिम इच्छा का तिरस्कार करना इन्द्र को उचित न लगा।

"मेरा जीवन निष्फल गया, परन्तु मृत्यु सफल हो रही है, शची !" आँखें खोलते हुए वृत्र बोला।

"लेकिन हमारा जीना तो तुम्हारे अभाव में निष्फल ही होगा।" इन्द्र ने कहा।

"निष्फल क्यों होगा ? देवासुर-संग्राम सदा के लिए बन्द होगा, यही तुम्हारे जीवन की सफलता है। शची को इन्द्रासन चाहिए वह उसको मिल जायेगा।" वृत्र ने शान्तिपूर्वक कहा। उसके मुख पर सफलता का आनन्द झलक रहा था। इन्द्र और शची लग्न-ग्रन्थी से संयुक्त हों—यह विचार अब उसे सच्चा आनन्द प्रदान कर रहा था।

"विवाह करके, परवश होकर इन्द्रासन पर बैठने को कहते हो, वृत्र ? ऐसा इन्द्रासन मुझे न चाहिए। मैं तो अपने विजयी पाँव उस पर रखूँगी।" शची ने झुँझलाकर कहा।

"मैं पहले शची को इन्द्रासन पर आसीन कराऊँगा, उसके बाद स्वयं बैठूँगा !" इन्द्र ने वृत्र के सामने शची की विजय स्वीकार की।

"पुरुष स्त्री से विवाह करते ही समझने लगता है कि वही विजयी हुआ। वह मान बैठता है कि स्त्री को अपने आनन्द के लिए जबर्दस्ती पकड़ लाया, अथवा लूट लाया !" शची ने कहा, यद्यपि उसने अपना हाथ इन्द्र के हाथ में से खींचा न था।

"विवाह के बारे में आर्यों की ऐसी मान्यता नहीं है।" इन्द्र ने कहा।

"न हो, परन्तु पुरुषों की मान्यता तो ऐसी ही है।" शची बोल उठी।

"शची! यदि तुम स्वीकार करो तो असुर-पूजा और स्त्री-जाति को मैं देवाधिदेव इन्द्र एक चिरस्थायी भेंट प्रदान करूँ।" इन्द्र ने कहा।

शची और वृत्र दोनों ने इन्द्र को ध्यान से देखा। शची ने इन्द्र का हाथ अभी तक छोड़ा न था।

"कौन-सी भेंट, इन्द्र !" वृत्र ने पूछा। देवराज असुर-प्रजा को विजय के उपलक्ष्य में भेंट देने का प्रस्ताव करें, इससे बढ़कर आनन्द का विषय असुर-नेता के लिए और क्या हो सकता था ? फिर भले ही वह मृत्यु-शैय्या पर क्यों

न पड़ा हो ?

और देवाधिदेव स्त्री-जाति को भेंट देने की बात कहें, तो उसके बारे में किस स्त्री को जिज्ञासा न होगी ? फिर भले ही वह स्त्री पुरुष-जाति की कट्टर विरोधी ही क्यों न हो ! समस्त पुरुष-वर्ग की निन्दा करनेवाली शची ने भी उत्तर के लिए इन्द्र की ओर देखा ।

"मैं इन्द्र आज से एक नियम बनाता हूँ । यह तो सबको विदित है कि इन्द्रासन की प्राप्ति के लिए बहुत ही उच्च प्रकार की योग्यता होनी चाहिए । इन्द्रत्व के लिए बड़ी कठिन परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती है । देवताओं में से एक भी सम्प्रदाय की असम्मति हुई तो इन्द्रासन नहीं मिल सकता । योग्यता की ऐसी कठिन कसौटी में एक नियम और बढ़ाता हूँ—इन्द्राणी का असुर-कन्या होना अपरिहार्य हो और उस असुर-कन्या का नाम शची ही रहे, इन्द्र भले ही बदलता रहे—वह किसी देव-वर्ग का हो—अग्नि-वर्ग अथवा सूर्य-वर्ग का हो । यह भी संभव है कि कोई मानव या असुर भी इन्द्रपद को प्राप्त कर सके । परन्तु इन्द्राणी तो अनिवार्य रूप से असुर-कन्या ही होगी । और वह शची ही कहलायेगी । किसी भी वर्ग से इन्द्र-पद पर निर्वाचित होनेवाला देव उससे लग्न करेगा । शची से विवाह किये बिना उसे इन्द्रासन पर बैठने का अधिकार न रहेगा ।" इन्द्र ने घोषणा की ।

"तुमको भी नहीं ?" इन्द्र को अनिमेष नेत्रों से देख रही शची ने अनायास पूछा ।

"नहीं ! अब से मुझको भी नहीं । शची नाम की असुर-कन्या जब तक मुझे लग्न का सम्मान प्रदान न करे, मैं इन्द्र-पद पुनः स्वीकार नहीं कर सकता ।"

तभी शची ने यकायक अपना हाथ खींच लिया ।

"शची, अपने जीवन में मैंने बहुत बड़ी भूल की । मुझे इस बात का भय भी लगा रहा कि कहीं यह भूल मुझे मृत्यु के मुख में न ले जाये । मेरा भय सत्य प्रमाणित हुआ । ऐसा इन्द्र दूसरा न हुआ, न होगा । उसका हाथ न छोड़ो; नहीं तो मेरे सिर पर कलंक लगा रहेगा कि देवों और असुरों को संयुक्त करने में इन्द्र के श्लाघ्य प्रयत्न को मैंने व्यर्थ कर दिया ।"

"परन्तु...."

शची की आपत्ति को पूरा सुने बिना ही वृत्र बीच में बोल उठा—"जिद्द न करो, शची! बचपन से ही तुम इन्द्र के सपने देखती रही हो! स्वर्ग के साम्राज्य की तुम्हारी अभिलाषा बचपन से ही रही आयी है। यह तुम्हीं ने मुझसे कहा था। वही इन्द्र और वही स्वर्ग आज तुमको मिल रहे हैं। उन्हें दिलाने का यश मुझे लेने दो! इन्द्र! मरणासन्न वृत्र को तुमने अपना मित्र बनाया हो, तो शची का हाथ ग्रहण करो।"

इन्द्र ने अपना हाथ बढ़ाया लेकिन शची का हाथ नहीं बढ़ा। वृत्र ने यह देखा। अन्तिम प्रयत्न कर उसने शची के हाथ को पुनः पकड़ा और अपने कलेजे के पास लाकर उसे इन्द्र के हाथ में रख दिया। शची ने अपना मुँह घुमा लिया, परन्तु हाथ छुड़ाया नहीं।

वृत्र के मुख पर मुस्कराहट झलक उठी, और उसी सन्तोषपूर्ण मधुर मुस्कान के साथ वह चिरनिद्रा में निमग्न हो गया।

[२५]

जीवन चाहे देव का हो या दानव-मानव का—वह धूप-छाँह के खेल की तरह है। युद्ध तो बन्द हो गया, परन्तु उसमें विजय किसकी हुई—देवों की या असुरों की? युद्ध करने के लिए—मरने-मारने के लिए जीवित प्राणी को रणांगण में उतरना पड़े, क्या इसी का नाम पराजय है? युद्ध में कभी कोई जीतता नहीं। देवासुर-युद्ध रोकने का इन्द्र ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वह रुका नहीं। इतना ही नहीं, उसको स्वयं उसमें भाग लेना पड़ा, और जिस वृत्र को वह मित्र बनाना चाहता था, उसका अपने हाथ से ही वध करना पड़ा! वृत्र जीवित रहता तो कितना अच्छा होता? इन्द्र और वृत्र मिलकर, मित्र बनकर विश्व-कल्याण के कितने कार्य करते? दूर रहने पर भी इन्द्र के कानों तक वृत्र के गुणों की प्रशंसा पहुँचती रहती और वह आशा करता कि ऐसे

वीर की सहायता से अमृत का आविष्कार किया जा सकेगा। इन्द्र की बड़ी इच्छा थी कि वह ऐसे अमृत को खोज निकाले, जिसके पीने से सारे विश्व का दुःख, दर्द, बुढ़ापा और मृत्यु सदा के लिए अदृश्य हो जाये। और इस अमृत का वह विश्व-भर में वितरण करे। परन्तु हुआ इसके विपरीत। अपने हाथ से ही उसे वृत्र का वध करना पड़ा।

असुरों की सम्राज्ञी अब देवराज्ञी भी बन गयी थी। मानव-श्रेष्ठ नहुष देवों का मित्र ही बना रहा। इन दोनों के सहयोग से असुर, आर्य और देवों का एक-दूसरे के निकट आना बहुत सरल हो गया था।

शची के साथ विवाह करने की जो शर्त इन्द्र ने रखी थी, प्रारम्भ में देवताओं ने उसका विरोध किया। उसको मान्यता दिलाने में इन्द्र को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। परन्तु अन्त में वह सफल हुआ। देवताओं ने जब यह देखा कि वर्तमान इन्द्र से श्रेष्ठ और अधिक योग्य अन्य कोई देव नहीं है, और यदि इन्द्र की बात न मानी गयी तो वह इन्द्रासन छोड़ देगा तो देवों ने स्वीकार कर लिया कि असुर-कन्या ही इन्द्राणी का पद ग्रहण करे, और उसके साथ विवाह करनेवाले देव-श्रेष्ठ को ही इन्द्रासन का अधिकारी समझा जाये। शची और इन्द्र का विधिपूर्वक विवाह हुआ, और देव-सभा ने शची के इन्द्रासन पर बैठने के अधिकार को अपनी मान्यता प्रदान कर दी।

लग्नोत्सव आनन्द से मनाया गया। सोमरस पीकर देवता रंग-राग और नृत्य-गीत में तल्लीन हुए। स्वर्ग में एक प्रकार की मादकता छा गयी। स्वस्थ दीख पड़ता था। अकेला इन्द्र। शची के चंचल नेत्रों से यह बात छिपी न रही। और इन्द्र ही दानव, मानव तथा देवों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, यह तथ्य भी स्पष्ट रूप से दिखायी दे गया। परन्तु शची चाहती थी कि नव-दम्पती की तरह इन्द्र भी कुछ समय के लिए शचीमय हो जाये। वैसा हुआ नहीं। एक दिन एकान्त मिलने पर देवों और असुरों के सम्मिलित शृंगार से सुशोभित शची ने इन्द्र से पूछा—"नाथ! किसी की भूल तो नहीं हो रही है—तुम्हारी या मेरी?"

"भूल कहाँ हो सकती है, शची!"

"हम दोनों के इस विवाह में ।"

"प्रिये ! भूल क्यों हो ? मैंने तो माँगकर यह विवाह किया है ।"

"ऐसा तो नहीं कि वृत्र को बुरा न लगे, इससे तुमने विवाह चाहा ।"

"वृत्र को अच्छा लगा, यह तो एक आकस्मिक परिस्थिति थी। सच कहूँ शची, तुम्हारी तरह मुझे भी बचपन से ही किसी अद्भुत युवती के साथ विवाह करने के स्वप्न आया करते थे। तुम्हारा नाम जब पहली बार सुना तभी मुझे विश्वास हो गया कि मेरी स्वप्न-सुन्दरी तुम्हीं हो। संयोग से तुम मेरे शत्रु की दुहिता निकली। मिलना सहज नहीं था। तुमको पहली बार नदी के किनारे देखते ही मेरा विश्वास दृढ़ हो गया और तुम्हारे लिए इन्द्रासन छोड़ने को मैं उसी समय तैयार हो गया था।" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"मुझे भुलाने को तो यह बात नहीं कह रहे हो ?" सहज कटाक्ष करके शची ने पूछा।

"युद्ध की इतनी विभीषिका सहकर अन्त में तुम्हारी शरण आया। इतना होने पर भी तुमको विश्वास नहीं आता।"

"राजनीति का भेद कौन जाने ? राजनीति जहाँ प्रेम न हो, वहाँ भी प्रेम का जाल फैला सकती है !" शची ने व्यंग्य किया।

"राजनीति ? मुझसे अधिक राजनीति तो तुम जानती हो शची। मैं तो केवल स्वर्ग का राजा हूँ, तुम तो स्वर्ग और असुर दोनों प्रदेशों की सम्राज्ञी हो। तुम्हारा राज्य मुझसे कहीं बड़ा है।"

"तो मेरी महानता को तुम स्वीकार करते हो ?"

"स्वीकार न करता तो इस इन्द्रासन को युग-युगान्तर के लिए शची के साथ सम्बद्ध क्यों करता ?"

"मेरी आज्ञा मानोगे ?"

"जब से वज्र तुम्हारे चरणों पर रखा तभी से मानता आया हूँ।"

"तब मेरी आज्ञा है कि इस प्रकार दूर बैठकर बातें न करो। मेरे पास आओ और मेरा स्पर्श करके बैठो।"

"क्यों ?"

"क्यों क्या ? मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, यह तुम्हें कितनी बार बताना होगा ?"

"आज पहली बार तुमने पत्नीत्व को इतनी स्पष्टता से स्वीकार किया है। नहीं तो अभी तक तुम मुझे अपनी शक्ति का ही परिचय देती आयी हो।"

"कहीं तुम यह तो नहीं समझने लगे कि मैं निःशक्त हो गयी ! पत्नी बनने से मेरी शक्ति कदापि घटेगी नहीं, समझे ? पति साधु हो, विद्वान् हो अथवा बुद्धिहीन उसको घड़ी-घड़ी यह समझाना पड़ता है कि पत्नी पत्नी है।" कहकर शची अनिमेष नेत्रों से इन्द्र की ओर देखने लगी। शची जानती थी कि इन्द्र जरा भी मूर्ख न था। उसकी रसिकता वाणी, वेष-भूषा और व्यवहार में स्पष्ट दीख पड़ती थी। बात के मर्म को वह तुरन्त समझ लेता, और यथोचित उत्तर भी देता था। इतने स्पष्ट शब्दों में लगाये हुए आरोप का वह क्या उत्तर देता है, यह सुनने के लिए इन्द्राणी—शची—इन्द्र का मुख देखने लगी। विवाह हुए कुछ समय हो गया, फिर भी पति अपनी पत्नी से इतना दूर क्यों रहता है, यह जानने की शची की उत्सुकता स्वाभाविक ही थी।

"मैंने तो कोई भूल नहीं की, परन्तु ऐसा लगता है कि मुझसे विवाह करके तुमने अवश्य भूल की है।" अपनी ओर एकटक देख रही शची को इन्द्र ने उत्तर दिया।

शची के हृदय में इन्द्र के प्रति अनुकम्पा थी या तिरस्कार ? ऐसा उत्तर सुनकर क्या करे, यह उसकी समझ में कुछ न आया। विचार में पड़े हुए पति को भुजबन्ध में लेकर आश्वासन दे, या क्रोध करके वहाँ से चली जाये ? शची एक स्त्री ही नहीं, एक सम्राज्ञी भी थी। उसके आधिपत्य में एक छोड़ दो-दो राज्य थे। उसे अपने सार्वभौमत्व का पूरा खयाल था। वह स्वयं उठकर पति की देह का स्पर्श करे, यह उसके लिए अशोभनीय था। सर्वदा से स्त्रीत्व का सम्मान करता हुआ पुरुष ही पहले स्त्री-देह का स्पर्श करता आया है। शची ने विचार किया, अपने हृदय को टटोला। इन्द्र के प्रति उसमें तिरस्कार नहीं था, इसलिए वह उस स्थान को छोड़कर जा न सकी।

इन्द्र की ओर देखकर शची ने पूछा—"मैंने क्या भूल की ? यह भूल अब सुधर सकती है या नहीं ?"

"शची ! तुम्हारे और मेरे बीच एक वस्तु अभी तक अड़ी हुई है।" इन्द्र ने कहा।

"कौन-सी ?"

"वृत्र का वध ! एक परम ब्राह्मण की ब्रह्म-हत्या ! इस पाप के बिना यदि मेरा और तुम्हारा मिलन होता तो तुमको सच्चे स्वर्ग के दर्शन होते।"

"मैं तो इस समय भी वास्तविक स्वर्ग को ही देख रही हूँ। जहाँ तुम हो, वहीं मेरा सच्चा स्वर्ग है।"

"ब्रह्म-हत्या का पाप मुझसे पहलेवाले इन्द्र को भी लगा था और मुझे भी लगा। दोनों ने त्वष्टा के पुत्रों को मारा—एक था विश्वरूप और दूसरा वृत्र ! विश्वरूप की इच्छा सुर और असुरों को एक करने की थी। इसी कार्य में वह मारा गया। मैं भी सुर और असुरों को एक करना चाहता था और मुझे भी इस कार्य में एक ब्राह्मण की बलि चढ़ानी पड़ी।"

"इसमें तुम्हारा क्या दोष ?"

"दोष इतना ही कि हिंसा बिना, एक ब्राह्मण के प्राण लिये बिना मैं अपनी मनोकांक्षा पूरी न कर सका। पाप से भरी हुई यह देह तुम्हारा स्पर्श कैसे करे ? पापमय देह स्त्री के स्पर्श की अधिकारी नहीं होती।" इन्द्र ने अपना दोष समझाया।

शची के नेत्र इन्द्र पर से हटे नहीं। वह ध्यान से इन्द्र के मुख के भावों को देखती रही। उसके मन में इन्द्र के लिए एक नये सम्मान का भाव जाग्रत हुआ। इन्द्र के शब्दों में नारी-प्रतिष्ठा की कैसी भव्य भावना थी ! स्त्री पर हाथ न उठाना, शस्त्र न उठाना, उसे अवध्य समझना—कितनी उदात्त आर्य-भावना थी ? परन्तु इन्द्र की भावना इससे भी ऊँची थी। आततायी के वध को पाप समझकर विवाह हो जाने के बाद भी पत्नी से दूर रहना, उसका स्पर्श तक न करना—यह एक अद्भुत, अकल्पनीय बात थी। शची को इन्द्र के पौरुष के लिए अभिमान हुआ। स्त्री के स्पर्श के लिए योग्यता चाहिए। और वह योग्यता पाप-रहित देह को ही प्राप्त है। स्त्री के स्पर्श के लिए लोलुप पुरुषों की आँखें शची ने देखी थीं। वृत्र इस स्पर्श की कामना करता था और

नहुष ! वह तो शची को देखकर पागल हो जाता था। उसका बस चलता तो वह शची को अपने भुजपाश में लेकर कुचल डालता। और यह इन्द्र ! शची उसकी थी, शची की देह उसकी थी, फिर भी वह स्वयं को शची की देह का अधिकारी न समझता था। अपनी पत्नी को वह कितनी उदात्त, पवित्र और महान समझता था।

लेकिन शची को इतना ऊँचा और गौरवपूर्ण स्थान पाकर ही सन्तोष न होता था। उसकी देह पुरुष-स्पर्श की कामना करती थी। वह ऐसा स्पर्श चाहती थी जो उसके यौवन को सफल कर आनन्द के हिंडोले पर झुलाये। असुर बेनीपाल; असुर वृत्र, आर्य नहुष अनेक पुरुष-श्रेष्ठ उसकी आँखों के सामने आये थे। परन्तु इनमें से किसी भी पुरुष-देह को स्पर्श करने की उसकी इच्छा न हुई। सब में केवल इन्द्र ही एक ऐसा पुरुष निकला जो उसके स्त्रीत्व को सन्तुष्ट करने की क्षमता रखता था। और वही पुरुष उससे दूर रहे, यह शची के लिए असहनीय हो गया। स्त्री-देह का गौरव उसे प्रिय था, परन्तु जब से उसने इन्द्र को देखा उसके हृदय में इस बात की तीव्र इच्छा जाग्रत हुई कि वह कभी-कभी गौरव के आवरण को उतारकर केवल स्त्री बनकर रहे। इस इच्छा को दबाने के लिए शची ने अनेक प्रयत्न किये। इन्द्र से शत्रुता तक की। परन्तु अन्त में वह असफल रही और इन्द्र को ही अपने पतित्व का अधिकारी पाया। पति मिला, परन्तु....

"कौन-से गहन विचारों में पड़ी हो, शची ?" शची को मौन देखकर इन्द्र ने पूछा।

"मैं यही सोच रही थी कि मेरी देह का स्पर्श करने की योग्यता तुममें कब आयेगी ?" शची ने कहा।

"ब्रह्म-हत्या का पाप धुल जाने के बाद।"

"इस कार्य में कितना समय लगेगा ?"

"सच्चा तप एक क्षण का भी हो, तो वह समस्त पापों को धो सकता है।"

"इसका यह अर्थ हुआ कि अभी और तपश्चर्या करनी होगी ?"

"तप करने से ही मेरा पाप नष्ट होगा, और तभी मैं तुम्हारे-जैसी स्फटिक-शुद्ध युवती का पत्नी के रूप में आलिंगन कर सकूँगा। भोग-प्रिय देव तपस्या करना भूलते जाते हैं।"

"अच्छी बात है! तुम्हारी तपस्या पूरी होने तक मैं प्रतीक्षा करूँगी। परन्तु अब देर न करो, आज से ही तप आरम्भ कर दो।"

"अभी तो मुझे स्वर्ग की शासन-व्यवस्था का निश्चय करना है।"

"उसकी चिन्ता न करो। मैं इन्द्राणी हूँ। इन्द्र की अनुपस्थिति में मैं स्वर्ग का राज्य-कार्य सँभाल लूँगी। स्वर्ग के नियमों को समझकर उनके पालन करने-कराने में मुझे किंचित् भी कठिनाई न होगी।"

"और यदि हुई?"

"तो सप्तर्षि तो हैं ही। गुरु वृहस्पति भी हैं। उनसे परामर्श करूँगी और अपने मित्र नहुष को क्यों भूल रहे हो? उसे इन्द्रासन की तीव्र आकांक्षा है। वह स्वर्ग की शासन-व्यवस्था को आर्य-प्रदेश में प्रचलित करना चाहता है। काम चलाने के लिए वह तुम्हारा प्रतिनिधि हो, ऐसा मानकर उससे भी सलाह लूँगी।" शची ने अपने मुख पर एक अद्‌भुत भाव का प्रदर्शन करते हुए कहा।

क्षण-भर इन्द्र शची की ओर देखता रहा। उसके मुख के भाव वह समझ न सकी। क्या वह प्रेम की पराकाष्ठा का भाव था या सम्मान का? शची को ऐसा आभास हुआ कि कहीं इन्द्र दौड़कर उसे अपने भुज-पाश में न ले ले! नहुष से सलाह लेने की बात इन्द्र के पौरुष के लिए चुनौती थी। शची ने जान-बूझकर नहुष से सलाह लेने की बात कही थी।

इन्द्र हँस पड़ा। नहुष अभी स्वर्ग में ही था। यहाँ की व्यवस्था देख-समझकर यहाँ की सुख-समृद्धि को वह पृथ्वी पर ले जाना चाहता था। उसको शीघ्र लौट जाने की बात कहना अनुचित होती, क्योंकि देवताओं के ऊपर उसके अनेक उपकार थे। इन्द्र की मैत्री का उसने आज तक निर्वाह किया था, और असुरों पर विजय प्राप्त करने में भी उसने बहुमूल्य सहायता दी थी। केवल शची ही समझ सकी थी कि नहुष उसके रूप को देखने और उससे संपर्क बनाये रखने के लिए स्वर्ग में घूम रहा था। कदाचित् इन्द्र भी इस बात को

जानता हो !

"तो एक वर्ष तक तपश्चर्या करने की अनुमति दो।" इन्द्र ने हँसते हुए कहा।

"मेरी अनुमति है। परन्तु देखना, एक वर्ष से अधिक न लगे। इतने ही समय में तुम्हारे सब पाप जलकर भस्म हो जाने चाहिए।" शची ने उत्तर दिया।

"यदि भस्म न हुए ?"

"तो मैं तुम्हारे तप-स्थान में आकर तुम्हारी पंचाग्नि बुझा दूँगी और तुमको उठाकर अमरापुरी ले आऊँगी।" शची ने कहा।

"शची, शची ! मैं तुमको क्या उत्तर दूँ ? मुझे तुम कितनी प्रिय लग रही हो ?"

"इस समय प्रिय लगी, तो तुम्हारा तप भंग होगा, तुम ध्यानावस्थित न हो सकोगे। मेरे प्रति अपने प्रेमोल्लास को तपश्चर्या करके लौट आने तक दबाकर रखो।"

× ×

अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार ब्रह्म-हत्या का पाप मिटाने के लिए राज्य की व्यवस्था इन्द्राणी और नहुष को सौंपकर इन्द्र तप करने हिमालय चला गया। वृत्र के वध से इन्द्र को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। स्वर्ग का सुख उसे अच्छा न लगा। धीरे-धीरे उसकी विह्वलता इतनी बढ़ गयी कि किसी भी काम में उसका चित्त न लगता। इन्द्र तथा शची दोनों को यह लगने लगा कि तपश्चर्या द्वारा इस पाप का निवारण न किया गया तो इन्द्र की विह्वलता कहीं पागलपन का रूप न धारण कर ले। इसलिए पाप का प्रायश्चित अत्यावश्यक हो गया।

देव और असुर दोनों को सन्तोष हो, इस प्रकार युद्ध का निर्णय करके इन्द्र ने सर्वत्र शान्ति स्थापित की। इसके बाद आशा यह थी कि वह नवयौवना शची को लेकर स्वर्ग के सुख-विलास में पड़ जायेगा। परन्तु वैसा हुआ नहीं। नवोढ़ा पत्नी और स्वर्ग के सुख को छोड़कर वह तप करने के लिए हिमालय चला गया। देव, दानव और मानव सब को बड़ा आश्चर्य हुआ।

ऐसा इन्द्र आज तक इन्द्रासन पर बैठा न था ! परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इन्द्र के इस महान त्याग को लोग भूलते गये। देव स्वर्ग के आमोद-प्रमोद में लग गये। शची की आज्ञा पाकर असुर अपने देश लौट गये। मानव नहुष अकेली शची की सहायता करने और हिम्मत दिलाने के लिए स्वर्ग में रह गया। स्वर्ग में बहुत-सी बातें उसे सीखनी थीं, जिनका व्यवहार मानव-भूमि में करके वहाँ भी स्वर्ग का-सा सुख स्थापित किया जा सके।

दुःखी थी एक मात्र शची ! उसका मनोवांछित पुरुष अन्त में उसे मिला, परन्तु मिलते ही उसके पास से चला गया। शची ने जिसे प्राप्त करने के लिए जाने-अजाने देवासुर-संग्राम छेड़ा, वह पुरुष मिला, उसका पति भी बना, परन्तु उसके साथ न रहकर तुरन्त तप करने के लिए चला गया ! शची का इन्द्र के प्रति लगाव बढ़ता गया, मान भी बढ़ा, और रात-दिन वह उसी की माला जपने लगी। सोते, बैठते, बात करते, सभी कार्यों में इन्द्र ही उसे दीख पड़ता था। इस प्रकार इन्द्र के वियोग में शची इन्द्रमय हो गयी।

"शची ! भरत-पुत्रों द्वारा आज एक सुन्दर नाटक होनेवाला है।" नहुष ने शची को खबर दी।

"किस विषय का नाटक है?" शची ने पूछा।

"पार्वती-परिणय का !"

"इन्द्र की अनुपस्थिति में मैं ऐसा नाटक नहीं देखना चाहती।"

नहुष ने नट-वर्ग को सलाह दी कि वे नाटक का विषय बदल दें, और कोई ऐसी नाट्य-कृति रंगभूमि पर उपस्थित करें जिसमें इन्द्र-विषयक अभिनय हो। इस परिवर्तन के बाद शची नाटक देखने गयी और अधिक व्यग्र होकर लौटी।

"सूर्य और चन्द्र इन दोनों देव-वर्गों में वैमनस्य हो गया है, शची !" एक बार नहुष ने कहा।

"क्यों?"

"सोमरस पीकर उन्मत्त हुए दोनों देव-समूहों में कहा-सुनी हो गयी और दोनों लड़ पड़े।"

"तुम इस विवाद को शान्त कर सकते हो तो करो ! नहीं तो इसका निराकरण इन्द्र के लौटने तक स्थगित रहने दो। मैं इस झगड़े में पड़ना नहीं चाहती।" शची ने उत्तर दिया। शासन-कार्य में—इन्द्र के बिना शासन-कार्य में शची को कोई रस न था। मन बहलाने के लिए वह असुर-प्रदेश गयी और वहाँ की शासन-व्यवस्था देखने लगी; परन्तु उसकी विह्वलता कम न हुई। जैसे-जैसे दिन बीतते गये उसकी व्यग्रता बढ़ती गयी, और उसकी देह कृश हो गयी।

अब तो नहुष को शची के पास रहने का बहाना मिल गया। उसके स्वास्थ्य की देखभाल करने के बहाने वह अधिक समय उसके साथ बिताने लगा। सान्निध्य ने उसकी दबी हुई लालसा' को तीव्र बनाया। शची जिसको चाहती थी वह इन्द्र न जाने किस तपोभूमि में पहुँचकर अदृश्य हो गया था। अब वह शायद ही वापस लौटे और लौटा भी तो उस वैरागी से शची को सन्तोष न होगा।

इन्द्र को यदि तपश्चर्या ही प्रिय हो, तो भले बैठा-बैठा तप किया करे ! इन्द्रासन पर पुनः आने की क्या आवश्यकता ? और यदि आ ही जाये, तो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि इन्द्रासन उसे मिले ही नहीं। तब तो सारा प्रश्न सरलता से हल हो जायेगा। नहुष इन्द्रासन ले ले और यदि उसे सफलता मिली तो फिर शची को प्राप्त करने में कितनी देर लगेगी ? समझा-बुझाकर और न मानी तो बल-प्रयोग से उसे अपने कब्जे में कर लिया जायेगा।

नहुष के मन ने इसी विचार-सरणी को पकड़ा। सुख के, राज्य के, तथा सत्ता के लोभ से कहीं अधिक प्रबल होता है स्त्री-सौन्दर्य का लोभ ! नहुष ने देव-समूहों को प्रसन्न करने का प्रयास प्रारम्भ किया, यक्षों को सन्तुष्ट किया, और गन्धर्व तथा अप्सराओं की कला में प्रचुर मात्रा में रस लेना शुरू किया। आर्य-प्रदेश से अपने साथ आये हुए विश्वासपात्र आर्यों को समस्त स्वर्ग-प्रदेश में इस प्रकार रख दिया कि वे गुप्त रीति से नहुष का ही गुण-गान किया करें। इस प्रकार स्वर्ग में उसने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि यदि वह इन्द्रासन पर बैठना चाहे, तो कहीं से उसका विरोध न हो।

विरहिणी शची की देह पर चन्दन का लेप करती हुई सखी मन्थरा ने एक

दिन पूछा— "शची ! तुम्हारा इन्द्र तो अभी तप पूरा करके आया नहीं। ऐसा तो न हो कि उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति इन्द्र बन बैठे ?"

"क्या ? क्या कहा ? मेरे जीते जी मेरे इन्द्र को छोड़कर और कौन इन्द्रासन पर बैठ सकता है ?" चैतन्य होकर शची ने कहा। इन्द्र तपस्या करने यद्यपि कहीं दूर चला गया था, परन्तु उसकी स्मृति शची के सामने सतत बनी रहती थी। इन्द्र की बात में उसे आनन्द आता, और इसी लिए उसी की बात वह सर्वदा किया करती थी।

"तो सुन लो कि इन्द्रासन पर कौन बैठने जा रहा रहा है !" मन्थरा बोली।

"कहो न, कौन बैठेगा ? और उसे कौन बिठायेगा ?"

"बैठेगा नहुष और उसको बिठायेंगे देव तथा सप्तर्षि !"

"किस आधार पर यह बात कह रही हो ?"

"तुम्हें क्या खबर ! जानती नहीं कि सप्तर्षि नहुष में तेज का सिंचन कर रहे हैं। देव उससे इतने प्रभावित हो गये हैं कि उन्होंने इन्द्र के आभूषणों से उसको भूषित करना आरम्भ कर दिया है, और गन्धर्व तथा अप्सराएँ उसके आसपास सतत गीत-नृत्य के आयोजन करती रहती हैं। इतना ही नहीं, भरत-वंशीय नाट्याचार्य पूर्व के अभिनय प्रसंगों को बदलकर नहुष के पराक्रमों का अभिनय करने लगे हैं।" मन्थरा ने कहा।

"मुझे आज तक इन बातों की खबर क्यों न हुई ?"

"तुमको खबर कैसे हो ? इन्द्र के पीछे पागल होकर तुमने अपनी आँखें और कान बन्द कर रखे हैं। तुम्हारे आसपास इतना बड़ा जाल बिछाया गया, परन्तु तुमको उसका पता ही न लगा।"

"तब आज यह बात कहने बैठी हो ? पहले क्यों नहीं कहा ?"

"आज अन्तिम दिवस है, तुम जितना चाहो अपने इन्द्र के बारे में पागल-पन कर लो ! कल से तो...."

"कल से क्या होगा ?"

"नये इन्द्र का इन्द्रासन पर अभिषेक !"

"कौन नया इन्द्र ? क्या नहुष इन्द्रासन पर बैठेगा ?"

"अवश्य और तुम्हारे इन्द्राणी-पद को कायम रखकर !"

"यह कभी हो नहीं सकता।"

"अपने जीवन-भर जिस इन्द्र के नाम की रट लगाती रही, उसको पाकर भी तुमने हाथ से जाने दिया। अब देखो क्या नयी नयी बातें होती हैं !"

"मन्थरा ! तुम जानती हो, सारा स्वर्ग जानता है, और सप्तर्षि भी जानते हैं कि इन्द्र को तपश्चर्या के लिए जाने न दिया होता, तो वृत्र को मारने का पश्चात्ताप उसको पागल करके छोड़ता। स्थायी सुख के उद्देश्य से मैंने उसको जाने दिया। तप से उसके मन को शान्ति मिलेगी; और अब तो तपश्चर्या की अवधि भी पूरी हो चुकी है।"

"परन्तु अभी तक उसका कोई पता-ठिकाना नहीं, कोई समाचार नहीं। तपस्वियों का क्या पूछना ? तप में यदि आनन्द मिल गया, तो उनको इन्द्रासन की अथवा इन्द्राणी की भी परवाह नहीं रहती।"

"मैं स्वयं जाकर उसको ले आऊँगी, मैंने उससे कहा भी था।"

"तुम उसको लिवा लाओ उसके पहले ही इन्द्र बनने के स्वप्न देख रहा नहुष कहीं तुम्हारा हाथ माँगने न आ जाये ? अरे ! वह देखो, बाहर नहुष ही आकर खड़ा है।" मन्थरा ने कहा।

शची की निष्क्रियता चली गयी। विरह की व्याकुलता को दबाकर उसने अपने मन को स्थिर किया। उसके नेत्रों में पुनः तेज चमकने लगा। मन्थरा को इस परिवर्तन से प्रसन्नता हुई। उसकी विरहिणी सखी ने अपनी शक्ति खो नहीं दी थी, इस बात का उसको विश्वास हो गया।

"मन्थरा ! आने दो नहुष को ! देखूँ वह क्या कहना चाहता है।"

कहती हुई शची उठकर खड़ी हो गयी। उसने जाकर स्वर्ग की महाराज्ञी के गौरव के उपयुक्त वस्त्राभूषण धारण किये; छत्र और चँवरधारिणी अप्सराओं को अपने आसपास खड़ा करके वह सिंहासन पर बैठी; और आशा, उत्साह तथा आनन्द से छलकते हुए हृदय को लेकर आनेवाले नहुष को उसने अपने सामने बुलाया। आज शची में नहुष को एक विशेष प्रकार की नवीनता,

एक विशिष्ट आकर्षण दीख पड़ा। ऐसा मालूम होता था कि उसका हृदय बाहर निकलकर कहीं शची के चरणों में न गिर पड़े।

"कहो नहुष, क्यों आना पड़ा मेरे पास? इन्द्रासन के प्रायः सभी अधिकार तो तुमको सौंप दिये हैं! तब मेरे एकान्त को भंग करने का कारण?"

"तुम जानती हो, शची, कि आज इन्द्र को गये हुए एक वर्ष बीत गया।" नहुष ने कारण बताया।

"यह दुःख तो मेरा अपना है। तुम्हें इससे प्रयोजन?"

"प्रयोजन यही कि देव-भूमि की व्यवस्था का भार मेरे कन्धों पर है।"

"वे विशाल हैं, भार उठाने में समर्थ हैं।"

"आभार मानता हूँ शची, तुम्हारी प्रशंसा के लिए। परन्तु देव-सभा ने निर्णय किया है कि इन्द्रासन एक वर्ष से अधिक समय तक रिक्त न रखा जाये।"

"इन्द्रासन को यदि वे रिक्त न रखना चाहते हों तो देवों की इच्छा होते ही मैं स्वयं जाकर उस पर बैठ जाऊँगी।"

"यह बात सच है। परन्तु इन्द्र कहाँ है? उसके बिना इन्द्रासन कैसा?"

"समझ गयी। इसका यह अर्थ हुआ कि देवों को इन्द्र चाहिए।"

"हाँ, और आज ही! कल की तिथि में इन्द्रासन खाली न रहना चाहिए।"

"और इन्द्र यदि आज न आया?"

"वह आज आ नहीं सकता। समाधि से यदि आज जाग्रत हुआ भी तो यहाँ पहुँच नहीं सकता।"

"इसका तो यही अर्थ हुआ कि देव दूसरा इन्द्र चाहते हैं।"

"हाँ, यही।"

"और यह स्वाभाविक है कि देव-सभा तुम्हीं को इन्द्र बनाये।"

"हाँ, बात तो ऐसी ही है! यह समाचार मैंने तुम्हारे पास भिजवाया था बहुत दिन पहले। इसलिए तुमको खबर तो हो गयी होगी।

"मुझे तो समाचार आज ही मिला। खैर! कोई हर्ज नहीं! बड़ी अच्छी बात है। यह देवों की पसन्दगी का प्रश्न है। तुमको वे पसन्द करें, तो आनन्द से इन्द्रासन पर जाकर बैठ जाओ।" शची ने अनिमेष नेत्रों से नहुष को

देखते हुए कहा।

"एक नियम तुम्हीं ने बनवाया था, याद है?"

"कौन-सा नियम?"

"इन्द्राणी के बिना इन्द्र इन्द्रासन पर बैठ नहीं सकता! इन्द्राणी के बिना कोई इन्द्र हो ही नहीं सकता!"

"तो जाकर ब्याह लाओ किसी इन्द्राणी को!"

"इन्द्र के लिए तो असुर-कन्या चाहिए और सो भी शची नामधारिणी!"

"तो जाओ खोजो! जो मिले उसको शची नाम दे देना!"

"यदि वह मेरे सामने ही हो, तो खोजने की आवश्यकता ही क्या?"

"किसकी बात कर रहे हो? मेरी?"

"हाँ, तुम्हारी ही!"

"उपहास तो नहीं करते? मैं तो विवाहिता हूँ।"

"ऐसे विवाहों में रखा ही क्या है? तुम्हीं ने एक बार मुझसे कहा था कि इन्द्र के साथ तुम्हारा विवाह वास्तव में विवाह नहीं, रीति-मात्र था। देखो शची, तुमको वास्तव में इन्द्राणी बनकर स्वर्ग का राज्य करना हो तो...."

"जब इन्द्र लौटकर आयेगा, तब मैं उसे क्या उत्तर दूँगी?"

"एक बार गया हुआ इन्द्र कभी लौटकर आयेगा नहीं!"

"तुमने इसकी व्यवस्था कर दी होगी।"

"तुम्हारी इच्छानुसार सब-कुछ हो गया है। अब इतना ही बाकी है कि तुम अपने मन को पुराने इन्द्र के मोह से मुक्त कर नये इन्द्र की ओर प्रवृत्त करो।"

"क्या तुम समझते हो कि यह संभव है?"

"नहुष के लिए कुछ भी असंभव नहीं।"

"वृत्र भी ऐसा ही मानता था।"

"वृत्र मर गया, पर मैं अभी जीवित हूँ।"

"और इन्द्र भी जीवित है।"

"कदाचित्! बर्फ के ढेर में ढक गया है, शायद ही निकले!"

"और तुम उसे निकलने भी न दोगे!"

"तुम्हारी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही करूँगा।" नहुष ने कहा।

शची जरा विचार-मग्न हो गयी। नहुष को लगा कि वह पहले से कुछ अधिक सरल हो गयी है। इन्द्र की अनुपस्थिति ने उसके स्त्रीत्व को सौम्य बना दिया था। नहुष को आभास हुआ कि उसकी कामना सिद्ध हो जायेगी।

"तुम जानते ही हो, नहुष, कि मैं जीवन-भर ऐसे पुरुष की कामना करती रही जो मेरे हृदय को अपने शौर्य से, पौरुष से, पराक्रम से जीत ले। इन्द्र ने वह कार्य किया, परन्तु तुरन्त भागकर वह वैरागी बन बैठा। मैं वैरागिन नहीं, रागिन हूँ; परन्तु मेरा अनुराग पुरुष-श्रेष्ठ के लिए है, हीन कोटि के पुरुष के लिए नहीं।" शची ने नहुष को समझाया।

"यह मैं भली-भाँति जानता हूँ!"

"तब ऐसा पराक्रम कर दिखाओ जो मेरे मन को अनुरक्त करे।

"तुम जो कहो वह कर दिखाऊँ।"

"इन्द्र के साथ युद्ध करके पराक्रम दिखाना तो असम्भव है, क्योंकि इन्द्र का तो पता ही नहीं है। परन्तु ठहरो, कोई दूसरी बात सोच लूँ। हाँ, सोच ली।"

"तब बताओ वह कसौटी जिस पर तुम मेरे पराक्रम को कसना चाहती हो। कल तक उसमें अवश्य उत्तीर्ण हो जाऊँगा।"

"है तो बड़ा ही सरल काम, पर तुमसे हो सके तब है।"

"स्वर्ग की राज्य-व्यवस्था जब से तुमने मेरे हाथ में सौंपी, मेरा प्रभाव बढ़ता गया और आज मैं सर्वसत्ताधीश बन गया हूँ। इसी लिए मैंने यह कहा कि नहुष के लिए कोई कार्य असम्भव नहीं।"

"तब सुनो, कल प्रातःकाल अपनी पालकी सप्तर्षियों से उठवाकर मेरे पास आओ। तुम स्वयं उसमें बैठकर आना। यहाँ आने पर मैं भी तुम्हारे साथ उसमें बैठ जाऊँगी, और हम दोनों सप्तर्षियों के कन्धों पर चढ़कर इन्द्रासन के सामने पहुँचेंगे। यदि इतना कर सको तो मुझे विश्वास हो जायेगा कि आर्य नहुष में इन्द्रासन पर बैठने की क्षमता है।" शची ने अपनी शर्त नहुष को कह सुनायी।

सुनकर नहुष एक क्षण के लिए स्तब्ध हो गया। जागृत हुआ तो सामने

शची को देखा, जो स्त्री-सौन्दर्य की पराकाष्ठा थी। शर्त का पालन कर सके, तो यह अलौकिक सौन्दर्य उसका हो जायेगा। उसके हृदय में नया उत्साह उत्पन्न हुआ। शची को प्राप्त करने के लिए वह सभी कुछ करने को तैयार था। स्वर्ग की सारी सत्ता उसके हाथ में थी। सात ब्राह्मणों द्वारा अपनी पालकी उठवाने का कार्य उसे कठिन न लगा। उसके हाथ में इतनी सत्ता थी कि यदि सप्तर्षियों में से कोई भी उसकी आज्ञा की अवहेलना करे, तो वह सारे सप्तर्षि-मंडल को बदलकर दूसरा सप्तर्षि-मंडल बना सकता था। साहसपूर्ण कार्य से शची मिलती हो, तो बलपूर्वक उसे प्राप्त करने का मार्ग छोड़ना नहुष को श्रेयस्कर लगा।

"अच्छा ! तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है। कल सवेरे ही तुम देखोगी कि सप्तर्षियों द्वारा उठायी हुई पालकी में नहुष आ रहा है। तुमको भी उसमें बिठाऊँगा और पालकी में हमारा मिलन...."

नहुष को बीच में रोककर शची ने कहा—"उस मिलन कल्पना को मुखर करने का यह समय नहीं है। कल प्रातःकाल तक के लिए मुझे भूल जाओ। इस समय तो जाकर सप्तर्षियों को पालकी उठाने के लिए तैयार करो।" और शची खड़ी हो गयी। नहुष को भी उठना पड़ा और मन न होते हुए भी वहाँ से जाना पड़ा। उसके और शची के मिलन के बीच केवल एक रात्रि का समय था। सिद्धि सामने खड़ी हो, तब एक रात्रि तो क्या एक क्षण भी युग के समान भारी हो जाता है !

नहुष के जाते ही शची खिलखिलाकर हँस पड़ी। मन्थरा विचार में पड़ गयी।

"हँसती क्या हो ! तुम्हें शरम आनी चाहिए! मुझे स्वप्न में भी यह खयाल न था कि तुम नहुष के साथ इन्द्रासन पर बैठोगी !" कड़े शब्दों में मन्थरा ने उसकी भर्त्सना की।

"किसने कहा कि मैं नहुष के साथ सिंहासन पर बैठूँगी ?" हँसते-हँसते शची ने पूछा।

"किसने कहा ? तुम्हीं ने तो अभी-अभी नहुष से कहा।"

"नहुष अब स्वर्ग में टिक नहीं सकता। उसके षड्यन्त्र का, उसकी कृतघ्नता का कल सवेरे ही अन्त हो जायेगा।" शची ने कहा।

"कैसे? उसका षड्यन्त्र तो सफल हो गया। देवों ने उसे इन्द्रासन देना स्वीकार कर लिया है।"

"नहुष गर्व में भूला बैठा है। उसको पता नहीं कि शची उसके षड्यन्त्र की एक-एक चाल को समझ गयी है और उसको छिन्न-भिन्न करने में लग गयी है। जैसे ही वह स्वर्ग से च्युत हुआ, मैं जाकर इन्द्र को बुला लाऊँगी, नहीं तो वह इन्द्र की उदारता का लाभ लेकर स्वर्ग छोड़ेगा नहीं। पहले नहुष का यहाँ से जाना आवश्यक है।" शची मन्थरा से कहती जाती थी, और साथ-साथ आत्म-सम्बोधन भी करती जाती थी। उसकी बातों से मन्थरा को इतना विश्वास हो गया कि शची नहुष की करतूतों से पूरी तरह अवगत है।

रात्रि में शची ने देवों के गुरु बृहस्पति को बुलाया और देर तक उनसे परामर्श किया। क्रम से देवों के अन्य नेता भी आकर शची से मिले। मध्य-रात्रि के बाद शची अपने शयनखण्ड में आयी। मन्थरा जाग रही थी। पलङ्ग पर सोकर शची ने कहा—"मन्थरा! मैं निश्चिन्त हो गयी। अब मैं गहरी नींद सोऊँगी।"

"क्यों? क्या हुआ?"

"कल से नहुष की कलुषित दृष्टि मेरे ऊपर नहीं पड़ेगी।" कहकर शची ने आँखें बन्द कर लीं और शीघ्र ही गहरी नींद में सो गयी।

मन्थरा को शची के कथन का रहस्य समझ में न आया। परन्तु इतना तो वह जान गयी थी कि शची परिस्थिति से अनभिज्ञ नहीं है, और नहुष की चालबाजियों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए वह पूरी योजना बना चुकी है। यदि ऐसा न होता तो जिसने आज तक इन्द्र के विरह में निद्रा का त्याग किया था, वह इतनी सरलता से सो न जाती। दूसरे दिन प्रातःकाल प्रसन्नता का अनुभव करती हुई शची जागृत हुई।

उसके जागते ही एक पार्षद ने समाचार दिया—"देवराज्ञी! नहुष पालकी में बैठने की तैयारी कर रहा है।"

"अच्छा !" कहकर शची अपने काम में लग गयी। उसके व्यवहार से ऐसा न लगा कि वह नहुष के आने की प्रतीक्षा कर रही है।

थोड़ी देर में दूसरे समाचार आये—"सप्तर्षियों ने कुछ हिचकिचाहट के साथ नहुष की पालकी को उठाया !"

"अच्छा हुआ ! पालकी कितनी दूर है ?" शची ने पूछा।

"दो-एक घड़ी में यहाँ पहुँच जायेगी। सप्तर्षी पहली ही बार पालकी उठा रहे हैं, इसलिए उनको कष्ट हो रहा है।"

कुछ देर ठहरकर तीसरी बार समाचार आये—"सप्तर्षियों के अतिरिक्त महर्षि अगस्त्य भी पालकी उठाने में जोते गये हैं !"

"अच्छा ? तब तो आठ मुनि हुए !" शची ने मुस्कराकर कहा।

"पर नहुष को शान्ति नहीं, जल्दी चलने के लिए वह महर्षियों को कटु-वचन कहता ही जाता है। उसका बस चले, तो वह उड़कर यहाँ पहुँच जाये।"

"मार्ग सुनसान है, अथवा देव-संकुल ?" शची ने पूछा।

"मार्ग देव-देवियों से भर गया है। सब के मुख पर आश्चर्य के भाव हैं।"

"केवल आश्चर्य के ही ?"

"मुझे तो बहुतों के मुख पर क्रोध भी दीख पड़ा ! देवियाँ देवों से कह रही हैं, उपालम्भ दे रही हैं कि उनकी आँखों के सामने पूज्य सप्तर्षियों की ऐसी दुर्दशा हो !" समाचार लानेवाले ने दर्शकों की मनोदशा का वर्णन किया।

इतने में एक दूसरा सन्देशवाहक दौड़ता हुआ शची के पास आया, और नमस्कार कर निवेदन करने लगा—"हो चुका ! नहुष के दिन पूरे हुए ! सारा स्वर्ग, सारी अमरापुरी नहुष को घेरकर खड़ी है !"

"क्या हुआ ?" शची ने पूछा।

"देवराज्ञी के पास पहुँचने के लिए नहुष इतना अधीर हो गया कि मार्ग में उसने सप्तर्षियों को जल्दी चलने के लिए कटुवचन ही नहीं कहे पद-प्रहार भी किया....।"

"अच्छा ? तब क्या हुआ ?"

"सप्तर्षि-मंडल क्रोध और ग्लानि से भर गया, परन्तु उनमें से कोई बोला

नहीं। जब नहुष ने अगस्त्य को पाँव से ठोकर मारकर 'सर्प! सर्प! जल्दी करो! त्वरा करो।' का आदेश दिया, तब महर्षि अपना क्रोध रोक न सके। उन्होंने तुरन्त पालकी का दण्ड अपने कन्धे पर से हटा दिया, और पालकी को हिलाते हुए सप्तर्षियों को विवश किया कि वे भी उसको नीचे गिरा दें, फिर तो...."

सन्देशवाहक ने पूरे प्रसंग का वर्णन किया। नहुष की पालकी को उठाने-वाले ऋषियों को देखने के लिए देव-देवियों की जो भीड़ इकट्ठा हो गयी थी, उसको सम्बोधित करते हुए मुनि अगस्त्य ने कहा—"आप सब स्वर्ग के देव हैं अथवा मानव के पाँव के नीचे कुचले जानेवाले कीट? आपके सप्तर्षियों को पशुओं की भाँति वाहन में जोत दिया गया है, ऊपर से हमको 'सर्प!' 'सर्प!' कहकर सम्बोधित किया जाता है! ऐसे व्यक्ति को आप इन्द्रासन पर बैठाने जा रहे हैं? देवों को यदि सप्तर्षियों की आवश्यकता हो, तो वे नहुष को इसी घड़ी देश के बाहर कर दें, उसको असुरों या आर्यों के प्रदेश में न भेजकर दूर सर्पों के प्रदेश में पहुँचा दें नहीं तो...."

अगस्त्य का सम्बोधन पूरा हो, इसके पहले ही देव-समूह में क्रोध व्याप्त हो गया। वे पालकी की ओर दौड़े और नहुष को बाहर खींच निकाला, और उसको धक्का मारते हुए अमरापुरी के द्वार के बाहर फेंक आये। सेनापति सूर्यदेव ने मरुतों की एक टुकड़ी को आज्ञा दी कि सप्तर्षियों की इच्छानुसार नहुष को बन्दी बनाकर सर्प प्रदेश में पहुँचा दिया जाये!

"नहुष का पक्ष किसी ने नहीं लिया?" शची ने पूछा।

"नहीं राज्ञी! उसके साथवाले आर्य भी चुप रहे!" सन्देशवाहक ने कहा।

सप्तर्षि, अगस्त्य तथा बृहस्पति प्रमुख देवों को साथ में लेकर इन्द्राणी के पास नहुष के निष्कासन के समाचार देने के लिए आ पहुँचे। शची ने खड़े होकर सब की वन्दना की और योग्य आसन पर बिठाया।

"नहुष को यहाँ से निकाल दिया गया?"

"हाँ देवि! दूसरा कोई मार्ग न था।" एक ऋषि ने कहा।

"इतना ही नहीं, इन्द्रसन के लिए पुनः कोई षड्यन्त्र न रचे, इस उद्देश्य

से उसे दूर सर्प-प्रदेश में पहुँचा देने का आदेश दिया गया है।" अगस्त्य ने कहा।

"अच्छा हुआ कि किसी ने उसका वध नहीं किया! नहीं तो देवेश्वर अप्रसन्न होते।" शची ने कहा।

"नहुष की प्राण-रक्षा करने पर भी, देखें, देवेश्वर प्रसन्न होते हैं या नहीं!" हँसकर बृहस्पति बोले।

"क्यों?" अगस्त्य ने पूछा।

"इन्द्रदेव किसी की मृत्यु नहीं चाहते। वह अमृत की शोध में लगे हुए हैं। जिस प्रकार मृत्यु के समय वृत्र को सत्य के दर्शन हुए, उस प्रकार नहुष को भी मृत्यु के द्वारा सत्य का साक्षात्कार हो, यह देवेश्वर नहीं चाहते थे। मृत्यु के समय का सत्य-दर्शन मरनेवाले के काम नहीं आता, इसी लिए इस करुणाजनक स्थिति से देवेश्वर का हृदय खिन्न हो जाता है। यही कारण है कि उन्होंने नहुष के वध की आज्ञा नहीं दी।" बृहस्पति ने समझाया।

"अच्छा! क्या इन्द्रदेव जानते थे कि नहुष स्वर्ग के सिंहासन पर स्थायी-रूप से बैठने का प्रयत्न करेगा?" अगस्त्य ने पूछा।

"हाँ! देवताओं के नेता और सप्तर्षि भी इस बात को जानते थे। नहुष ने अभी पूर्ण देवत्व प्राप्त नहीं किया था। ऐसे व्यक्ति के हाथ में स्वर्ग की व्यवस्था न दी जाये, ऐसी विनती भी देवों की गुप्त सभा ने उनसे की थी।" सूर्य ने कहा।

"तब स्वर्ग की व्यवस्था नहुष के हाथ में क्यों दी गयी?"

"जो हुआ, वह अच्छा ही हुआ। इससे नहुष के साथ-साथ देवों की भी परीक्षा हो गयी।" एक ऋषि ने उत्तर दिया। इन्द्र के अमरापुरी से जाते ही नहुष ने इन्द्रासन लेने के लिए षड्यन्त्र शुरू कर दिया था। इस षड्यन्त्र का पता देवों को लग गया था, और उन्होंने इसकी सूचना देव-सभा को भी दे दी थी। देव-सभा के सभासद नहुष के कार्यों की सूचना शची को जाकर दे आते थे। इस प्रकार स्वर्ग के सभी प्रमुख व्यक्ति नहुष की चालबाजियों को जान गये थे।

"देवों की परीक्षा का प्रश्न न था। हम लोगों को तो देवेश्वर के दिये हुए वचन का पालन करना था।" शची ने कहा।

अगस्त्य को कुछ मालूम न था। उन्होंने पूछा—"कैसा वचन?"

"मित्र के नाते एक बार नहुष ने एक वर्ष के लिए इन्द्र से स्वर्ग का शासन माँगा था, और नहुष माँगे तब स्वर्ग की शासन-व्यवस्था उसको सौंपने का इन्द्र ने वचन दिया था। नहुष ने कहा था कि वह स्वर्ग को सुव्यवस्था देखकर उसी प्रकार की व्यवस्था आर्य-प्रदेश में स्थापित करेगा। परन्तु काम सीखने के बदले उसने इन्द्रासन पर कुदृष्टि डाली। अच्छा ही हुआ कि उसकी यह कुदृष्टि पकड़ी गयी।" शची ने कहा।

शची ने सप्तर्षियों और देवों को, विशेषकर के अगस्त्य को धन्यवाद दिया, और असुरों के भय के साथ-साथ मानवों का भय भी टल गया, इस बात के लिए आनन्द व्यक्त किया। उसने देवताओं, सप्तर्षि-मंडल और अगस्त्य से यह प्रार्थना की कि वे स्वर्ग का सुख विश्व-भर में फैलायें और सारे विश्व को स्वर्गोपम बना दें।

शची को नमस्कार कर, उसकी वन्दना स्वीकार कर देव-मंडल लौट गया। आश्चर्य-चकित होकर यह सब कार्य मन्थरा देख रही थी। एकान्त मिलते ही उसने शची से कहा—"नाहक वियोग में तड़प रही हो। अब तो जाकर इन्द्र को पकड़ लाओ।"

"यही विचार कर रही हूँ मन्थरा! नहुष के साथ-साथ मेरी भी परीक्षा हो गयी।" शची ने कहा।

"तुम्हारी परीक्षा?"

"हाँ, मेरी परीक्षा। इन्द्र को इस बात की पूरी जानकारी थी कि नहुष मुझ पर डोरे डाल रहा है।"

"यह जानते हुए भी इन्द्र तुमको नहुष के भरोसे छोड़कर चला गया?" मन्थरा की जीभ पर असुरत्व की सहज तेजी आयी।

शची खिलखिलाकर हँस पड़ी और मन्थरा न समझ सके ऐसे शब्दों में उसे समझाने लगी—"देखो मन्थरा! आकर्षण-विकर्षण और प्रेम तथा दुःख

सभी एक प्रकार के युद्ध ही हैं। बहुत से युद्ध ऐसे होते हैं, जिनमें शस्त्र की आवश्यकता नहीं होती। इन्द्र और नहुष के बीच ऐसा ही बिना शस्त्र का गुप्त युद्ध चल रहा था। इस युद्ध में भी विजय इन्द्र की ही रही।"

"तुम्हारे कहने का तात्पर्य मेरी समझ में नहीं आया। तुम पहेली बुझा रही हो। समझाकर कहो। और यह बताओ कि इस सब में तुम्हारी परीक्षा कैसे हुई?" मन्थरा ने पूछा।

"अब नहुष के भी पराजित होने पर सर्वजेता इन्द्र को मैं जीत लाऊँगी। स्त्री की विजय ही उसका वास्तविक विवाह है। इन्द्र की समता करनेवाली अकेली मैं ही हूँ। अब विवाह मेरे विजय का प्रतीक बन रहा है।" कहकर शची ने दर्पण में अपना मुख देखा, और अद्भुत प्रसन्नता का अनुभव किया। इस मुख को देखनेवाला, देखकर मुग्ध होनेवाला अब एक ही पुरुष था और वह इन्द्र था और यही शची चाहती थी।

[२९]

"ॐ असतो मा सद्गमय।
ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय।
ॐ मृत्यो मामृतं गमय।"

एक हिमशृंग पर से आनेवाले इन उद्गारों को शची ने सुना, और उसको विश्वास हो गया कि इन्द्र कहीं आस-पास बैठा हुआ तपश्चर्या कर रहा है।

चारों ओर हिम के ढेर! सारी पर्वतमाला हो मानो हिम की बनी हो!

मंत्रोच्चार सुनकर शची काँप उठी। कहीं शची को ठण्ड तो नहीं लग रही थी? अथवा बहुत समय के बाद इन्द्र के स्वर को सुनकर रोमांच तो न हुआ हो। कारण जो भी हो, परन्तु शची रोमांचित अवश्य हुई।

शची उस चोटी की ओर चली। दिन का समय था, परन्तु वहाँ रात्रि जैसी शून्यता थी। हिम के अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं दीख पड़ता था।

बर्फ पर पैर फिसलते थे, अतः शची बहुत सँभलकर ऊपर चढ़ने लगी। कहीं-कहीं बर्फ जमकर इतना कड़ा हो गया था कि दर्पण के समान चमक रहा था। शची कभी-कभी इस हिम-दर्पण में अपना मुख देखकर प्रसन्न होती और उड़नेवाले अपने केश-कलाप को व्यवस्थित भी कर लेती थी। बीच-बीच में बर्फ के गाले उसके शरीर पर आकर गिरते, जिन्हें वह हाथ से झाड़ती जाती थी।

चोटी के ऊपर बर्फ की एक गुफा बन गयी थी। देवराज इन्द्र उसमें बल्कल का कटिवस्त्र पहनकर, व्याघ्रचर्म देह पर ओढ़े पद्मासन लगाये आँखें बन्द किये ध्यानावस्थित बैठे थे। कुछ देर तक शची इस तपस्वी को देखती रही। उसको ऐसा आभास हुआ मानों समस्त सृष्टि के सौन्दर्य का सार इस ध्यानावस्थित मूर्ति में समा गया हो! उसने ध्यान से इन्द्र को देखा, आँखें भर के देखा। इन्द्र यदि ध्यान-मग्न न होता तो वह इतनी देर तक कदापि उसकी ओर देख न पाती। इन्द्र के शारीरिक सौन्दर्य के बारे में जो कल्पना शची ने की थी, उससे कहीं सुन्दर वह आज लग रहा था। ज्यों-ज्यों वह इन्द्र को देखती गयी उसके हृदय का स्पन्दन बढ़ता गया।

'मुझे यह क्या हो रहा है? इतनी ही चढ़ाई में हृदय काँपने लगा?' इस प्रकार विचार करती हुई शची इन्द्र के निकट पहुँची। अब वह बहुत पास आ गयी थी और आकर उसके पास बैठ गयी। इन्द्र की आँखें अभी तक बन्द ही थीं, देह हिलती न थी, नियमित दीर्घ श्वास-प्रश्वास के अतिरिक्त शरीर में और कोई गति न दीख पड़ती थी।

शची ने अपने केश-कलाप में बँधी हुई पुष्प-माला को निकाला, और उसमें से कुछ पुष्पों को लेकर उनकी पँखुड़ियों को इन्द्र के माथे पर चढ़ाया

इन्द्र का मस्तक थोड़ा हिला और पुष्प की पँखुड़ियाँ बिखरकर नीचे गिर पड़ीं। शची मुस्करा उठी। ब्रह्म के साथ एकाकार हो रहे प्राण को धारण करनेवाली देह क्या इस प्रकार बाहर से चढ़ाये हुए पुष्पों से हिल सकती है, शची के मन में प्रश्न उठा। वह पुनः इन्द्र को ध्यान से देखने लगी। उसका ऐसा आभास हुआ मानो थोड़ी ही देर में इन्द्र जाग जायेगा।

उसका धैर्य छूटने लगा। एक वर्ष के बाद इन्द्र को देखनेवाली इन्द्राणी

उसको कब तक ध्यानस्थ रहने देती ? एक क्षण, दो क्षण, पाँच क्षण, आधी घड़ी —इससे अधिक नहीं। और इन्द्र को भी चाहिए कि यदि पूरे वर्ष में उसे ब्रह्म के दर्शन न हुए तो उस दर्शन का प्रयास कुछ समय के लिए रोक दे। और यदि ब्रह्म को एक बार देख लिया तो उसके दर्शन बड़ी-घड़ी क्यों करे? जब पुनः इच्छा हो, तब उसको बुला ले! अब अधिक समय तक इन्द्र का ध्यानमग्न रहना शची के लिए असहनीय हो उठा। कितने कष्ट सहन करके स्वर्ग की सरहद पर स्थित इन्द्र की तपोभूमि में वह आयी थी। उसका आगमन इन्द्र को निद्रित रखने के लिए नहीं, जाग्रत करने के लिए था। शची अधीर हो गयी।

उसने अपने हाथ में एक फूल लेकर इन्द्र के गौर कपोल का स्पर्श किया, स्पर्श ही नहीं किया, धीरे-धीरे गुदगुदाया भी।

इन्द्र के शरीर में थोड़ा कम्प अवश्य हुआ, परन्तु उसके नेत्र खुले नहीं। शची ने पुष्प को मुख के अन्य भागों पर भी घुमाया, और देखा कि इन्द्र की खुली हुई भुजाओं पर रोमांच हो रहा है।

इतना होने पर भी इन्द्र के नेत्रों की पलकें नहीं हिलीं। तब आवेश में आकर शची ने अपने नख इन्द्र के गोरे बाहु में चुभोकर जोर से चुटकी काटी। सीत्कार करते हुए इन्द्र ने अपनी आँखें खोल दीं।

आँखें खुलते ही इन्द्र ने शची को अपने पास बैठे देखा।

"शची ?" इन्द्र ने आश्चर्य से पूछा।

"शची को पहचानते हो ?" भौंहें चढ़ाकर शची ने प्रश्न किया।

"शची को नहीं पहचानूँगा तो ब्रह्म को कैसे पहचान सकूँगा।"

"अब थोड़ी देर के लिए ब्रह्म को भूल जाओ।"

"ब्रह्म को क्षण-भर के लिए भी भूल नहीं सकता और अब तो कदापि नहीं।"

"ब्रह्म से इतना प्रेम ? लग्न तो मेरे साथ हुआ है।"

"हाँ, लग्न तुम्हारे ही साथ हुआ है और इधर कुछ समय से ध्यान में तुम्हीं आया करती हो। मैं जब ब्रह्म का चिन्तन करता हूँ, तब ब्रह्म तुम्हारा स्वरूप धारण करके मेरे सामने आ जाता है। ध्यान में तुम्हारे ही दर्शन होते हैं और जब आँखें खुलीं तब भी तुम्हीं को देखा। कदाचित् तुम्हीं मेरी तपश्चर्या का

फल हो। मुझे लगता है कि तुमको पहचाने बिना ब्रह्म की पूरी पहचान नहीं होगी।" शची के सामने निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए इन्द्र ने कहा।

इन्द्र की ओर देखनेवाली शची ने अपनी आँखें इन्द्र की ओर से हटाकर कहा—"झूठे कहीं के! मुझे देखकर बातें बनाने लगे!"

"शची! मैं झूठ नहीं बोलता। मेरा कथन सत्य है। मेरी नित्य की प्रार्थना यही है कि मैं असत् से सत् में जाऊँ! और वह सत्य, महासत्य तुम ही हो।" शची की ओर से दृष्टि हटाये बिना इन्द्र ने कहा।

"तब मेरे पास आये क्यों नहीं? एक वर्ष तो कभी का पूरा हो गया।"

"परन्तु तुमने तो कहा था कि तुम स्वयं आकर मुझे खींच जाओगी, उठा ले जाओगी।"

"यह धमकी तो उस परिस्थिति के लिए थी जब तुम स्वयं न आते।"

"कौन-सा पति है जो ऐसी मधुर धमकी को कार्यान्वित न होने देगा? जो न होने दे वह महामूर्ख ही होगा।"

"पति बनकर भी तुम महामूर्ख ही रहे, देवराज!" इन्द्र की बात को काटकर शची बोल उठी।

"तुम्हारा सम्मान-भरा सम्बोधन तो मैंने सुना, परन्तु शची, यह महामूर्ख की उपाधि कैसी?"

"विवाह करके सीधे जप-तप में लगनेवाले पति को और कौन-सी उपाधि दी जाये?"

"तुम जानती ही हो शची, कि वृत्र का वध करने के कारण मुझे ब्रह्म-हत्या लगी थी। असुर-संस्कृति के उस श्रेष्ठ नरपुंगव को मारकर मैंने अपने सिर पर महापाप लिया था, हिंसा-मात्र।"

"अच्छा, तो अब ब्रह्म-हत्या से मुक्ति मिली या नहीं?"

"मैंने तप करके हत्या का प्रायश्चित तो कर लिया, परन्तु विचारता हूँ कि इस हरे-भरे जीवन में से हत्या पूर्ण रूप से कब जायेगी? जब सर्वत्र हत्याकाण्ड बन्द हो, तब ही अमृत-मन्थन शुरू किया जा सकता है।" आकाश की गहनता को देखते हुए इन्द्र ने कहा।

शची कुछ देर तक इन्द्र की ओर देखती रही। उसके मुख पर थोड़ी हँसी और थोड़ा आश्चर्य दीख पड़े। इन्द्र ने ऊपर से दृष्टि हटाकर शची की ओर देखा। फिर भी शची की मुस्कराहट का कारण उसकी समझ में न आया।

"तुम तो ब्रह्म-हत्या से छूट गये, परन्तु मैंने एक हत्या अपने सिर ले ली है।"

इन्द्र को शची के इस कथन से क्षण-भर आश्चर्य हुआ। शची की प्रगल्भता उसकी समझ में न आयी। ब्रह्म की लीला, प्रभु की माया, और सुन्दरी की प्रगल्भता इन तीनों को समझना सरल नहीं। गम्भीर होकर इन्द्र ने कहा—"हत्या! और तुमने की? मैं मान नहीं सकता।"

"क्यों?"

"स्त्री कभी हत्या कर ही नहीं सकती। प्रभु ने उसके हाथों को ऐसा बनाया है कि उनके द्वारा हिंसा कभी हो ही नहीं सकती!" इन्द्र ने उत्तर दिया।

"तुम भूल गये कि एक समय मैं ही तुम्हारी हत्या के लिए उद्यत हुई थी। एक पुरुष जिस प्रकार शस्त्र-द्वारा हिंसा का सृजन करता है, उसी प्रकार मैं भी कर सकती हूँ।"

"यह मैं जानता हूँ, परन्तु फर्क इतना ही है कि जो कार्य पुरुष के लिए असम्भव था, तुमने कर दिखाया!" इतना कहते-कहते इन्द्र की आँखें चंचल हो उठीं।

"ऐसा कौन-सा कार्य मैंने कर दिखाया?" नेत्र तिरछे करके शची ने पूछा।

"तुमने मेरी हत्या नहीं की, अपितु मुझे अपना बना लिया, शची! पर यह भू-भंग क्यों?"

"मन चाहता है कि तुमको एक तमाचा लगा दूँ, अथवा जोर से चिकोटी काट लूँ।"

"तुमने जहाँ चुटकी काटी, वहाँ अभी तक जल रहा है। और वहाँ का नीला दाग तीन-चार दिनों तक बना रहेगा और चिकोटी की मीठी कसक की याद दिलाता रहेगा।" इन्द्र ने सस्मित कहा।

"तुम देवराज हो न? देवों के राजा! राजा के शरीर पर एक भी आभूषण न हो, यह उचित नहीं। इसी लिए मैंने तुमको एक नीलम पहना दिया।

गोरे हाथ पर यह नीला दाग कितना सुन्दर मालूम पड़ रहा है !" शची इन्द्र के गोरे हाथ और उस पर पड़े हुए नीले दाग को देखती हुई बोली।

"यह आभूषण देवों के राजा के लिए पर्याप्त है जीवन-भर के लिए।" इन्द्र ने कहा।

"जब-जब इसको याद करोगे, मेरी हिंसक शक्ति का स्मरण भी तुमको होगा। इन्द्र, क्षत्रिय-हत्या का निवारण किस प्रकार किया जाता है ?" शची ने पूछा।

"ऐसा प्रश्न क्यों करती हो ?" इन्द्र ने पूछा।

"आज तुमको विश्वास न हो पर कल तुमको मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार तुमने ब्रह्म-हत्या की उसी प्रकार मैंने भी एक क्षत्रिय की हत्या की है। इसी लिए पूछ रही हूँ।"

"नहुष को तो तुमने नहीं मार डाला ?" यकायक चौंककर इन्द्र ने पूछा।

यद्यपि नहुष शची पर मोहित था और यह बात इन्द्र जानता था, फिर भी उसने अपनी अनुपस्थिति में स्वर्ग की व्यवस्था उसी को सौंपी थी। उसने सोचा था कि एक-दूसरे के सम्पर्क में आने से नहुष की भावना विशुद्ध होगी। इन्द्र आशा करता था कि शची उसका पागलपन—प्रणय का पागलपन—दूर करेगी, सप्तर्षियों का समागम उसको संयमी बनायेगा, और स्वर्ग का सौन्दर्य उसको देवत्व के निकट ले आयेगा। परन्तु इस समय जीवन की दूसरी दिशा भी याद आ गयी। यदि शची के प्रति नहुष का मोह घटने के बदले बढ़ गया हो, और उसने उन्मत्त होकर शची को संतप्त किया हो, तो शची उसका वध कर दे इसकी पूरी सम्भावना थी। इसी विचार ने इन्द्र को उक्त प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित किया था।

"वह मारने के ही लायक था।" शची ने कहा—"उसको कभी का मैंने, देवों ने अथवा सप्तर्षियों ने मौत के घाट उतार दिया होता। तुम्हारी तपश्चर्या आरम्भ होने के पहले ही उसने इन्द्रासन को लेने का षड्यन्त्र शुरू कर दिया था। वह समझता था कि उसका प्रयास सफल हो रहा है, परन्तु उसके प्रत्येक कार्य की मुझको और देव-सभा को सूचना मिल जाती थी। तुम्हारा मित्र बन-

कर वह स्वर्ग में आया था, इसलिए सब लोगों ने उसके कुकृत्यों को सहन किया; परन्तु अन्त में जब उसने अपने को इन्द्र घोषित कर मुझे इन्द्राणी बनाने का प्रस्ताव किया...." तब कहते-कहते शची जरा रुक गयी।

"तुमने उसका वध कर दिया ?"

"नहीं, मैंने तो उससे कहा कि सप्तर्षियों द्वारा अपनी पालकी उठवाकर मेरे पास आओ, और मुझे लिवा ले जाओ। उस मूर्ख ने उन्माद में आकर सप्तर्षियों को ठोकरें मारीं। यह देख सारी अमरापुरी उत्तेजित हो गयी और अन्त में देवों ने विद्रोह करके उसको स्वर्ग से निकाल दिया। मैं बीच में न पड़ी होती तो नहुष का वध अवश्य होता।"

"सप्तर्षियों द्वारा पालकी उठवाने की मूर्खता गर्दन मारने के लायक ही है।"

"और तुम्हारी इन्द्राणी के ऊपर कुदृष्टि डालने की सजा ?"

"जो तुमने दी वही। मुझे तो आश्चर्य होता है कि वह बच कैसे गया !"

"तुम्हारे ही कारण। मैं जानती थी कि हत्या तुमको पसन्द नहीं। तुमको जो पसन्द न हो, वैसी सजा कैसे दी जा सकती थी ?"

"तब क्या हुआ ? उसको कहाँ भेजा ? आर्य-प्रदेश में ?"

"नहीं, सर्प-प्रदेश में, सर्पों के साथ वह रहेगा।"

"देवों के साथ रहकर भी वह ऊँचा न उठा। कहीं ऐसा न हो कि सर्पों के साथ रहने से उसके आर्यत्व का ही लोप हो जाये। खैर, जीता बचा है तो कभी उच्चतर भूमिका में जा भी सकता है। इसी को तुम क्षत्रिय-हत्या कहती थी ?"

"हाँ, मन तो बहुत हुआ कि उसका वध कर डालूँ, लेकिन जब तुम्हारा विचार आता तो उठे हुए हाथ रुक जाते थे। फिर भी एक प्रकार से मानसिक हत्या तो हुई ही। अच्छा ! अब तुम अमरापुरी चलकर अपना राज्य-कार्य सँभालो।"

"और तुम ?"

"मैं यहीं पर बैठकर तुम्हारी भाँति क्षत्रिय-हत्या के निवारणार्थ तप करूँगी।"

"तुम किस उद्देश्य से यहाँ आयी थी शची ? अपने पति को साथ ले जाने

के लिए अथवा तप करने के लिए ?"

"मैं इस उद्देश्य से यहाँ आयी थी कि अपने पति को एक महत्व का समाचार दूँ।"

"कौन-सा समाचार ?"

"यही कि उसने मेरे एक मित्र का वध किया, परन्तु मैंने उसके मित्र को नहीं मारा।"

"साफ-साफ कहो न कि मेरे और तुम्हारे बीच में आनेवाला अब एक भी पुरुष नहीं रहा।"

"और यदि कोई आयेगा, तो वह जीवित नहीं रहेगा।" यह कहकर शची गौरव से खड़ी होकर दूर-दूर तक फैली हुई हिमाच्छादित पर्वतमाला को देखने लगी।

इन्द्र भी अपना आसन छोड़कर खड़ा हो गया। वह शची के बहुत निकट आ गया। शची को आभास हुआ कि इन्द्र अब शीघ्र ही उसका स्पर्श करेगा। इस विचार ने उसके शरीर को कम्पायमान कर दिया। परन्तु इन्द्र ने उसका स्पर्श नहीं किया। केवल यह पूछा—"शची ! काँप क्यों रही हो ?"

"मुझको असह्य शीत लग रही है। देखते नहीं, हमारे चारों ओर बर्फ ही बर्फ है ?" शची ने उत्तर दिया।

"यह लो मेरा व्याघ्रचर्म। ओढ़ लो।" कहकर इन्द्र अपने शरीर पर से व्याघ्रचर्म उतारने लगा।

"ऊँ-हुँ ! मुझे नहीं चाहिए।" शची ने व्याघ्रचर्म लेना स्वीकार न किया।

"क्यों नहीं चाहिए ? इतना काँप जो रही हो।"

"तब तुम क्या करोगे ? तुमको ठण्ड नहीं लगेगी ?"

"मैं ठण्ड सहन कर सकता हूँ।"

"इतना बड़ा व्याघ्रचर्म है और तुम्हारी समझ में यह नहीं आता कि हम दोनों एक साथ उसे ओढ़ सकते हैं !" शची ने सीधे-सादे पति को संकेत किया।

इतना सुनते ही इन्द्र ने शची को अपने भुजपाश में लेकर हृदय से लगा

सायुज्य मुक्ति का अर्थ भी उसी समय मालूम होगा।"

"परन्तु तुम तो तपस्वी हो। मुझसे पहले ब्रह्मपद प्राप्त कर लोगे तो मैं कैसे समझूँगी?"

"तुम और हम अब साथ-ही-साथ चलेंगे। तुम्हारे बिना मुझे मुक्ति भी नहीं चाहिए। ब्रह्मपद भी तभी स्वीकार करूँगा जब तुम मेरे साथ रहोगी।" इन्द्र ने कहा।

"इसका यह तात्पर्य हुआ कि जिस प्रकार मैं और तुम एक हो गये हैं उसी प्रकार तुम, हम और ब्रह्म जब ऐक्य धारण करें, उसी का नाम सायुज्य मुक्ति है?" शची ने पूछा।

इन्द्र चलते-चलते रुक गया, और शची का हाथ पकड़कर उसे भी रोक लिया। इस प्रकार खड़े रहकर उसने ध्यान से शची के मुख को देखा।

"क्या देख रहे हो देवराज।" शची ने सस्मित पूछा।

"कुछ नहीं। तुम्हारी वाणी वेद की ऋचा का उच्चारण कर रही है। उस वेदवाणी को उच्चारनेवाले पवित्र मुख को मैं देख रहा हूँ।" इन्द्र ने कहा।

दूर घाटी में से घंटियों के बजने की आवाज सुनायी दी। हाथ छुड़ाकर शची ने कहा—"अब पागलपन छोड़ो! देखो सामने से रथ आ रहा है। मैं तुमको अमरापुरी ले जाने के लिए उसको अपने साथ ले आयी थी।"

इन्द्र ने शची के मुख से अपने नेत्र हटाकर सामने देखा तो नीचे, बहुत दूर पर रथ, घोड़े और पैदल, देव और उनके अनुचरों के छोटे-छोटे स्वरूप दीख पड़े।

"अभी वे दूर हैं, तुम थक जाओगी और तुमको ठण्ड भी लगेगी। चलो, मैं तुमको उठाकर नीचे ले चलूँ!" हँसते-हँसते इन्द्र ने शची को उठाने का प्रयत्न किया।

"नहीं, नहीं! न-न! मुझे अच्छा नहीं लगता।" शची के शब्द-मात्र सुनायी दिये।

सूर्य पुनः बादलों के पीछे छिप गया था। हिम-शिलाओं पर अब उस प्रेमी-युगल का प्रतिबिम्ब दिखायी नहीं दे रहा था। किसी को भी खबर न हुई कि

इन्द्र कितनी दूर तक शची को उठाकर चलता रहा।

सूर्य बादलों में आँख-मिचौली खेलता रहा। नीचे घाटी में खड़े हुए देव और उनके अनुचरों को शची की विजय टंकार—वेद टंकार सुनायी दी—

"उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्य साक्षि विषासहिः।
अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी
ममेदनुक्रतुं पतिः पत्यो में श्लोक उत्तमः।"

"सामने सूर्य उदित हुआ है, और मेरा सुख से भरा भाग्य भी ऊपर चढ़ रहा है!

"मैं अब जान गयी हूँ कि मैंने अपने पति को जीत लिया है, अपना बना लिया है, वह अन्य किसी का नहीं है!

"मैं यशध्वज हूँ, मैं मस्तिष्क हूँ, मैं सर्वोपरि हूँ, शिखर हूँ! मैं उग्र-समर्थ विवाचनी अपने पति को कहकर मार्ग बताती हूँ।

"मेरा पति मेरे वश में है। मेरे पति के आसपास मेरा विजय-गीत गाया जा रहा है!"

जब-जब शची इन्द्र को देखती, उसके हृदय में यह विजय-गीत प्रतिध्वनित होता।

इन्द्र स्वयं शची की महानता को बढ़ाता था, मानो वही उसके विजय-ध्वज को धारण किये हो।

शची का यह गीत सप्तर्षियों को बहुत प्रिय लगा, इस गीत में उनको देव-भाव का, आर्य-भावना का सम्पूर्ण विकास दीख पड़ा। इसलिए असुर-कन्या द्वारा उद्गीत देव-विजय के इस सूक्त को सप्तर्षियों ने सम्मान के साथ वेद में स्थान देकर उसे वेदवाणी ही बना दिया।